तत्वार्थसूत्र

की सरल सुबोध **हिंदी टीका** विशेष अर्थ एवं जिज्ञासा समाधान सहित

सर्वसिद्धितंत्र

SARVASIDHI TANTRA

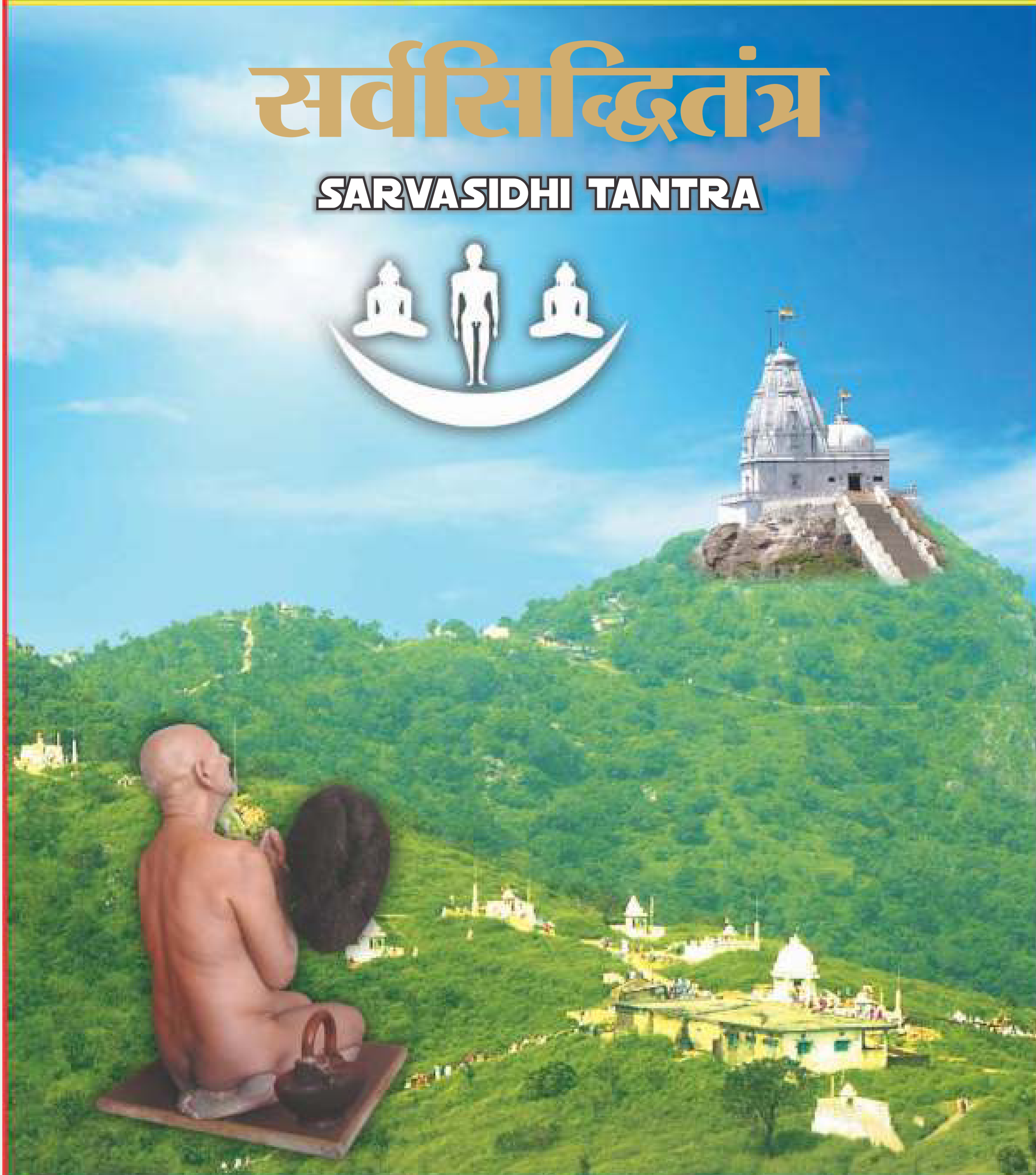

दिगम्बर श्रमण मनोज्ञ सागर मुनि

मुमुक्षु की अंतरंग दृष्टि

"मुमुक्षु को इन्द्रियजन्य पराधीन सुख की आकांक्षा किंचित भी नहीं होती मात्र अतीन्द्रिय स्वाधीन शाश्वत सुख की प्रशस्त भावना होती है।"

-श्रमण मनोज्ञ सागर

"हमको भगवान बनना ही हैं, तब व्यर्थ के संसारिक प्रपञ्चों/कार्यों से क्या प्रयोजन।"

-श्रमण मनोज्ञ सागर

"संसार का वास हर दृष्टि से दुःख व आकुलता का ही कारण है।"

-श्रमण मनोज्ञ सागर

"हे मूढ़ प्राणी! स्व कर्मोदय से ही इस दुःखमा पंचम काल में आए हो, तब सुख ढूंढने का प्रयास करना मृगतृष्णा जैसा व्यर्थ है। भविष्य उज्जवल करना चाहते हो तो शीघ्र मोक्ष-पुरूषार्थ में लग जाओ।"

-श्रमण मनोज्ञ सागर

"दुःख, स्व कर्मोदय जानकर समता परिणामों से सहन कर लो, तो आगामी घोर-घोर दुःखों से बच जाओगे, संक्लेशता करोगे तो दुःख X दुःख गुणित होकर पुनः पुनः भोगना पडेंगे।"

-श्रमण मनोज्ञ सागर

"जो मनुष्य अपने मनुष्यपने एवं जिनधर्म की प्राप्ति की दुर्लभता की ओर दृष्टि रखता है। वह संसार से पार होने का उपाय स्वयं व शीघ्र खोज लेता है, उसमें विलम्ब नहीं करता।"

-श्रमण मनोज्ञ सागर

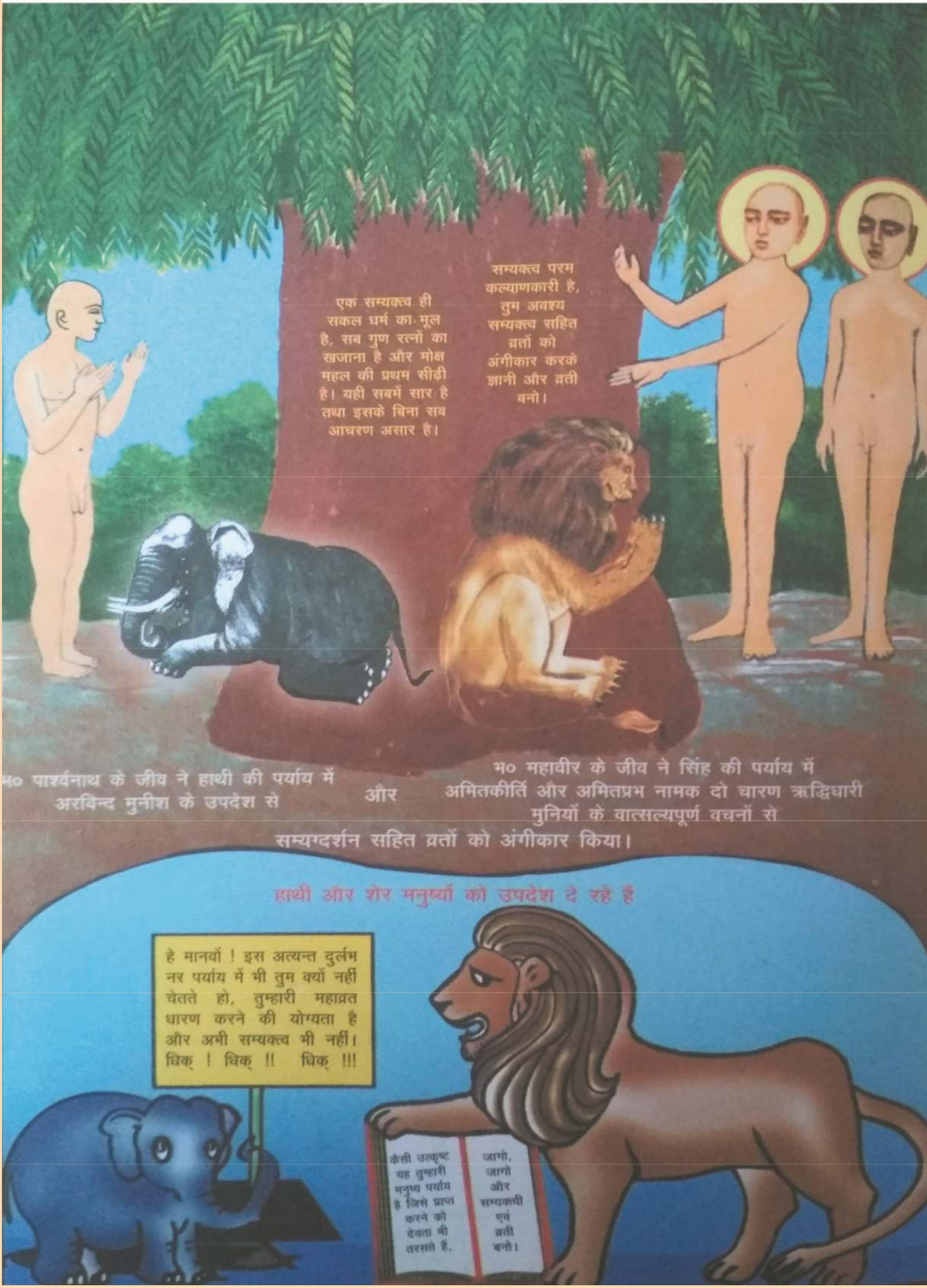

एक सम्यक्त्व ही सकल धर्म का मूल है, सब गुण रत्नों का खजाना है और मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है। यही सबमें सार है तथा इसके बिना सब आचरण असार है।
सम्यक्त्व परम कल्याणकारी है, तुम अवश्य सम्यक्त्व सहित व्रतों को अंगीकार करके ज्ञानी और व्रती बनो।
भ० पार्श्वनाथ के जीव ने हाथी की पर्याय में अरविन्द मुनीश के उपदेश से
और
भ० महावीर के जीव ने सिंह की पर्याय में अमितकीर्ति और अमितप्रभ नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के वात्सल्यपूर्ण वचनों से
सम्यग्दर्शन सहित व्रतों को अंगीकार किया।
हाथी और शेर मनुष्यों को उपदेश दे रहे हैं
हे मानवों ! इस अत्यन्त दुर्लभ नर पर्याय में भी तुम क्यों नहीं चेतते हो, तुम्हारी महाव्रत धारण करने की योग्यता है और अभी सम्यक्त्व भी नहीं। धिक् ! धिक् !! धिक् !!!
कैसी उत्कृष्ट यह तुम्हारी मनुष्य पर्याय है जिसे प्राप्त करने को देवता भी तरसते हैं,
जागो, जागो और सम्यक्त्वी एवं व्रती बनो।

गुरु का शिष्य पर वात्सल्य

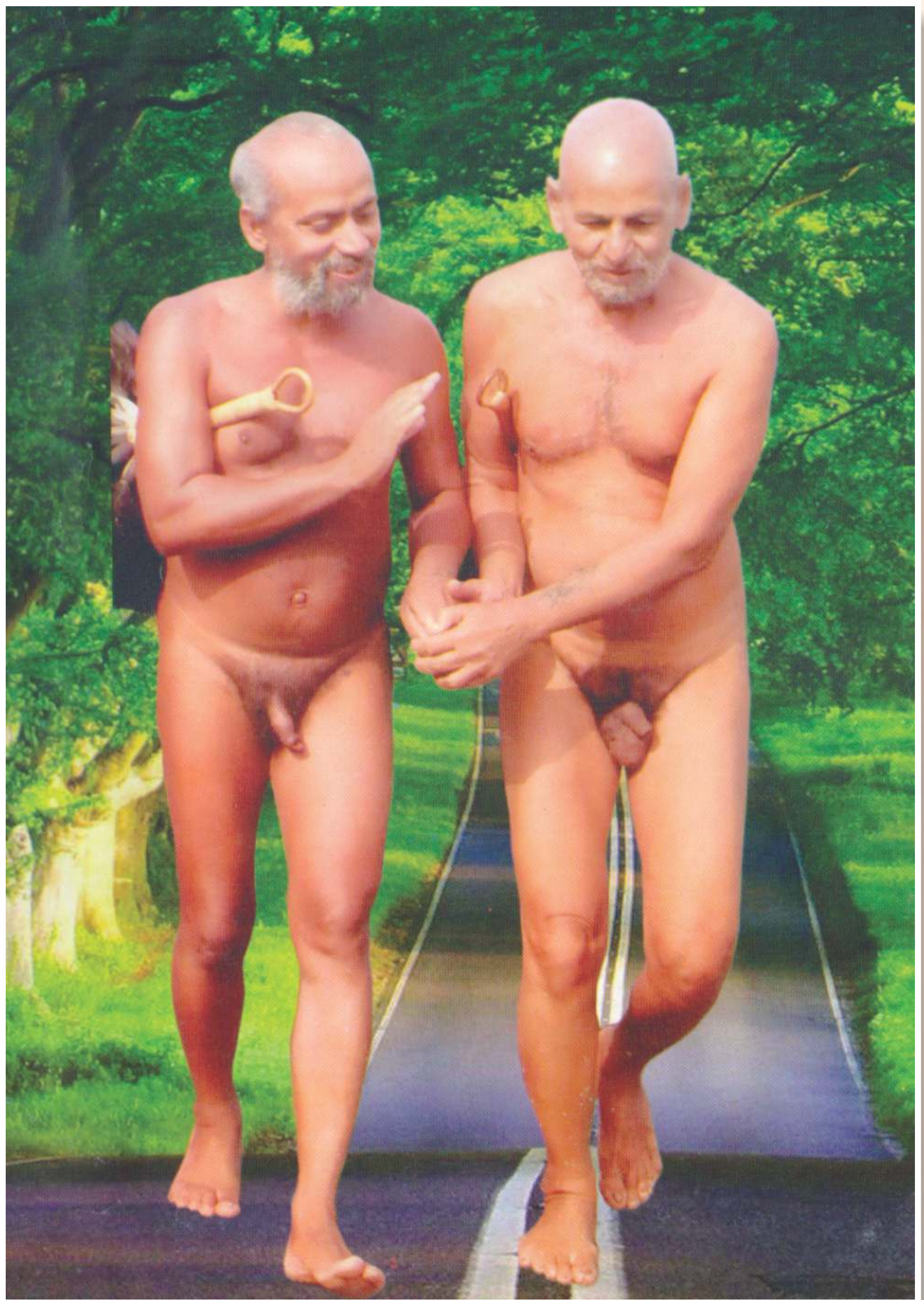

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी एवं श्रमण मनोज्ञसागर जी

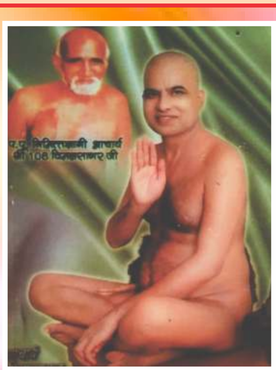

गणाचार्य श्री विऽद्वाग सागऽद्व जी गुरूदेव

श्रमण मुनि मनोज्ञसागर जी महाराज

पुण्यार्जक

गुरुदेव के चरणों में कोटिशः नमन

800 ग्रन्थ **गुप्तदान**

केवलज्ञान के संस्कारों का
गुप्त बीजारोपण

300 ग्रन्थ

प्रतिभा-देवेन्द्र कुमार जैन
अशोकनगर

राजेन्द्र कुमार सार्थक जैन
अशोकनगर

श्रीमती ऊषा जैन, अशोकनगर

इन्द्रा-सुरेश कुमार लुणदिया
उदयपुर

''तत्त्वार्थसूत्र'' की सरल सुबोध हिन्दी टीका

सर्वसिद्धितंत्र

SARVASIDDHITANTRA

ISBN : 978-81-909686-5-2

आशीर्वाद

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी गुरुदेव

लेखक/सम्पादन

दिगम्बर श्रमण मनोज्ञसागर मुनि

प्रकाशक

जिन फाउंडेशन, नई दिल्ली

प्राप्ति स्थान

श्रावक संस्कार साहित्य केन्द्र

श्री नंदीश्वर जिनालय, लालघाटी, भोपाल, मो. : 9425374897, 8878932223

स्व-कल्याण के हेतु लिखा गया मोक्षमार्ग के प्रकाश-स्तंभ रूप यह

सर्वसिद्धितंत्र

'तत्त्वार्थसूत्र' की सरल सुबोध हिंदी टीका

(मोक्षभिलाषी सर्व भव्य जीवों के हितार्थ समर्पित)

बोधिः समाधिः परिणाम शुद्धिः,

स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धि।

चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने,

त्वं वंद्यमानस्य ममास्तु (सरस्वती) देवि।।

ग्रंथ की महत्ता के बारे में ५ बिन्दु-

१. यह पवित्र "सर्वसिद्धि तंत्र" भीषणतम संसार परिभ्रमण के दुःखदायी चक्र के उच्छेद(नाश) के लिए **"अमोघ अस्त्र"** है।
२. यह "सर्व सिद्धि तंत्र" 'बोधि' अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए **"चिन्तामणी रत्न"** है।
३. यह "सर्वसिद्धि तंत्र" "समाधि" अर्थात् धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का **सबल साधन** है।
४. यह "सर्वसिद्धि तंत्र" **"स्वात्मोपलब्धि"** एवं **"शिवसौख्यसिद्धि"** अर्थात् (मोक्ष की सिद्धि) कराने वाला है। हृदयंगम करने के लिए ग्रंथ का स्वाध्याय कम से कम तीन बार तो अवश्य करें।

विशेष- विशिष्ट फल की प्राप्ति के लिए लगातार ५ वर्ष तक (प्रत्येक वर्ष के पवित्र भाद्रपद मास में) कोई त्याग का नियम लेकर ग्रंथ का पूर्णरूपेण स्वाध्याय कीजिए।

कृति	–	**सर्वसिद्धितंत्र** (तत्त्वार्थ सूत्र की सरल सुबोध हिन्दी टीका) **SARVASIDDHITANTRA**
कृतिकार	–	**दिगम्बर श्रमण मनोज्ञसागर मुनि**
आशीर्वाद	–	**श्रमणाचार्य विशुद्धसागर गुरुदेव**
संपादन	–	श्रमण प्रशमसागर मुनि श्रमण साम्यसागर मुनि
ISBN	–	**978-81-909686-5-2**
संस्करण	–	प्रथम – मई 2021 (1100 प्रतियाँ) द्वितीय – जुलाई 2021 (1100 प्रतियाँ) तृतीय – सितम्बर 2021 (1100 प्रतियाँ)
लागत मूल्य	–	रु. 165/-
विक्री मूल्य	–	नियमित स्वाध्याय (मंदिर की गुल्लक में स्वेच्छा राशि डाल सकते हैं)
प्राप्ति स्थान	–	• जिनेन्द्र जैन शास्त्री (संघस्थ), श्री शिखरजी, मो.7004628449 • सिंघई राजेन्द्र-मीना जैन, मनोज्ञ वाटिका, जड़िया मार्ग, टीकमगढ़ (मो. 9893955696, 8319586558) • श्री आजाद जैन 'बीड़ी वाले / मनीष 'मोना' / श्रमण संस्कृति सेवा समिति, इन्दौर (म.प्र.) मो. 09425211151, 09826210189 • इंजी. विजय जैन, ए-11, 'अरिहन्त', न्यू मिनाल रेजीडेन्सी भोपाल, मो. : 09425604220, 09589833133 • सिंघई महेन्द्र-रजनी जैन, दतिया (म.प्र.) मो. 09584506499 • श्रमण संस्कृति साहित्य केन्द्र, नंदीश्वर द्वीप जिनालय लालघाटी, भोपाल. मो. : 09425374897, 8878932223 • सिंघई प्रभात-प्रवीण जैन 'प्रभात मेडिको' टीकमगढ़ (म.प्र.) मो. : 9893205292, 9425474176
टाइपिंग एवं कवर सज्जा	–	राजेश जैन, शिखर जी, मो. 7979703328
प्रकाशक	–	**जिन फाउंडेशन, नई दिल्ली**
मुद्रक	–	**विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स** 45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल फोन : 0755-2601952, 9425005624

शुभाशीष

○ श्रमणाचार्य विशुद्ध सागर मुनि

साहित्य-सम्पदा विश्व में सर्वश्रेष्ठ सम्पदा है। सम्पूर्ण विश्व में वही राष्ट्र श्रेष्ठ हैं जिसके पास धन-धान्य, स्वर्ण-मणी-माणिक्य के साथ **विद्वान**, सत्यार्थ-बोध प्रदर्शक **साधु-पुरूष** एवं **विपुल साहित्य** है।

भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य विशाल है, जो सर्व विषयों से पूर्ण है। लौकिक - पारमार्थिक, ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी न चलाई हो। सर्व विद्याओं पर जैनाचार्यों ने ग्रंथों का सृजन किया है।

दिगम्बर जैनाचार्यों की दीर्घा में बहु-विश्रुत आचार्य प्रवर श्री उमास्वामी हैं, आपने स्व-प्रज्ञा के बल से सम्पूर्ण श्रमण परम्पराओं का महान् उपकार किया है। आपने जैन श्रमण परम्परा में प्रथम संस्कृत सूत्र-ग्रंथ के रूप में **''तत्त्वार्थसूत्र''** जी प्रणयन कर वीतराग-मार्ग की महती प्रभावना की है। तत्त्वार्थसूत्र इतनी श्रेष्ठ कृति बनी जिस पर अनेक आचार्यों ने वृत्ति, भाष्य, श्लोक वार्तिक, भावार्थादि विशाल टीकाएँ लिखीं।

तत्त्वार्थसूत्र पर सर्व प्रथम आचार्य प्रवर श्री पूज्यपाद स्वामी ने ''सर्वार्थसिद्धि'' टीका लिखी, पश्चात् आचार्यश्री अकलंक स्वामी कृत ''राजवार्तिक'', आचार्यश्री विद्यानन्द स्वामी कृत ''श्लोकवार्तिक'' आचार्यश्री श्रुत सागरजी एवं भास्कर नन्दी कृत ''तात्पर्य वृत्ति'' टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। सम्प्रति हिन्दी भाषा में टीकायें, देशनाएँ, भावार्थ के रूप में ग्रंथ उपलब्ध हैं।

आधुनिक हिन्दी टीकाओं में स्वोपज्ञ ''तत्त्वार्थदेशना'' शीर्षक, सारिणी, चित्र, शब्दादि कोश की दृष्टि से अत्यंत उपोयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

सम्प्रति 'तत्त्वार्थसूत्र' पर श्रमण मुनि श्री मनोज्ञ सागर जी ने ''सर्वसिद्धि तंत्र'' नामक हिन्दी व्याख्या की है, जो कि श्रुतसागर की संगृहीत वृद्धि में कारण है। यह भव्यों के आत्मज्ञान में सहकारी बनेगी।

श्रमण मुनि श्री मनोज्ञ सागर जी आत्मसाधना, श्रुताराधना, रत्नत्रय की निर्मल साधना करते हुए **भगवती-समाधि की आराधना की पूर्णता को प्राप्त करें।** अपने समय को आत्मसाधना, श्रुताराधना में लगाकर निर्विकल्प-समाधि की सिद्धि को प्राप्त करें, यही शुभाशीष...।

तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी
मधुबन (झारखण्ड)
ग्रीष्म वाचना
०६ मई २०२१

इति शुभम् भूयात्
''ॐ नमः सिद्धेभ्यः''

प्रस्तावना

(अवश्य पढ़िए)

तीर्थंकरों के मुख कमल से प्रस्फुटित वाणी को ६३ ऋद्धि सम्पन्न पूज्य गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने हम अल्पबुद्धि जीवों के उपकारार्थ जिनवाणी के रूप में उसे निबद्ध किया । वह जिनवाणी, वे ग्रंथराज ही आज हमारे मोक्ष मार्ग के प्रकाश स्तंभ हैं। क्योंकि सूर्य की प्रखरता होने पर असत्य का अंधकार स्वतः ही पलायन कर जाता है।

आचार्य पद्मनंदी स्वामी लिखते हैं। ''वर्तमान के कलिकाल में त्रिलोक पूज्य केवली भगवान इस भरतक्षेत्र की धरा पर साक्षात् नहीं हैं, किन्तु समस्त भरत क्षेत्र में जगत प्रकाशिनी केवली की वाणी मौजूद है। उस वाणी के आधार स्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनिराज हैं, जो पंचम काल के अंत तक रहेंगे। अतः उन मुनिराजों का पूजन साक्षात सरस्वती का पूजन है और सरस्वती का पूजन साक्षात केवली भगवान का पूजन है।'' -६२/-पद्मनंदी पंचविंशतिका

''णाणं पयासं'' अर्थात् सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। वर्तमान में ज्ञान प्राप्ति की होड़ लगी है। पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व वन चुकी हैं। परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं है। जिसकी आज महती आवश्यकता है, किन्तु पूर्वाचार्यों ने जिनदेशना को लिपिबद्ध कर बड़ा भारी उपकार किया है। जैन वाङ्मय के तीन अनुयोगों करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की मान्यताओं एवं सिद्धांतों का व्यवस्थित एवं सूक्ष्मता से निर्देशन करने वाला सारगर्भित, प्रतिष्ठित और प्रमाणिक शास्त्र गृद्ध पिच्छाचार्य अपर नाम उमास्वामी विरचित **तत्त्वार्थसूत्र-मोक्ष**

शास्त्र है। ३५७ सूत्रों और १० अध्यायों में निबद्ध संस्कृत में सूत्र शैली में रचित यह पहला जैन सूत्र ग्रंथ है। इसमें जैन दर्शन के समस्त सिद्धांतों को सूत्र रूप में निबद्ध करके गागर में सागर भर दिया है। इस ग्रंथ पर अनेक धुरंधर विद्वान आचार्यों ने टीकाएं और वृत्तियाँ लिखी हैं। उपलब्ध वृत्तियों में प्रथम तो देवनंदी- पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, भट्ट अकलंक देव कृत तत्त्वार्थ राजवार्तिक, विद्यानंद कृत श्लोकवार्तिक, भास्करनंदी कृत सुखबोध वृत्ति, श्रुत सागर कृत तत्त्वार्थ वृत्ति और पं. सदासुखदास कृत अर्थ-प्रकाशिका टीका आदि हैं। आचार्य विद्यानंदी ने तो अपने आप्त परीक्षा ग्रंथ में तत्वार्थ सूत्र को बहुमूल्य रत्नों का उत्पादक सलिल निधि समुद्र कहा है।

उपलब्ध वृत्तियों में आचार्य पूज्यपाद-(देवनंदी) कृत सर्वार्थसिद्धि अपनी प्राचीनता, प्रमाणिकता एवं विषय गांभीर्य आदि गुणों के कारण सर्वश्रेष्ठ टीका मानी जाती है, दूसरी बात अन्य सभी टीका/ वृत्तियों का आधार सर्वार्थ सिद्धि टीका ही है। आचार्य प्रभाचंद्र ने भी सर्वार्थसिद्धि पर एक वृत्ति लिखी है तथा पं. जयचंद छावड़ा कृत उसकी भाषा वचनिका भी उपलब्ध है।

तत्वार्थ सूत्र- मूल ग्रंथ का नाम तत्वार्थसूत्र है, क्योंकि तत्त्वार्थ ७ हैं- १) जीव २) अजीव ३) आस्रव ४) वंध ५) संवर ६) निर्जरा और ७) मोक्ष। सम्यग्दर्शन की महत्ता के विषय रूप इन सात तत्त्वार्थों का वर्णन इस सूत्र ग्रंथ में विस्तार के साथ किया गया है। संभवतः इसी कारण तत्त्वार्थ सूत्र नाम प्रसिद्ध हुआ। इसके टीकाकार पूज्यपाद स्वामी, अकलंक देव, विद्यानंदी और श्रुत सागर आचार्यों ने भी इसकी "**तत्त्वार्थ**" नाम से घोषणा की है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ में पृष्ठ ३१६ पर "**तच्चत्थ सुत्ते**" (तत्त्वार्थ सूत्र) नाम का उल्लेख किया है।

मोक्ष शास्त्र- इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी है। यद्यपि प्राचीन टीकाओं में इस नाम का उल्लेख नहीं है, तथापि लोक में इस नाम की प्रसिद्धि अधिक देखी जाती है। ऐसा ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारंभ मोक्ष मार्ग के उपदेश से होता है और इसका अंत भी मोक्ष के उपदेश के साथ होता है, संभवतः इसी करण से मोक्ष शास्त्र यह नाम लोक में अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर यह उल्लेख भी मिलता है-

"इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः"

आचार्य पूज्य पाद स्वामी ने ऐसे महानतम ग्रंथ पर अपनी पेनी बुद्धि और सुदृढ़ लेखनी से इस पर संस्कृत में प्रथम टीका लिखकर मोक्षमार्गी भव्य जीवों के लिए मोक्ष का सीधा मार्ग दिखाया है।

तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष मार्ग के जिन प्रमेयों का व्याख्यान किया गया है, वह निश्चित ही सर्व पुरूषार्थों में प्रधानभूत मोक्ष पुरूषार्थ के साधक हैं। इसी कारण से इस तत्त्वार्थ सूत्र की हिंदी टीका बोधगम्य सरल भाषा में सम्पादित-अनुवादित कर भव्य जीवों तक पहुँचाने की हमारी प्रशस्त भावना हुई जिससे मोक्षमार्गी मुनिजन एवं आर्यिका आदि सभी संयमी बंधु तथा मोक्षाभिलाषी समस्त श्रावक-श्राविका आदि भी इसका पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। मोक्षमार्गी साधक के लिए आत्मसाधना एवं चिंतन की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत महत्वपूर्ण है।

यह सही है कि मोक्ष पुरूषार्थ में स्व-उपादान की योग्यता ही कार्यकारी होगी, किन्तु उपादान जागृत करने के लिए निमित्त कारणभूत होता

है, सो हमने तो **'सर्वसिद्धि तंत्र'** के रूप में मात्र निमित्त(कारण) उपस्थित किया है, उपादान की योग्यता तो जीव की स्वयं की ही है। हमारी तो यही पवित्र भावना है कि भगवान जिनेन्द्र की दिव्य ध्वनि घर-घर ही नहीं, प्रत्येक भव्यात्मा तक पहुँचे।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं-

जिणवयण मोह-सहमिणं, विसयसुह-विरेयणं अमिदभूदं ।

जर-मरण-वाहि-हरणं, खय करणं सव्व दुक्खाणं ।।

-१७/दर्शन पाहुड़

अर्थ- यह जिनवचन रूपी औषधि विषय सुख (वेदना) को दूर करने वाली है, अमृत रूप है, जरा और मरण की महाव्याधि को नष्ट करने वाली है, तथा सर्वप्रकार के दुःखों का क्षय करने वाली है। अतः हे भव्य आत्माओ! इसे त्रियोगपूर्वक हृदय मे धारण करो ।

"दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात् क्षरंतो-अमृतं ।"

"अरिहंत भगवान की दिव्य ध्वनि से सभी भव्यात्माओं के कानों में अमृत झरने जैसा सुख उत्पन्न होता है।"

भगवान जिनेन्द्र की वाणी/सम्पूर्ण द्वादशांग तो महासागर है, अगाध है, अपार है। गणधर भगवन्त और श्रुत केवली भगवन्त ही इसमे पारंगत होते हैं। हम तो अल्पज्ञ हैं, फिर भी हमने अल्प बुद्धि के द्वारा इस ग्रंथ रूपी महासागर को पार करने का साहस किया है। जिस प्राकर छोटी सी नाव से समुद्र भी पार कर लेते हैं, उसी प्रकार छोटी सी बुद्धि से हम भी इसके पार

हो जायेंगे। इसी प्रशस्त/ मंगल भावना को लेकर इस "**सर्वसिद्धि तंत्र**" का लेखन किया है। इसे महायज्ञ कहो या महासागर, पार करने मे हम कितने सफल हुए, यह तो आप जैसे विज्ञजन, मोक्षाभिलाषी पाठकजन ही बताएंगे।

आभार- प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन में 'सर्वार्थसिद्धि' के अतिरिक्त, 'श्लोकवार्तिक,' 'तिलोयण्णति', 'गोमट्टसार', 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', 'भगवती आराधना', 'मूलाचार' आदि अति प्राचीन मूल ग्रंथों का सहयोग लिया गया है। उन सभी पूज्य आचार्य भगवंतों को सविनय नमोस्तु। आचार्य सकल कीर्ति कृत 'सुभाषित रत्नावली', 'उमास्वामी श्रावकाचार' एवं आर्यिका स्याद्वाद मति जी कृत हिंदी टीका का भी सहयोग रहा। अन्य भी कई ग्रंथों के आवश्यकतानुसार उद्धरण लिए हैं, उन सबके प्रति भी हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

ग्रंथ के सम्पादन लेखन में जो भी त्रुटि अथवा अक्षर, पद, मात्रा, की हुई हो, उसे मुझ अल्पज्ञ की समझना और सार की बात, कल्याण की बात जो भव्यजनों को हितकर लगे, वह पूज्य तीर्थंकरों, गणधरों वा पूर्वाचार्यों की मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना, आचरण करना। हमारा इसमें कुछ भी नहीं है, जो कुछ है, पूज्य गुरुदेव आचार्य विशुद्ध सागर जी के ज्ञान सागर से प्राप्त तथा स्वाध्याय एवं स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान-कण की कुछ बूंदों को अल्पज्ञान के माध्यम से शब्दों में संजोया भर है।

प्रिय अनुज श्रमण प्रशम सागर जी एवं श्रमण सुयश सागर जी ने ग्रंथ के शब्द शोधन तथा प्रकाशन करने में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया, उनके प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। जिनेन्द्र देशना को स्वकल्याण के पुरूषार्थी भव्य जीवों के निमित्त प्रकाशित कर जन-जन तक पहुँचाना सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति एवं केवलज्ञान के संस्कारों का बीजारोपण है। जिन पुण्यशाली भव्य

जीवों ने इस महान पुण्य ग्रंथ के प्रकाशन का पुण्यार्जन प्राप्त किया है, उन सभी ने निश्चित ही केवलज्ञान के संस्कारों का बीजारोपण अपनी आत्मा में किया है। उन सभी भव्यात्माओं को मेरा मंगल आर्शीवाद। सब सुखी रहें तथा सभी स्वकल्याण के मार्ग मे लगे। इसी पवित्र मंगल भावना के साथ ।

इति अलम्।

सर्वार्थसिद्धि योग, अमृतसिद्धियोग **-दिग. श्रमण मनोज्ञ सागर मुनि**

गुरु पुष्ययोग, दिन गुरुवार

दिनांक- ३१.१२.२०२०

(सिद्धों की नगरी शिखरजी चातुर्मास 2020)

--।।..०..।।--

"माता पिता की आज्ञा न माने, वह कुपूत कहा जाता है।
राजा की आज्ञा न माने, वह राजद्रोही/गद्दार कहा जाता है।
जो जिनेन्द्र की आज्ञा न माने, वह मिथ्यादृष्टि/नास्तिक कहा जाता है।"

--।।..०..।।--

"मिथ्यादृष्टि (भव्य) जीवनि को मोक्षमार्ग का उपदेश देय तिनका उपकार करना - यहु ही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर-गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करे हैं।" - अष्ट पाहुड़ टीका

--।।..०..।।--

संपादकीय

जैन श्रमण परंपरा साहित्य और पुरातत्व से ही जयवंत है, हो रही है और आगे होगी। साहित्य के पठन-पाठन से विश्व का कल्याण, मैत्री भाव और अंतरंग की कलुष्यता नष्ट होती है। साहित्य इतिहास की रक्षा और उसकी परंपरा का बोध कराता है। वही साहित्य, वही ग्रंथ आगम की श्रेणी में है, जो जिनेन्द्र कथित है, गणधरों द्वारा उद्घोषित और आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। पूर्वाचार्यों का साहित्य सृजन में महत्वपूर्ण योगदान है। चाहे वह आचार्य कुंदकुंद स्वामी, आचार्य उमा स्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंक देव, आचार्य पूज्य पाद स्वामी हों।

जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा में प्रथम सूत्र ग्रंथ आचार्य उमा स्वामी द्वारा रचित ''तत्वार्थ सूत्र'' है। इस लघु सूत्र ग्रंथ पर सर्वप्रथम पूज्य पाद स्वामी ने संस्कृत टीका ''सर्वार्थसिद्धि'' लिखकर मोक्षमार्ग साधकों के लिए अत्यंत उपयोगी बना दिया। पश्चात् अनेक आचार्य भगवन्तों ने टीका पर टीका कर ग्रंथ की महत्ता में चार चांद लगा दिए।

इसी श्रंखला में आगम अनुभूति के अनुनायक, शांत स्वभाव, अध्यात्म योगी आचार्य विशुद्धसागरजी ने तत्वार्थसूत्र पर ''तत्वार्थ देशना'' कृति का सृजन किया है। उन्हीं के प्रथम शिष्य विशुद्ध कुल गौरव, मधुवन निधि, श्रमण श्री मनोज्ञसागरजी ने ''सर्वसिद्धितंत्र'' तत्वार्थसूत्र की सरल सुबोध हिन्दी टीका लिखकर भारतीय जैन वाङ्मय एवं श्रमण परंपरा को गौरवान्वित कर दिया है। प्रस्तुत कृति ''सर्वसिद्धितंत्र'' नाम का विवेचन करने पर स्वतः सिद्धि होती है कि यह कृति सर्व सिद्धि प्रदान करने में तंत्र का काम करेगी ।

आचार्य उमास्वामी ने करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग को अथवा यूं कहें कि जैन आगम के सार को इस लघु सूत्र ग्रंथ में गागर में सागर युक्ति की तरह समाहित कर दिया है।

मुनि श्री मनोज्ञसागरजी अपने इस अलौकिक ग्रंथ ''सर्वसिद्धितंत्र'' में मोक्षमार्गी जीवों को ग्रंथ के महत्व बताते हुए लिखते हैं कि यह ''सर्वसिद्धितंत्र'' भीषणतम संसार परिभ्रमण के दुःखदाई चक्र के नाश के लिए ''अमोघ अस्त्र'' है। रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए ''चिन्तामणी रत्न'' है। समाधि की प्राप्ति के लिए ''सबल साधन'' है तथा ''शिव सौख्य'' की प्राप्ति कराने वाला है।

मुनिश्री ने धर्म मार्ग में सुप्त जीवों के स्वकल्याण हेतु कुछ चेतावनी भी ''रुकिए (STOP)'' शीर्षक में एवं प्रत्येक अध्याय के अंत में कुटेशनों के माध्यम से कही है। यहां मुनिश्री की अनूठी दृष्टि परिलक्षित होती है-

(१) संसार का वास हर दृष्टि से दुःख व आकुलता का ही कारण है।

(२) अगरबत्ती जल रही है, जलते हुए सुगंध भी दे रही है, किंतु उसके नीचे भी देखो उसकी राख हो रही है, ऐसे ही आपका पुण्य भोगों में राख हो रहा है।

(३) णमोकार महामंत्र की पांच मालाएं पंच परावर्तन रूप चतुर्गति संसार परिभ्रमण से छूटने के लिए विशुद्ध परिणामों से प्रतिदिन अवश्य करें।

(४) प्रतिदिन देव दर्शन व पूजन करें एवं अष्ट मूल गुण धारण करें।

(५) दुर्गति में ले जाने वाले सप्तव्यसनों व रात्रि भोजन का त्याग करें आदि अनेक सम्यक्त्ववर्धिनी सूत्रों का प्रतिपादन किया है।

सर्व सिद्धि तंत्र की विशेषता -

वात्सल्य मूर्ति, उत्कृष्ट चर्याधारी, श्रेष्ठ अग्रज श्रमण मुनि श्री मनोज्ञसागरजी के निरंतर स्वाध्याय, मनन, चिंतन से उद्भूत यह कृति एक अलौकिक कृति है, जो मुमुक्षु जीवों के मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने में प्रकाश स्तंभ का कार्य करेगी। साथ ही असंयम से संयम में ले जाने के लिए तथा मोक्ष मार्ग में लगने व अशांत मन को शांत करने के लिए

अनुपम कृति है। मुनिश्री ने पंच परावर्तन की विस्तृत व्याख्या अध्याय २/१० में की है, जो संसारी जीवों के रोंगटे खड़े करने वाले दुःखदाई चतुर्गति परिभ्रमण का सम्यक् बोध कराती है।

नरकों के भीषणतम असहनीय कष्टों एवं नरक में जाने के कारणों का अध्याय ३/५ में मुनिश्री ने विस्तृत विवेचन किया है। जो पांच पापों से बचने की चेतावनी देते हैं।

इसी अध्याय के सूत्र ३६ में कुभोग भूमि में जन्म के कारण बताते हुए लिखते हैं- जो कुपात्रों को दान देते हैं, गुरु आज्ञा के बिना जो मुनि संघ छोड़कर एकल-विहारी हो जाते हैं, रात्रि में तथा आहार आदि के समय मौन छोड़कर अपलाप करते हैं।

विभिन्न जिज्ञासाओं का समाधान भी आगम के परिप्रेक्ष्य में बहुत सुंदर, सटीक एवं विधिवत दिया है।

अध्याय ७/३८ में अपने खून-मांस आदि के दान का सूत्र ''अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गों दानम्'' के विशेषण से पूर्णतः निषेध किया है, जो आगमनानुसार है।

इसी अध्याय के सूत्र ३९ में सुपात्र/कुपात्र/अपात्र एवं सुपात्र में भी उत्तम-मध्यम-जघन्य तथा इनके दान के फलों का अत्यंत वेवाक विधि से खुलासा किया है, जो श्लाघनीय है, अनुकरणीय है।

कछुआ को देव मानकर रिद्धि, सिद्धि, व्यापार, शादी आदि का कर्ता मानकर धारण करने वाले कुदृष्टि लोगों को कुपात्र एवं दुर्गति का कारण बताते हुए चेतावनी दी है कि मांसाहारी तिर्यंच कछुआ (देव) पूज्य नहीं होता। तीर्थंकर आदि परमेष्ठी पूज्य होते हैं। उनकी श्रद्धा, उनकी भक्ति ही सर्व सुखों को देने वाली है (पृष्ठ २६३-२६४)

इस प्रकार साम्य स्वभाव मुनि श्री मनोज्ञसागरजी ने ''सर्वसिद्धितंत्र'' में विभिन्न

अनेक जिज्ञासाओं का समाधान सरल सुबोध भाषा में किया है। जिनमें आगम के गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन के साथ मुनिश्री की अंतरंग प्रशस्त भावना और उनके सम्यक् चिंतन का बोध होता है। मुनिश्री ने ''सर्वजन सुखाय'' के लिए कई जीवनोपयोगी कृतियों का सृजन किया है, उनमें ''मुक्तिपथ'' कृति भवरोग, निवारण की ऐसी बहुचर्चित कृति बनी, जिसके ७ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं तथा उसकी मांग संपूर्ण देश के श्रावकों से निरंतर आ रही है।

मुनिश्री ने ग्रंथ के अंत में, निर्वाण दीक्षा बनाम उत्कृष्ट समाधि मरण पर संयमीजनों के लिए बहुत अच्छा प्रकाश डाला है, जो समाधि के उत्कृष्ट प्राचीनतम ग्रंथ ''भगवती आराधना'' के आधार पर चर्या को प्रेरित करता है।

मुनिश्री ने अपना संयम काल सांसारिक प्रपंचों से दूर निस्पृह, निर्मल साधना एवं जिनवाणी की आराधना व गुरु भक्ति में समर्पित किया है। गुरुकुल के प्रथम दीक्षित साधक, गुरु आज्ञानुवर्ती, मेरे अग्रज श्रमण रत्न मुनि श्री मनोज्ञसागरजी ने हम लोगों को मंगल प्रेरणा देकर ग्रंथ संपादन का महत्वपूर्ण कार्य करने का सौभाग्य दिया। हम उनके अत्यंत आभारी हैं। यह कृति विश्व के प्रत्येक मोक्षाभिलाषी जीव के हृदय पटल पर विराजमान होकर निश्चित ही उनके मोक्षमार्ग में प्रकाश स्तंभ का कार्य करेगी। हम कृति एवं कृतिकार के उज्जवल भविष्य की मंगल भावना भाते हैं।

इति शुभं भूयात् ।

श्रमण मुनि प्रशमसागर

श्रमण मुनि साम्यसागर

मुभुक्षु की अंतरंग दृष्टि

"मुभुक्षु को इन्द्रियजन्य पराधीन सुख की आकांक्षा किंचित भी नहीं होती मात्र अतीन्द्रिय स्वाधीन शाश्वत सुख की प्रशस्त भावना होती है।"

–श्रमण मनोज्ञ सागर

"हमको भगवान बनना ही हैं, तब व्यर्थ के संसारिक प्रपञ्चों/कार्यों से क्या प्रयोजन।"

–श्रमण मनोज्ञ सागर

"संसार का वास हर दृष्टि से दुःख व आकुलता का ही कारण है।"

–श्रमण मनोज्ञ सागर

"हे मूढ़ प्राणी! स्व कर्मोदय से ही इस दुःखमा पंचम काल में आए हो, तब सुख ढूंढने का प्रयास करना मृगतृष्णा जैसा व्यर्थ है। भविष्य उज्जवल करना चाहते हो तो शीघ्र मोक्ष-पुरूषार्थ में लग जाओ।"

–श्रमण मनोज्ञ सागर

"दुःख, स्व कर्मोदय जानकर समता परिणामों से सहन कर लो, तो आगामी घोर-घोर दुःखों से बच जाओगे, संक्लेशता करोगे तो दुःख X दुःख गुणित होकर पुनः पुनः भोगना पडेंगे।"

–श्रमण मनोज्ञ सागर

"जो मनुष्य अपने मनुष्यपने एवं जिनधर्म की प्राप्ति की दुर्लभता की ओर दृष्टि रखता है। वह संसार से पार होने का उपाय स्वयं व शीघ्र खोज लेता है, उसमें विलम्ब नहीं करता।"

–श्रमण मनोज्ञ सागर

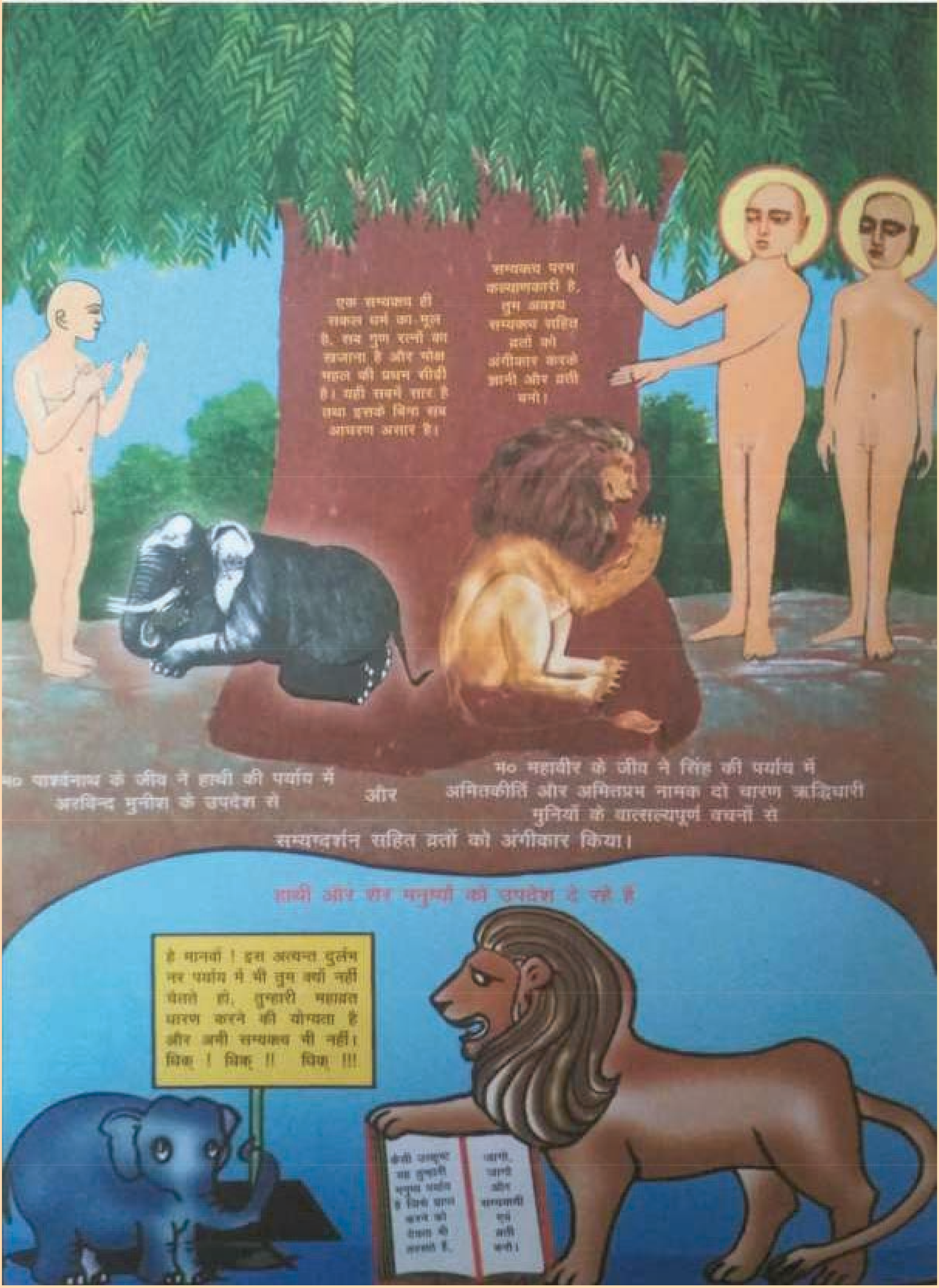
एक सम्यक्त्व ही सकल धर्म का मूल है, सब गुण रत्नों का खजाना है और मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है। यही सबमें सार है तथा इसके बिना सब आचरण असार है।
सम्यक्त्व परम कल्याणकारी है, तुम अवश्य सम्यक्त्व सहित व्रतों को अंगीकार करके ज्ञानी और व्रती बनो।
भ० पार्श्वनाथ के जीव ने हाथी की पर्याय में अरविन्द मुनीश के उपदेश से
और
भ० महावीर के जीव ने सिंह की पर्याय में अमितकीर्ति और अमितप्रभ नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के वात्सल्यपूर्ण वचनों से
सम्यग्दर्शन सहित व्रतों को अंगीकार किया।
हाथी और शेर मनुष्यों को उपदेश दे रहे हैं
हे मानवों ! इस अत्यन्त दुर्लभ नर पर्याय में भी तुम क्यों नहीं चेतते हो, तुम्हारी महाव्रत धारण करने की योग्यता है और अभी सम्यक्त्व भी नहीं। धिक् ! धिक् !! धिक् !!!

गुरु का शिष्य पर वात्सल्य

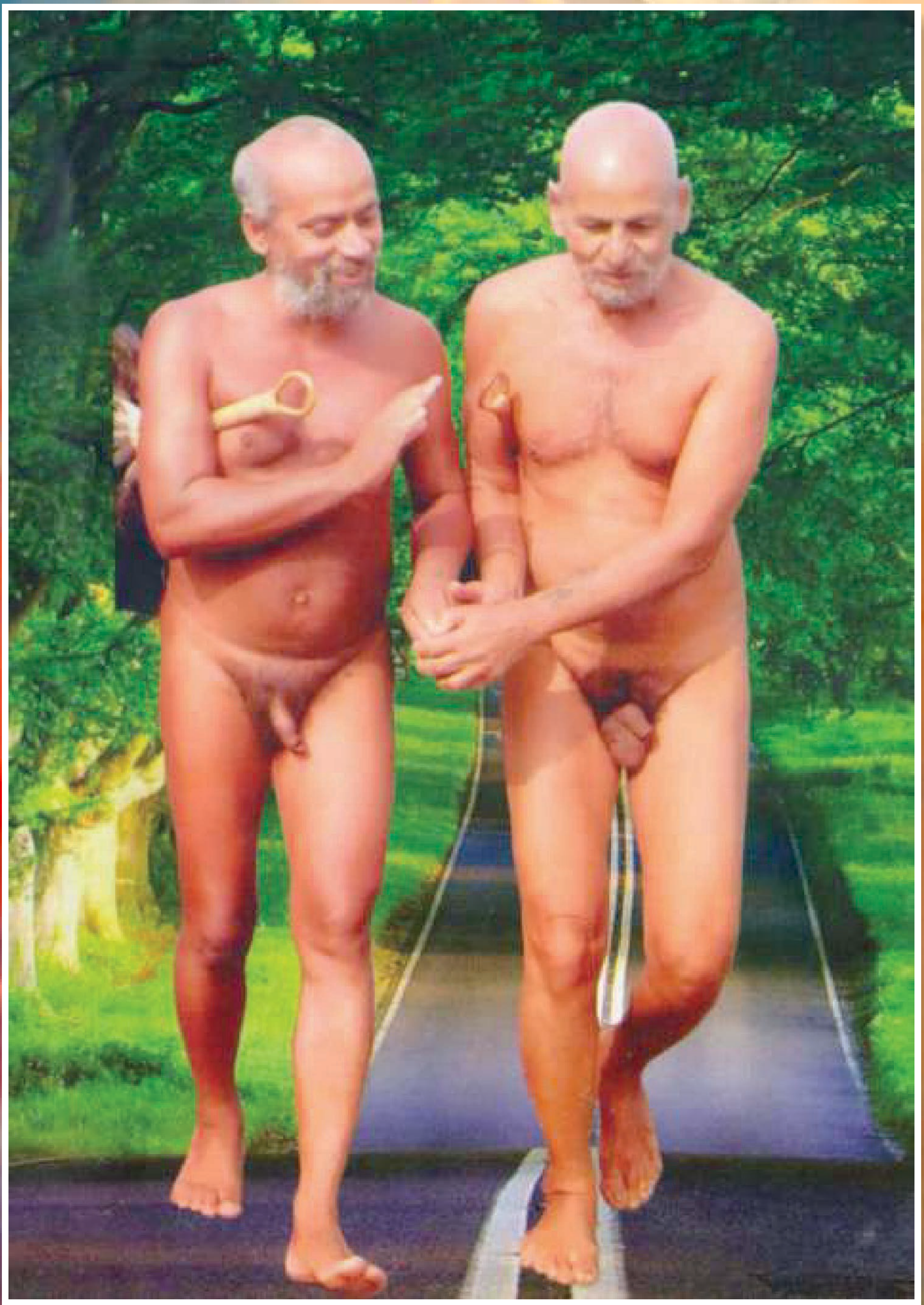

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी एवं श्रमण मनोज्ञसागर जी

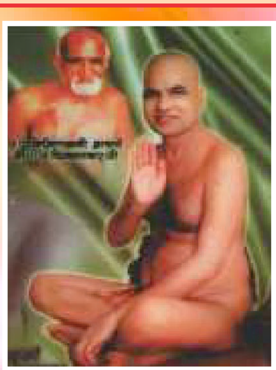

गणाचार्य श्री विरागसागर जी गुरूदेव

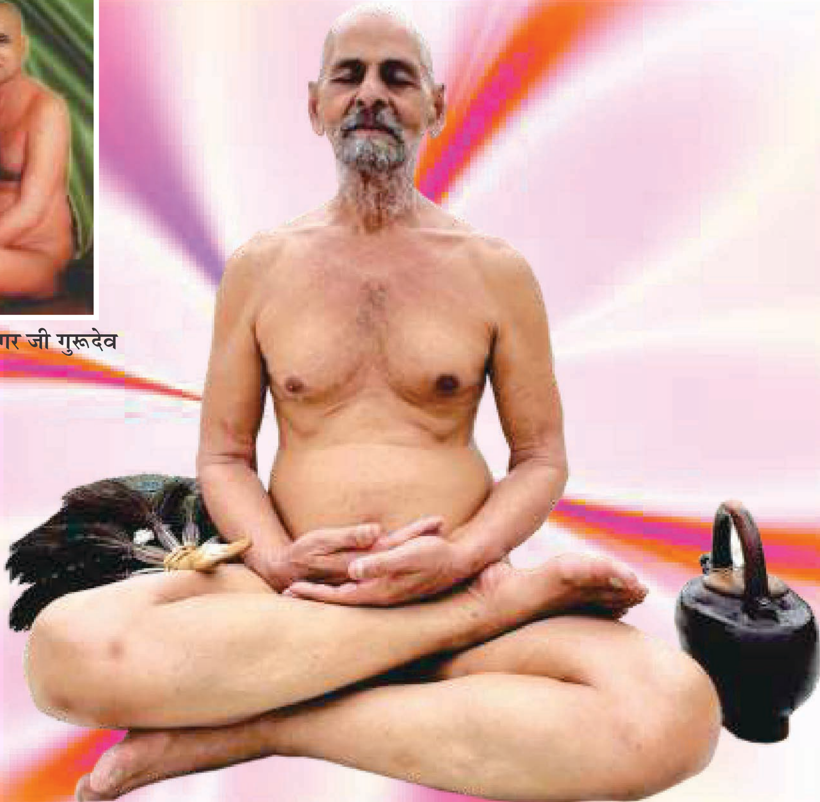

श्रमण मुनि मनोज्ञसागर जी महाराज

पुण्यार्जक

गुरुदेव के चरणों में कोटिशः नमन

गुप्तदान

केवलज्ञान के संस्कारों का
गुप्त बीजारोपण

विषयानुक्रम

: आर्शीवाद
: प्रस्तावना
: मुमुक्षु की अंतरंग दृष्टि
: रूकिए (stop) स्वकल्याण की ५ बाते

	(प्रथम अध्याय)	सूत्र संख्या	पृष्ठ संख्या
१.	मंगलाचरण	--	1
२.	मोक्ष प्राप्ति का उपाय	१	2
३.	सम्यग्दर्शन का लक्षण	२	2
४.	सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है	३	3
५.	तत्त्वों के नाम	४	4
६.	निक्षेपों का कथन	५	5
७.	तत्त्वों को जानने के उपाय	६	6
८.	तत्त्वों को जानने के अन्य उपाय	७, ८	7
९.	सम्यग्ज्ञान के भेद	९	9
१०.	ज्ञान ही प्रमाण है	१०	11
११.	प्रमाण के भेद (परोक्ष एवं प्रत्यक्ष ज्ञान)	११, १२	11
१२.	मति ज्ञान के नामान्तर	१३	12
१३.	मति ज्ञान के उत्पत्ति के निमित्त	१४	13
१४.	मति ज्ञान के भेद	१५	14
१५.	अवग्रह आदि ज्ञानों के भेद	१६	15
१६.	बहु-बहुविध आदि किसके विशेषण	१७	17
१७.	व्यंजनावग्रह	१८	17
१८.	व्यंजनावग्रह सभी इन्द्रियों से नहीं होता	१९	17
१९.	श्रुत ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद	२०	18
२०.	अवधिज्ञान के भेद व उसके स्वामी	२१, २२	19
२१.	मनःपर्यय ज्ञान के भेद व उनमें अंतर	२३, २४	21
२२.	अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में अंतर	२५	22
२३.	मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय	२६	23
२४.	अवधिज्ञान का विषय	२७	24
२५.	मनःपर्याय ज्ञान का विषय	२८	24
२६.	केवलज्ञान का विषय	२९	25

२७.	एक आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान	३०	25
२८.	तीन ज्ञान विपरीत भी हो सकते हैं	३१, ३२	25
२६.	नय का भेद	३३	27
२६(अ)	भव्य अभव्य की पहिचान		

(द्वितीय अध्याय)

३०.	जीव के पाँच भाव	१	31
३१.	भावों के भेद	२	32
३२.	औपशमिक भाव के दो भेद	३	32
३३.	क्षायिक भाव के नौ भेद	४	34
३४.	क्षायोपशमिक के अठारह भेद	५	36
३५.	औदयिक भाव के इक्कीस भेद	६	36
३६.	पारिणामिक भाव के तीन भेद	७	41
३७.	जीव का लक्षण उपयोग	८	42
३८.	उपयोग के भेद	६	42
३६.	जीव के भेद	१०	43
४०.	संसारी जीव के भेद	११, १२	49
४१.	स्थावर के भेद	१३	50
४२.	त्रस के भेद	१४	52
४३.	इन्द्रियों की संख्या एवं भेद	१५, १६	52
४४.	द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप	१७	53
४५.	भावेन्द्रिय का स्वरूप	१८	53
४६.	इन्द्रियों के नाम एवं विषय	१६, २०, २१	54
४७.	स्पर्शन इन्द्रिय किसके होती है?	२२	56
४८.	शेष इन्द्रियों के स्वामी कौन?	२३	56
४६.	संज्ञी जीव का स्वरूप	२४	56
५०.	विग्रहगति	२५, २६	57
५१.	मुक्त जीव की गति	२७	58
५२.	संसारी जीव की गति	२८, २६, ३०	58
५३.	जन्म के भेद	३१	59
५४.	योनि के भेद	३२	60
५५.	किन प्राणियों के कौन सा जन्म होता है	३३, ३४, ३५	61
५६.	शरीरों का वर्णन	३६, ३७, ३८	63
५७.	तेजस एवं कार्माण शरीर	३६, ४०, ४१, ४२	65
५८.	एक जीव के एक साथ कितने शरीर	४३, ४४	65

५६.	किस जन्म से कौन सा शरीर होता है	४५, ४६, ४७, ४८	66
६०.	आहारक शरीर का स्वरूप	४६	67
६१.	चारों गतियों में लिंग (वेद) का कथन	५०, ५१, ५२	68
६२.	कौन-कौन जीव पूरी आयु भोगकर मरते हैं	५३	68
६२(अ)	श्रद्धा-अश्रद्धा का परिणाम		

(तृतीय अध्याय)

६३.	अधोलोक का वर्णन	१	73
६४.	किस पृथ्वी में कितने बिल	२	74
६५.	नारकी जीवों की लेश्या, परिणाम, विक्रिया	३	77
६६.	नारकियों के दु:ख के कारण	४, ५	78
६७.	नारकियों की आयु	६	85
६८.	मध्यलोक में द्वीप व समुद्र	७	85
६६.	द्वीप व समुद्रों का विस्तार	८	87
७०.	जम्बूदीप का आकार	६	87
७१.	जम्बूदीप के सात क्षेत्र	१०	87
७२.	सात क्षेत्रों के विभाग करने वाले छः पर्वत	११	90
७३.	पर्वतों का वर्ण (रंग) व विस्तार	१२, १३	90
७४.	पर्वतों पर स्थित ह्रद (तालाब)	१४	91
७५.	तालाबों का विस्तार एवं गहराई	१५, १६	91
७६.	तालाबों में स्थित कमल एवं उनका विस्तार	१७, १८	92
७७.	कमलों पर निवास करने वाली देवियाँ	१६	93
७८.	तालाबों से निकलने वाली नदियाँ	२०, २१, २२	93
७६.	इन नदियों का परिवार	२३	95
८०.	भरत क्षेत्र एवं अन्य क्षेत्रों का विस्तार	२४, २५, २६	96
८१.	भरत आदि क्षेत्रों के मनुष्यों की स्थिति	२७	97
८२.	भरत - ऐरावत क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्र	२८, २६, ३०	100
८३.	विदेह क्षेत्र की स्थिति	३१	107
८४.	भरत क्षेत्र का विस्तार	३२	107
८५.	धातकी खंड की स्थिति	३३	107
८६.	पुष्करवर द्वीप	३४, ३५	108
८७.	मनुष्यों के भेद	३६	109
८८.	कर्म भूमि और भोग भूमि	३७	115
८६.	मनुष्य व तिर्यन्चों की आयु	३८, ३६	116
८६(अ)	जग के रिश्ते-नाते मात्र राग के हैं		

(चतुर्थ अध्याय)

९०.	देवों के चार निकाय एवं उनकी लेश्या	१, २	120
९१.	देवों के चारों निकायों में अवांतर भेद	३	121
९२.	चारों निकायों में देवों की व्यवस्था	४, ५	121
९३.	इन्द्रों की संख्या	६	124
९४.	देवों में काम सेवन	७, ८, ९	125
९५.	भवनवासी देवों के भेद	१०	126
९६.	व्यंतर देवों के भेद	११	128
९७.	ज्योतिष्क देवों के भेद	१२	128
९८.	ज्योतिष्क देवों का गमन एवं काल विभाग	१३, १४	130
९९.	स्थिर ज्योतिष देव	१५	132
१००.	वैमनिक देवों का वर्णन	१६, १७, १८	132
१०१.	स्वर्गादिक के नाम तथा उनकी अवस्थिति	१९	135
१०२.	वैमानिक देवों की आयु, प्रभाव, सुख आदि	२०	137
१०३.	ऊपर-ऊपर के देवों में गति, ऊँचाई, परिग्रह, लेश्यादि	२१, २२, २३	139
१०४.	ब्रह्मलोक एवं लोकान्तिक देवों का वर्णन	२४, २५	144
१०५.	अनुत्तर विमानवासी देव दो भवावतारी	२६	147
१०६.	तिर्यञ्चों का वर्णन	२७	147
१०७.	भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु	२८	148
१०८.	वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु	२९, ३०, ३१, ३२	148
१०९.	वैमानिक देवों की जघन्य आयु	३३, ३४	150
११०.	नारकियों की जघन्य आयु	३५, ३६	151
१११.	भवनवासियों एवं व्यंतरों की जघन्य आयु	३७, ३८	151
११२.	व्यंतरों एवं ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु	३९, ४०	151
११३.	ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु	४१	152
११४.	लोकान्तिक देवों की आयु	४२	152
११४(अ)	ज्ञानार्थियों/विद्यार्थियों के लिए		

(पंचम अध्याय)

११५.	अजीव तत्व के भेद	१	155
११६.	द्रव्यों का कथन एवं उनका विशेष कथन	२, ३, ४	155
११७.	प्रत्येक द्रव्य की संख्या	५, ६	156
११८.	निष्क्रिय द्रव्यों में भी उत्पाद, व्यय	७	157
११९.	द्रव्य के प्रदेशों की संख्या	८	157
१२०.	लोकाकाश में द्रव्यों की स्थिति	९, १०, ११, १२	158

१२१.	कौन द्रव्य कितने लोकाकाश में रहता है	१३, १४, १५	161
१२२.	जीव के अवस्थान के संबंध में शंका समाधान	१६, १७, १८	163
१२३.	पुद्गल का लक्षण	१६, २०, २१, २२, २३	164
१२४.	पुद्गल द्रव्य की पर्यायें	२४, २५, २६, २७, २८	170
१२५.	द्रव्य का लक्षण सत् है	२६	173
१२६.	सत् का लक्षण	३०	173
१२७.	वस्तु नित्य है या अनित्य	३१, ३२	174
१२८.	पुद्गल के बंध के हेतु	३३, ३४, ३५, ३६, ३७	176
१२६.	प्रकारान्तर से द्रव्य का लक्षण	३८	179
१३०.	काल भी द्रव्य है	३६, ४०	180
१३१.	गुण का लक्षण	४१	181
१३२.	पर्याय का लक्षण	४२	182
१३२(अ)	णमोकार महामंत्र की महिमा		

(षष्ठम् अध्यायः)

१३३.	योग का स्वरूप	१	185
१३४.	आस्रव का स्वरूप	२	186
१३५.	योग के भेद एवं योग के कार्य	३	186
१३६.	आस्रव के भेद (२५ क्रियाओं का स्वरूप)	४, ५	188
१३७.	तीव्र - मंद परिणामों से आस्रव में विशेषता	६	191
१३८.	अधिकरण के भेद	७, ८, ६	192
१३६.	ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म आस्रव के कारण	१०	195
१४०.	असाता वेदनीय कर्मास्रव के कारण	११	196
१४१.	साता वेदनीय कर्मास्रव के कारण	१२	198
१४२.	दर्शनमोहनीय कर्मास्रव के कारण	१३	199
१४३.	चारित्र मोहनीय कर्म आस्रव के कारण	१४	200
१४४.	नरकायु आस्रव के कारण	१५	202
१४५.	तिर्यञ्चायु आस्रव के कारण	१६	202
१४६.	मनुष्यायु आस्रव के कारण	१७, १८	204
१४७.	चारों ही आयु के आस्रव के कारण	१६	205
१४८.	देवोंयु आस्रव के कारण	२०, २१	206
१४६.	अशुभ नाम कर्मास्रव के कारण	२२	207
१५०.	शुभ नाम कर्मास्रव के कारण	२३	207
१५१.	तीर्थकर नाम कर्मास्रव के कारण	२४	208
१५२.	नीच गोत्र आस्रव के कारण	२५	213

१५३.	उच्च गोत्र आस्रव के कारण	२६	213
१५४.	अन्तराय कर्मास्रव के कारण	२७	214
१५४(अ)	आत्मसुख कहाँ ?		

(सप्तम् अध्यायः)

१५५.	व्रत का स्वरूप	१	219
१५६.	व्रतों के भेद	२	250
१५७.	व्रतों की रक्षा के लिए ५ - ५ भावनाएँ	३	250
१५८.	अहिंसा व्रत की भावनाएँ	४	251
१५९.	सत्य व्रत की भावनाएँ	५	251
१६०.	अचौर्यव्रत की भावनाएँ	६	252
१६१.	ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनाएँ	७	253
१६२.	परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएँ	८	224
१६३.	हिंसा आदि की विरोधी भावनाएँ	९, १०	224
१६४.	अन्य भावनाएँ	११, १२	227
१६५.	हिंसा का लक्षण	१३	229
१६६.	अनृत का लक्षण	१४	230
१६७.	चोरी का लक्षण	१५	230
१६८.	अब्रह्म का लक्षण	१६	231
१६९.	परिग्रह का लक्षण	१७	232
१७०.	व्रतों का स्वरूप	१८	233
१७१.	व्रती के भेद (अगारी एवं अनगारी)	१९	234
१७२.	अगारी व्रती का स्वरूप (५ अणुव्रत + ७ शील)	२०, २१	235
१७३.	सल्लेखना	२२	241
१७४.	सम्यक्त्व के अतिचार	२३	243
१७५.	अहिंसा अणुव्रत के अतिचार	२४, २५	244
१७६.	सत्याणुव्रत के अतिचार	२६	243
१७७.	अचौर्याणुव्रत के अतिचार	२७	247
१७८.	ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार	२८	248
१७९.	परिग्रह-परिमाण व्रत के अतिचार	२९	249
१८०.	दिग्व्रत के अतिचार	३०	250
१८१.	देशव्रत के अतिचार	३१	251
१८२.	अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार	३२	252
१८३.	सामायिक के अतिचार	३३	253
१८४.	प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार	३४	254

१८५.	भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार	३५	255
१८६.	अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार	३६	256
१८७.	सल्लेखना के अतिचार	३७	257
१८८.	दान का लक्षण एवं फल में विशेषता	३८, ३९	258
१८८(अ)	पाप और पुण्य		

(अष्टम् अध्याय:)

१८९.	बंध के हेतु (कारण)	१	269
१९०.	बंध का स्वरूप	२	272
१९१.	बंध के भेद	३	274
१९२.	प्रकृति बंध के भेद	४	275
१९३.	आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ	५	277
१९४.	ज्ञानावरण के ५ भेद	६	277
१९५.	दर्शनावरण के ९ भेद	७	278
१९६.	वेदनीय के २ भेद	८	279
१९७.	मोहनीय के २८ भेद	९	280
१९८.	आयु कर्म के ४ भेद	१०	284
१९९.	नाम कर्म की प्रकृतियाँ	११	285
२००.	गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ	१२	296
२०१.	अन्तराय कर्म के भेद	१३, १४	297
२०२.	कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति (स्थिति बंध)	१५, १६, १७	299
२०३.	कर्मों की जघन्य स्थिति (स्थिति बंध)	१८, १९, २०	301
२०४.	अनुभाग बंध (विपाक बंध) का कथन	२१, २२	302
२०५.	फल देने के बाद कर्म निर्जरा	२३	305
२०६.	प्रदेश बंध का कथन	२४	306
२०७.	कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ	२५	308
२०८.	कर्मों की पाप प्रकृतियाँ	२६	309
२०८(अ)	ध्यान-स्वानुभूति		

(नवम् अध्याय:)

२०९.	संवर का लक्षण	१	313
२१०.	संवर के कारण	२, ३	318
२११.	गुप्ति का लक्षण	४	320
२१२.	समिति के भेद (गुप्ति व समिति में अंतर)	५	321
२१३.	दस धर्म	६	324

२१४.	बाहर अनुप्रेक्षाएँ	७	326
२१५.	परिषह सहन करने का उद्देश्य	८	330
२१६.	परिषहों का स्वरूप	६	330
२१७.	किस गुणस्थान में कितने परिषह	१०, ११, १२	366
२१८.	किस कर्म के उदय से कौन सा परिषह	१३, १४, १५, १६	338
२१६.	एक व्यक्ति में एक साथ कितने परिषह	१७	339
२२०.	चारित्र के भेद एवं उनका स्वरूप	१८	340
२२१.	वाह्यतप के भेद	१६	341
२२२.	अभ्यंतर तप के भेद एवं उपभेदों की संख्या	२०, २१	343
२२३.	प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग के भेद	२२, २३, २४, २५, २६	345
२२४.	ध्यान एवं उनके भेद	२७, २८, २६	354
२२५.	आर्त्त ध्यान के भेद एवं उनके स्वामी	३०, ३१, ३२, ३३, ३४	356
२२६.	रौद्र ध्यान के भेद एवं उनके स्वामी	३५	358
२२७.	धर्म ध्यान के स्वामी एवं भेद	३६	359
२२८.	शुक्ल ध्यान के स्वामी एवं भेद	३७, ३८, ३६, ४०	360
२२६.	वितर्क एवं विचार का लक्षण- पृथक्त्व वितर्क विचार एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, समुच्छन्नक्रिया निवर्ति	४१, ४२, ४३, ४४	362
२३०.	सम्यग्दृष्टियों के कर्म निर्जरा की हीनाधिकता	४५	367
२३१.	निर्ग्रन्थ श्रमणों के भेद एवं उनमें विशेषता	४६, ४७	368
२३१(अ)	सम्यग्दर्शन के उन्मुख/निकट भव्य जीवों के लिए		

(दशम् अध्याय)

२३२.	केवल ज्ञान की उत्पत्ति	१	375
२३३.	मोक्ष का लक्षण और मोक्ष के कारण	२, ३	376
२३४.	मुक्तावस्था में मात्र क्षायिक भाव एवं शंका समाधान	४, ५	378
२३५.	ऊर्ध्वगमन में हेतु एवं दृष्टान्त	६, ७	379
२३६.	लोक के अंत तक ही मुक्त जीव के जाने का कारण	८	380
२३७.	मुक्त जीवों में भेद व्यवहार का विचार बारह अनुयोगों के द्वारा	६	380
२३८.	अंतिम प्रशस्ति		385
२३६.	निर्वाण दीक्षा वनाम पंडित मरण (जिनोपदेश)		387
२४०.	तत्त्वार्थसूत्र		395

---||...०...||---

रूकिए (Stop)

अपने स्व-कल्याण की ५ बातें सुनते जाइये-

१) पंच परावर्तन रूप चतुर्गति संसार परिभ्रमण के महादुष्चक्र से छूटने के लिए णमोकार महामंत्र की ५ मालाएँ विशुद्ध परिणामों से प्रतिदिन करें। अथवा

२) ''ॐ ह्रीं असिआउसा संसार चक्र परिमर्दनाय नमः स्वाहा।'' इस मंत्र की ५ मालाएँ प्रातः से सन्ध्या तक प्रति दिन (घर पर या मंदिर जी में) अवश्य करें।

३) किसी पूर्व पुण्योदय से आप इस अहिंसामयी महान जिनधर्म में जन्में हैं और आगे दुर्गति से बचकर सुगति पाना चाहते हैं तो शक्ति अनुसार महाव्रत या अणुव्रत धारण करें।

४) यदि इतनी शक्ति नहीं तो अल्प संयम रूप ५ नियम अवश्य धारण करें-

१. - प्रतिदिन जिनेन्द्र देव का दर्शन पूजन करें।
२. - अष्ट मूल गुणों को धारण करें।
३. - सप्त व्यसनों का त्याग करें।
४. - रात्रि भोजन का त्याग करें अथवा रात्रि में (रसगुल्ला, आइसक्रीम आदि) सभी अन्न सामग्री का तो कम से कम त्याग अवश्य करें।
५. - कंदमूल एवं फास्ट फूड (जो पूर्णतः मांसाहारी है) तथा पीने में बिना छने जल का त्याग करें।

५) सभी नियम एक साथ भी न बन सकें, तो डरिए मत। अभ्यास करके फिर साल-छः माह बाद वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु के पास आकर उपरोक्त अल्प संयम अवश्य धारण करें। बिना नियम लिए त्याग का फल नहीं मिलता।

जीभ की लोलुपतावश खाते-खाते यही जीवन नहीं, अनंतानंत जीवन अनंतानंत पर्यायें नष्ट कर डालीं। अब कुछ तो ब्रेक लगाओं बन्धु! इस चटोरी

जिह्वा पर। यह सर्व प्रसिद्ध है कि "बिना संयम का जीवन बिना ब्रेक की गाड़ी है।" अन्यथा एक्सीडेन्ट/दुघर्टना/दुर्गति होना निश्चित ही समझो। हे भव्य! पर भव की यात्रा का आरक्षण (Reservation) अभी ही कराना पड़ेगा।

यही जिनेन्द्र की आज्ञा है। मैं तो जिन शासन का मात्र अधिकृत प्रतिनिधि अधिवक्ता (Authorised Representative) हूँ। सो हमने आपके कल्याणार्थ आपको मोह कर्म (जो सब कर्मों का राजा है) से जागने की चेतावनी दी है। अब पुनः सो मत जाना, मित्र! क्योंकि हम तुम्हारे कान पकड़कर जगाने तो आ नहीं सकते।

===O0O===

"मेरे पहले कितने लेखक हुए, आगे होंगे, वर्तमान में हैं। पूर्व में अनंत चौबीसियाँ हो चुकीं, अब नहीं हैं। देखो, पुरातत्व की ओर पाषाण से निर्मित भवन, जो कभी आकाश को चुम्बन करते थे, आज भूमि का चुम्बन ले रहे हैं। यद्यपि मैं लिख रहा हूँ, किंतु वह भी बिनाश को प्राप्त होगा, मैं जानता हूँ। परन्तु यह लिखना नहीं है, मैं लेखनी चलाकर अपने आपको लख रहा हूँ।"

"एक साथ दो काम नहीं हो सकते- विषयानंद और आत्मानंद। अरे मूढ़ विषयानंदी! क्या एक काल में ग्रीष्म व शीत दोनों मौसम रह सकते हैं? इसी प्रकार विषय भोगों में लीन जीव को शुद्धानुभूति संभव नहीं हैं। स्वात्मध्यानी, तपस्वी योगी को आत्मानुभूति होती है, अन्य को नहीं।"

–आचार्य विशुद्ध सागर जी

मंगलाचरण

येनेदमप्रतिहतं सकलार्थ तत्त्वम्,
उद्योतितं विमल केवल लोचनेन।
भक्त्या तमदभुत गुणं प्रणमामि वीर-
मारान् नरामर गणार्चित पाद पीठम् ।।

अर्थ- जिन्होंने अपने विमल केवलज्ञान रूपी नेत्र के द्वारा निर्विवाद सकल तत्त्वार्थ का, जगत में फैले मिथ्यात्व व अज्ञान रूपी घोर अंधकार के बीच प्रकाश फैलाया है, उन अदभुत, अनंत गुण वाले वीर भगवान को, जो मनुष्यों और देवेन्द्रों के द्वारा पूजित हैं, भक्ति पूर्वक चरण कमलों मे अनंतबार प्रणाम करता हूँ।

मोक्षमार्गस्यनेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये।।

अर्थ- जो मोक्षमार्ग के नेता हैं अथवा जो मोक्षमार्ग के प्रवर्तक हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले हैं तथा विश्व के समस्त तत्त्वों के जानने वाले हैं, ऐसे उन अरिंहत भगवान को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

अथ प्रथमोऽध्यायः

(मोक्ष प्राप्ति का उपाय)

मोक्षप्राप्ति का उपाय क्या है? सर्व प्रथम यह बताते हैं-

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।। १ ।।

अर्थ- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिले हुए मोक्ष का मार्ग हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का उपाय हैं।

विशेषार्थ- पदार्थों के सच्चे स्वरूप के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, पदार्थों के सच्चे स्वरूप के जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं एवं जिन कार्यों के करने से कर्म बंध होता है उन कार्यों के न करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

अर्थात् तत्त्वों का अर्थ सहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित जीवादि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

कषायों से, पापों से, सप्तव्यसनों से तथा हिंसादि कार्यों से निवृत्ति सम्यक् चारित्र कहलाता है।

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं-

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।। २ ।।

अर्थ- जो पदार्थ जिस स्वभाव वाला है उसका उसी स्वभाव रूप निश्चय हो जाना तत्त्वार्थ है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ- तत्त्व का अर्थ है 'भाव' और अर्थ का मतलब है 'भाववान्'। अतः न केवल भाव का और न केवल भाववान् का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है बल्कि भाव-विशिष्ट भाववान् का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम अध्याय

सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं- (१) सराग सम्यग्दर्शन (२) वीतराग सम्यग्दर्शन।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सराग सम्यक्दर्शन के सूचक हैं। तथा आत्मा की विशुद्धि का नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है।

अब सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु एवं भेद कहते हैं-

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।। ३ ।।

अर्थ- वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है- निसर्गात् यानि स्वभाव से एवं अधिगमात् यानि पर के उपदेश से।

विशेषार्थ- दोनों ही सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति का कारण तो एक ही है, दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम। उसके होते हुए जो सम्यग्दर्शन दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं ही प्रकट हो जाता है, उसे 'निसर्गज सम्यग्दर्शन' कहते हैं और पर-उपदेश पूर्वक जो होता है, उसे 'अधिगमज' कहते हैं।

विशेष- सम्यग्दर्शन प्राप्ति के चारों गतियों में साधन-

मनुष्यगति	देवगति	नरक गति	तिर्यन्च गति
जाति स्मरण	जाति स्मरण	जाति स्मरण	जाति स्मरण
धर्म श्रवण	धर्म श्रवण	धर्म श्रवण	धर्म श्रवण
जिनबिम्ब दर्शन	जिन महिमा दर्शन/ऋद्धि दर्शन	वेदनानुभव	जिनबिम्ब दर्शन

प्रथम अध्याय

तत्वों के नाम व भेद कहते हैं-

जीवाजीवास्रव बंध-संवर-निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ।। ४ ।।

अर्थ- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

विशेषार्थ- जीव- जीव का लक्षण चेतना है अर्थात् जिसमें ज्ञान-दर्शन शक्ति होती है वह जीव है। तथा

अजीव- जिसमें चेतना नहीं पाई जाती, ऐसे पुद्‍गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव हैं।

आस्रव- कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। एवं

बंध- कर्म प्रदेशों (परमाणुओं) का और आत्म प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बंध कहलाता है।

संवर- आस्रव के रूक जाने को संवर कहते हैं।

निर्जरा- कर्मों के एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। और

मोक्ष- आत्मा से समस्त कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं।

जिज्ञासा- तत्त्व सात ही क्यों हैं? हीनाधिक क्यों नहीं?

समाधान- यह मोक्ष शास्त्र है और इसका प्रधान विषय मोक्ष है, इसलिए मोक्ष को कहा। मोक्ष जीव को होता है, अतः प्रथम जीव को ग्रहण किया। संसार पूर्वक ही मोक्ष होता है और संसार अजीव (पुद्‍गल) के होने पर होता है (क्योंकि जीव और अजीव के परस्पर बद्ध होने का नाम ही संसार है।) अतः अजीव का ग्रहण किया।

प्रथम अध्याय

संसार के प्रधान कारण आस्रव एवं बंध है, अतः आस्रव एवं बंध को ग्रहण किया तथा मोक्ष होने के प्रधान कारण संवर एवं निर्जरा है, इसलिए संवर और निर्जरा का ग्रहण किया।

अब तत्त्वों को जानने के उपाय (निक्षेप) का कथन करते हैं-

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्यासः ।। ५ ।।

अर्थ- सम्यग्दर्शन आदि का एवं जीवादि सातों तत्त्वों का नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव के द्वारा निक्षेप या लोकव्यवहार होता है।

विशेषार्थ- १. नाम निक्षेप- जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, किन्तु लोक व्यवहार चलाने के लिए किसी का कोई नाम रखने को नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम 'इन्द्र' रखा, किन्तु उस पुत्र में इन्द्र का कोई गुण नहीं है, वह मात्र नाम से इन्द्र है, वास्तव में इन्द्र नहीं है।

२. स्थापना निक्षेप- काष्ठ, पाषाण, मिट्टी, आदि की स्थापना करना स्थापना निक्षेप हैं। यह स्थापना दो प्रकार की है-

(अ) तदाकार- पाषाण अथवा धातु की बनी हुई तदाकार प्रतिमा (प्रतिबिम्ब) में जिनेन्द्र देव या इन्द्र की स्थापना (मान्यता) करना तदाकार स्थापना है।

(ब) अतदाकार- भिन्न आकारवान में भिन्न आकारवान की मान्यता अतदाकार स्थापना है। जैसे- शतरंज के मोहरों में हाथी, घोड़ा, बादशाह, बजीर की मान्यता, पीली चटक में दीप की मान्यता आदि अतदाकार स्थापना है।

जिज्ञासा- नाम निक्षेप एवं स्थापना निक्षेप में क्या अंतर है?

समाधान- नाम निक्षेप में पूजा या सम्मान नहीं होता, किन्तु स्थापना निक्षेप में सम्मान या पूजा होती है।

३. द्रव्य निक्षेप- भविष्य अथवा भूतकाल की पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे- इन्द्र देव की मूर्ति बनाने के लिए जो काष्ठ या पाषाण लाया गया है, उसे इन्द्र कहना अथवा मुनीमी छोड़ देने पर भी किसी को मुनीम कहना।

४. भाव निक्षेप- वर्तमान पर्याय की मुख्यता से वर्तमान में कहना अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको उसी रूप कहना भाव निक्षेप है। जैसे- साक्षात् इन्द्र को इन्द्र कहना। हाथी को हाथी कहना आदि।

तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने का उपाय कहते हैं-

प्रमाण नयैरधिगमः ।। ६ ।।

अर्थ- प्रमाण और नयों के द्वारा जीव अजीव आदि तत्त्वों का एवं रत्नत्रय का ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वस्तु को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और वस्तु के एक देश जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

विशेषार्थ- प्रमाण के दो भेद हैं- (१) **स्वार्थप्रमाण** अथवा **प्रत्यक्ष प्रमाण** (२) **परार्थ प्रमाण** अथवा **परोक्ष प्रमाण**।

जो ज्ञान इन्द्रियों आदि किसी की भी सहायता के बिना ज्ञाता स्वयं ही जानता है, उसे स्वार्थ अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। तथा इन्द्रिय एवं प्रकाश आदि की सहायता से जो पदार्थ को एकदेश स्पष्ट जानता है, उस ज्ञान को परार्थ अथवा परोक्ष प्रमाण कहते हैं। विशेष यह कि स्वार्थ प्रमाण, ज्ञान रूप

ही होता हैं क्योंकि ज्ञान के द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जान सकता है, दूसरों का नहीं बतला सकता। और जिसके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराया जाता हैं, उसे परार्थ प्रमाण कहते हैं। परोक्ष प्रमाण वचन रूप होता है।

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ज्ञान स्वार्थ (प्रत्यक्ष) प्रमाण ही हैं, क्योंकि ये मात्र ज्ञानरूप ही हैं, परन्तु श्रुत ज्ञान, ज्ञानरूप भी है और वचनरूप भी हैं, अतः श्रुत ज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी।

नय- पदार्थ के एक देश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

नय के दो भेद हैं- (१) **द्रव्यार्थिक नय-** जो नय द्रव्य को जानता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। और (२) **पर्यायार्थिक नय-** जो नय पर्याय को जानता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

जीव आदि तत्त्वों को जानने के अन्य उपाय-

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः ।। ७ ।।

अर्थ- निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छः अनुयोगों (विधियों) के द्वारा पदार्थों और रत्नत्रय का ज्ञान अथवा लोक व्यवहार होता है।

(१) **निर्देश-** वस्तु के स्वरूप अथवा नाम का कथन करना निर्देश है।

(२) **स्वामित्व-** वस्तु के स्वामीपने का अर्थ वस्तु के मालिक से है।

(३) **साधन-** वस्तु के उत्पन्न होने के कारण को साधन कहते हैं।

(४) **अधिकरण-** वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

(५) **स्थिति-** वस्तु के ठहरने के काल की मर्यादा स्थिति है।

(६) **विधान-** वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं।

विशेषार्थ- वस्तु को हम जानते तो प्रमाण व नय से ही हैं किन्तु उपरोक्त छः बातें जानने में उपयोगी होती हैं।

जैसे हम सम्यग्दर्शन को जानना चाहते हैं तो उसके विषय में उपरोक्त छह अनुयोग इस प्रकार घटते हैं। तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं अथवा मैं सम्यग्दर्शन का वर्णन कर रहा हूँ या करूँगा यह **निर्देश** है।

सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव द्रव्य है, यह **स्वामित्व** है।

सम्यग्यदर्शन के साधन दो हैं- अंतरंग एवं बहिरंग। **अंतरंग साधन** (कारण) तो दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम, क्षयोपशम है और जिनधर्म का सुनना, जिनबिम्ब दर्शन, जाति स्मरण आदि **बहिरंग कारण** हैं।

अधिकरण भी दो हैं- अंतरंग और बहिरंग। सम्यग्दर्शन का अंतरंग अधिकरण (आधार) तो आत्मा ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्मा को ही होता है और बहिरंग आधार त्रसनाड़ी है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव त्रसनाड़ी में ही रहते हैं।

सम्यग्दर्शन की **स्थिति** जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि की संसार की स्थिति ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटि सागर है। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि की संसार की स्थिति ६६ सागर है। और सिद्धों की अपेक्षा सादि अनंत समय है।

प्रथम अध्याय

विधान भेद को कहते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शन के दो भेद भी हैं- निसर्गज एवं अधिगमज तथा तीन भेद भी हैं- औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक।

तत्त्वों व रत्नत्रय को जानने के अन्य उपाय और भी है-

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर भावाल्पबहुत्वैश्च ।। ८ ।।

अर्थ- सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है।

विशेषार्थ- १. सत- वस्तु के अस्तित्व (मौजूदगी) को सत कहते हैं।

२. **संख्या-** भेदों की गिनती को संख्या कहते हैं।

३. **क्षेत्र-** वस्तु के वर्तमान निवास को क्षेत्र कहते हैं।

४. **स्पर्शन-** वस्तु के तीनों कालों में विचरने के क्षेत्र को स्पर्शन कहते हैं।

५. **काल-** वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।

६. **अन्तर-** वस्तु के बिरह काल को अन्तर कहते हैं।

७. **भाव-** औपशमिक, क्षायिक आदि भावों को भाव कहते हैं।

८. **अल्पबहुत्व-** अन्य पदार्थ की अपेक्षा किसी वस्तु की तुलना करके हीनाधिक वताना अल्पबहुत्व है। इस प्रकार इन आठों के द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वों का ज्ञान होता है।

सम्यग्ज्ञान के भेद-

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानिज्ञानम् ।। ९ ।।

अर्थ- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

प्रथम अध्याय

विशेषार्थ- मतिज्ञान- इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान- मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का जो विशेषरूप से ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- (१) **अनक्षरात्मक** (२) **अक्षरात्मक।**

कर्णइन्द्रिय के अलावा बाकी की चार इन्द्रियों के द्वारा मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है, वह **अनक्षरात्मक ज्ञान** है। जैसे- घड़े को देखकर, यह जानना कि यह घड़ा अमुक-अमुक काम में आ सकता है। और कर्ण इन्द्रिय के द्वारा होने वाले मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है, वह **अक्षरात्मक श्रुतज्ञान** है। जैसे घट शब्द को सुनकर कर्ण इन्द्रिय के द्वारा मतिज्ञान हुआ, पश्चात् कहे हुए घड़े को देखकर यह जानना कि यह घड़ा है और जल भरने के काम का है।

अवधिज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थों का इन्द्रियों की सहायता के बिना प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

मनः पर्ययज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र काल एवं भाव की मर्यादा लिए मनुष्य लोक में वर्तमान जीवों के रूपी पदार्थों का, जिनका उन जीवों ने सरल अथवा जटिल रूप से विचार किया है, कर रहे हैं या आगे करेंगे, उनको स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवल ज्ञान- सभी द्रव्यों की भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों की समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं।

अब प्रमाण के भेद कहते हैं-

तत्प्रमाणे ।। १० ।।

अर्थ- ऊपर कहे हुए मति आदि पांचों ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई प्रमाण नहीं हैं।

विशेषार्थ- आचार्य भगवन् ने अन्य मतावलम्बियों की मान्यता का निराकरण करने के लिए यह सूत्र दिया है कि उपरोक्त पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं है। इन्द्रिय और पदार्थ का जो सम्बंध होता है, उसे **सन्निकर्ष** कहते हैं।

किन्तु **सूक्ष्म पदार्थ** जैसे- परमाणु अथवा **दूरवर्ती पदार्थ** जैसे- सुमेरू पर्वत एवं **अन्तरित पदार्थ** जैसे- राम, रावण आदि के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय का सम्बंध तो सामने स्थित स्थूल पदार्थ के साथ ही हो सकता है। इसलिए **सन्निकर्ष** को प्रमाण मानने से इन पदार्थों का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा।

परोक्ष प्रमाण के भेद कहते हैं-

आद्ये परोक्षम् ।। ११ ।।

अर्थ- आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण हैं।

विशेषार्थ- दोनों ज्ञान 'पर' की अर्थात् इन्द्रिय, मन, उपदेश व प्रकाश की सहायता से होते हैं। इसलिए ये परोक्ष हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद कहते हैं-

प्रत्यक्षमन्यत् ।। १२ ।।

अर्थ- मति एवं श्रुत ज्ञान के अलावा वाकी के तीन ज्ञान अर्थात् अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

विशेषार्थ- अक्ष आत्मा को कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है इन्द्रिय, प्रकाश, उपदेश की सहायता नहीं लेता, उसे **प्रत्यक्ष** कहते हैं।

प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं- **विकल प्रत्यक्ष** अर्थात् एकदेश प्रत्यक्ष जैसे- अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान **सकल प्रत्यक्ष** है।

मतिज्ञान के पर्यायवाची-

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम् ।। १३ ।।

अर्थ- मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता एवं अभिनिबोध ये मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं, क्योंकि ये पाँचों ही मति ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ- १. इन्द्रिय और मन की सहायता से जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है उसे मति कहते हैं। न्यायशास्त्र में इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। जैसे- वह देवदत्त।

२. स्मृति- पहले जानी अथवा देखी हुई वस्तु को कालान्तर में स्मरण करना स्मृति है।

३. संज्ञा- संज्ञा का दूसरा नाम **प्रत्यभिज्ञान** है। वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर "यह वही है" इस प्रकार स्मरण एवं प्रत्यक्ष देखे गए जोड़रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। जैसे- यह वही पुरूष है जिसे हमने पहले देखा था, यह संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है।

न्यायशास्त्र में प्रत्यभिज्ञान के अनेकभेद बताए हैं, उनमें चार मुख्य हैं-

एकत्व प्रत्यभिज्ञान- किसी पुरूष को देखकर "यह वही पुरूष है जिसे पहले देखा था" ऐसा जोड़रूप ज्ञान एकत्व प्रत्यभिज्ञान है।

सादृश्य प्रत्यभिज्ञान- वन में गवय को देखकर ऐसा ज्ञान होना कि यह गवय मेरी गौ के समान है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।

तद्बिलक्षण प्रत्यभिज्ञान- भैंस को देखकर ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना कि ''यह भैंस मेरी गाय से बिलक्षण है'', तद्बिलक्षण प्रत्यभिज्ञान है।

तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान- निकट किसी वस्तु को देखकर पूर्व में देखी वस्तु का स्मरण करके ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना कि इससे वह दूर है, या ऊँची है, या नीची है, बड़ी है या छोटी है, ऐसा ज्ञान तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान है।

४. चिन्ता- चिन्ता का पर्यायवाची नाम **तर्क** है। न्यायशास्त्र में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं तथा साध्य के अभाव में साधन के अभाव को और साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव का व्याप्ति कहते हैं। जैसे ''अग्नि के अभाव में धुआँ नहीं होता'' एवं जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि अवश्य होती हैं, यह व्याप्त है और ऐसे ज्ञान को तर्क प्रमाण कहते हैं।

५. अभिनिबोध- इसका दूसरा पर्यायवाची नाम **अनुमान** हैं। जिसको सिद्ध किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे साधन कहते हैं। साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। जैसे- ''कहीं धुआँ उठता देखकर यह जान लेना कि वहाँ आग लगी है'', क्योंकि धुआँ उठ रहा है, यह अभिनिबोध है। ये सब ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। ये सभी मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं।

अब मतिज्ञान उत्पत्ति के कारण कहते हैं-

तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम् ।। १४ ।।

अर्थ- वह मतिज्ञान पाँचों इन्द्रियों की और अनिन्द्रिय अर्थात् मन की सहायता से होता है।

विशेषार्थ- इन्द्र अर्थात् आत्मा और आत्मा के चिन्ह विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। आत्मा तो सूक्ष्म है, दिखाई नहीं देता। अतः जिन चिन्हों से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्रिय यानि नामकर्म और उस नामकर्म से जो रची जाय, उसे इन्द्रिय कहते हैं।

जिज्ञासा- मन को अनिन्द्रिय क्यों कहाँ? क्योंकि मन भी तो आत्मा का चिन्ह है, उसके द्वारा भी आत्मा जानता है?

समाधान- यहाँ अनिन्द्रिय का तात्पर्य "इन्द्रिय नहीं" ऐसा मत लेना, किन्तु "किंचित इन्द्रिय" लेना। मन पूर्णतः इन्द्रिय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का तो स्थान भी निश्चित है और विषय भी निश्चित है, किन्तु मन का न तो कोई स्थान निश्चित है और न ही कोई विषय निश्चित है। मन की प्रवृत्ति सर्वत्र देखी जाती है, इसीलिए उसे अनिन्द्रिय कहा है। मन को अन्तःकरण भी कहते हैं।

अब मतिज्ञान के भेद कहते हैं-

अवग्रहेऽहावाय धारणाः।। १५ ।।

अर्थ- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बंध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन या दर्शनोपयोग कहते हैं।

१. अवग्रह- दर्शन के बाद हुए सफेद-काला आदि रूप विशेष के ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। जैसे नेत्र से सफेद रूप को जाना।

२. ईहा- अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा ईहा है। जैसे- यह सफेद रूप वाली वस्तु बगुला है या पताका है, यह ईहा है।

३. अवाय- विशेष चिन्हों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना अवाय है। जैसे- सफेद रूप वाली वस्तु के पंखों के हिलने, ऊपर-नीचे होने से यह निर्णय कर लेना कि यह बगुलों की पंक्ति ही है, अवाय है।

४. धारणा- अवाय से जानी हुई वस्तु को कालान्तर में नहीं भूलना, यह धारणा कहलाती है।

अब अवग्रह आदि ज्ञान के विषय बताते है-

बहु बहुविध क्षिप्रानिःसृतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणाम् ।। १६ ।।

अर्थ- बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव एवं इनके प्रतिपक्षी अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों का अविग्रह, ईहा आदि ज्ञान होता है।

विशेषार्थ - १. बहुज्ञान- एक जाति की बहुत वस्तुओं के ग्रहण को बहुज्ञान कहते हैं। जैसे- सेना या वन को एक समूह में जानना।

२. बहुविधज्ञान- बहुत प्रकार की वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुविध ज्ञान कहते हैं। जैसे- सैनिक, हाथी, घोड़े, आदि एवं वन में आम, महुआ, सागोन आदि भेदों को जानना।

३. क्षिप्रज्ञान- शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्रज्ञान है। जैसे- तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठे हुए, बाहर की वस्तुओं को जानना।

४. अनिःसृत ज्ञान- वस्तु के किसी एक भाग को देखकर सम्पूर्ण वस्तु के ज्ञान होने को अनिःसृत ज्ञान कहते हैं। जैसे- तालाब में डूबे हुए हाथी की सूँड को देखकर हाथी का ज्ञान होना।

५. अनुक्त ज्ञान- बिना कहे मात्र अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है। जैसे- सिर या आँख के इशारे से 'हाँ' या 'न' जानना।

६. ध्रुव ज्ञान- बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना अथवा पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुव ज्ञान है।

७. अल्पज्ञान (एक ज्ञान)- अल्प का अथवा एक का ज्ञान होना अल्पज्ञान है। जैसे- एक गाय अथवा एक मनुष्य का ज्ञान।

८. अल्पविध (एक विध)- एक प्रकार की वस्तु का ज्ञान एकविध ज्ञान है। जैसे- एक सदृश गेहूँ, चना आदि का ज्ञान।

९. अक्षिप्रज्ञान- धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े आदि को जानना अक्षिप्रज्ञान है। जैसे- मनुष्य, कछुआ, चींटी आदि।

१०. निःसृतज्ञान- सामने विद्यमान सम्पूर्ण वस्तु को जानना निःसृतज्ञान है। जैसे- सामने खड़ा हाथी, बैल आदि।

११. उक्तज्ञान- शब्द कहने (बोलने) पर जानना उक्त ज्ञान है। जैसे- यह मकान फला व्यक्ति का है/अच्छा है।

१२. अध्रुवज्ञान- चंचल विजली वगैरह को जानना अध्रुवज्ञान है। जैसे- इन्द्र धनुष आदि।

विशेषटीप- इस तरह अवग्रह के १२ भेद + ईहा के १२ भेद + अवाय के १२ भेद + धारणा के १२ भेद। ये सब मिलाकर ज्ञान के ४८ भेद होते हैं तथा प्रत्येक ज्ञान पाँच इन्द्रियों + एक मन से होता है। अतः ४८ भेदों को इन ६ (छः) से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद हो जाते हैं।

ये बहु-बहु विध किसके विशेषण है, यह कहते हैं-

अर्थस्य ।। १७ ।।

अर्थ- ये बहु, बहुविध आदि १२ भेद पदार्थ के ही विशेषण हैं। अर्थात् बहु यानि बहुत से पदार्थ, बहुविध यानि बहुत तरह के पदार्थ । इस प्रकार बारहों भेद पदार्थ के ही विशेषण हैं।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता बतलाते है-

व्यंजनस्यावग्रहः ।। १८ ।।

अर्थ- व्यंजन अर्थात् अस्पष्ट शब्द आदि का मात्र अवग्रह ही होता है, ईहा ज्ञान आदि नहीं होते।

विशेषार्थ- अवग्रह के दो भेद हैं- व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह।

१. व्यंजनावग्रह- अस्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को व्यंजनावग्रह कहते हैं।
२. अर्थावग्रह- स्पष्ट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे- कान में एक धीमी सी आवाज का भान होकर रह गया फिर, कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था? किसकी आवाज थी ऐसी अवस्था में मात्र व्यंजनावग्रह ही होकर रह जाता है। किन्तु शनैः शनैः वह आवाज यदि स्पष्ट हो जाती है, तो व्यंजनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और पश्चात् ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। अतः अस्पष्ट पदार्थ का मात्र अवग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थ के चारों ज्ञान होते हैं।

व्यंजनावग्रह ज्ञान की विशेषता बतलाते हैं-

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।। १९ ।।

अर्थ- आँख और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता। क्योंकि चक्षु एवं मन पदार्थ को दूर से ही जानते हैं, उससे भिड़कर नहीं जानते। जैसे- आँख में लगे अंजन

को आँख नहीं देख सकती किन्तु दूर स्थित पदार्थ देख सकती है। इसी तरह मन भी जिन पदार्थों के बारे में विचार करता है, वे उससे दूर ही होते हैं। शेष चारों इन्द्रियाँ अपने विषय को उससे भिड़कर ही जानती हैं।

इस तरह वहु, वहुविध आदि बारह विषयों की अपेक्षा से व्यंजनावग्रह के १२×४=४८ भेद होते हैं तथा सूत्र १६ में गिनाए गए २८८ भेदों में इन ४८ भेदों को मिला देने से मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं।

<u>श्रुतज्ञान का स्वरूप व भेद बताते हैं-</u>

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेक-द्वादशभेदम् ।। २० ।।

अर्थ- श्रुत-ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। और वह श्रुतज्ञान दो, अनेक एवं बारह भेद वाला है।

विशेषार्थ- मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं-

(१) **अंगवाह्य** और (२) **अंगप्रविष्ट** तीर्थंकर की दिव्यध्वनि को गणधर भगवन्तों ने अपनी स्मृति में रखकर १२ अंगों में संकलित कर लिया। यही **'अंगप्रविष्ट'** श्रुतज्ञान कहलाता है। चूंकि **'अंगग्रंथ'** महान व गंभीर होते हैं, अतः आचार्यों ने हम अल्पबुद्धि शिष्यों पर दया करके उनके आधार पर जिन ग्रंथों की रचना की, वे 'अंगबाह्य' कहलाते हैं। इनमें से अंगबाह्य के तो अनेक भेद हैं और <u>अंगप्रविष्ट के निम्नलिखित १२ भेद हैं-</u>

(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृधर्मकथांग (७) उपासकाध्ययनांग (८) अन्तःकृतदशांग (९) अनुत्तरोप-पादिक दशांग (१०) प्रश्न व्याकरणांग (११) विपाक सूत्रांग (१२) दृष्टिवाद अंग।

इन बारह भेदों में से दृष्टिवाद अंग के ५ भेद हैं-

(१) परिकर्म (२) सूत्र (३) प्रथमानुयोग (४) पूर्वगत (५) चूलिका।

(१) परिकर्म के भी ५ भेद हैं- (अ) व्याख्या प्रज्ञप्ति (ब) द्वीप- सागर प्रज्ञप्ति (स) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (द) सूर्य प्रज्ञप्ति (इ) चन्द्र प्रज्ञप्ति।

(२) सूत्र एवं **(३)** प्रथमानुयोग ये दोनों एक-एक ही हैं।

(४) पूर्वगत के १४ भेद हैं-

(१) उत्पाद पूर्व (२) अग्रायणी (३) वीर्यानुप्रवाद (४) अस्तिनास्ति प्रवाद (५) ज्ञान प्रवाद (६) सत्य प्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्म प्रवाद (९) प्रत्याख्यान (१०) विद्यानुप्रवाद पूर्व (११) कल्याणानुवाद पूर्व (१२) प्राणवाय प्रवाद पूर्व (१३) क्रियाविशाल पूर्व (१४) लोक बिन्दुसार।

(५) चूलिका के भी ५ भेद हैं-

(१) जलगता (२) स्थलगता (३) मायागता (४) आकाशगता एवं (५) रूपगता।

इन सबका विशेष विवरण 'सर्वार्थसिद्धि' राजवार्तिक 'श्लोकवार्तिक' आदि ग्रंथों से जानना चाहिए।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान के स्वामी-

भवप्रत्ययोऽवधिर्देव नारकाणाम् ।। २१ ।।

अर्थ- भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों एवं नारकियों के होता है।

विशेषार्थ- अवधिज्ञान के दो भेद हैं-

(१) भव प्रत्यय अवधिज्ञान– जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में भव अर्थात् पर्याय ही निमित्त होता है। अवधिज्ञान वीर्यान्तराय कर्म एवं अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है और क्षयोपशम व्रत, नियम आदि के आचरण से होता है, किन्तु देवों एवं नारकियों के व्रताचरण नहीं होता, अतः उनमें देव और नारकी का भव पाना ही क्षयोपशम के होने में कारण होता है।

(२) गुण प्रत्यय अवधिज्ञान– जो अवधिज्ञान व्रताचरण के द्वारा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम अर्थात् अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है, उसे गुणप्रत्यय या क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के भेद–

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।। २२ ।।

अर्थ– क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छः प्रकार का होता है और वह मनुष्य व तिर्यञ्चों के होता है।

विशेषार्थ– अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जिसमें निमित्त है, उसे क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान कहते हैं। यह क्षयोपशम निमित्तक या गुण प्रत्यय अवधिज्ञान छः भेद रूप है– अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयभान, अवस्थित एवं अनवस्थित।

(१) अनुगामी– जो अवधिज्ञान अपने स्वामीजीव के साथ दूसरे भव या क्षेत्र में भी जीव के साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं। यह भी तीन भेद रूप है– (क) क्षेत्रानुगामी (ख) भवानुगामी (ग) उभयानुगामी।

(२) अननुगामी– जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ न भवान्तर और न ही क्षेत्र में साथ जावे, वह अननुगामी है।

(३) **वर्धमान-** जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की कलाओं की तरह विशुद्ध परिणामों से बढ़ता ही जाता है, उसे वर्धमान कहते हैं।

(४) **हीयमान-** जो अवधिज्ञान कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने से घटता जाता है उसे हीयमान कहते हैं।

(५) **अवस्थित-** जो अवधिज्ञान जिस मर्यादा को लेकर उत्पन्न हुआ, उसी मर्यादा/अवस्था में रहे, न घटे, न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं।

(६) **अनवस्थित-** जो अवधिज्ञान घटे अथवा बढ़े उसे अनवस्थित कहते हैं।

अन्य ग्रन्थों में अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि एवं सर्वावधि भेद भी बताए हैं। इनमें देशावधि अवधिज्ञान तो चारों गतियों में हो सकता है, किन्तु परमावधि एवं सर्वावधि अवधिज्ञान चरम शरीरी- मुनिराजों को ही होता है। तीर्थंकरों के गर्भ से ही होता है।

मनःपर्ययज्ञान के भेद-

ऋजु विपुलमती मनःपर्ययः ।। २३ ।।

अर्थ- मनःपर्ययज्ञान के दो भेद है (१) ऋजुमति (२) विपुलमति।

विशेषार्थ- (१) **ऋजुमति-** दूसरे के मन में सरल रूप में स्थित, रूपी पदार्थ को जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है उसे ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान कहते हैं। अमूर्तिक द्रव्यों और मुक्तात्माओं के विषय में जो चिन्तन किया गया होगा, उसे ऋजुमति ज्ञान नहीं जान सकता। यह ज्ञान तो केवल देव, मनुष्य तिर्यंच इनके सभी के मन में स्थित विचार को जिसे मन, वचन और काय की चेष्टा के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया हो, उसी वस्तु को जानता है।

(२) **विपुलमति-** दूसरे के मन में गूढ़ अथवा जटिल रूप में स्थित पदार्थ को जानने वाला ज्ञान विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान चिन्तित, अचिन्तित और अर्धचिन्तित पदार्थ को भी जान लेता है।

ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता क्या हैं?

विशुद्ध्यप्रतिपाताम्याम् तद्विशेषः ।। २४ ।।

अर्थ- ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान में विशुद्धि एवं अप्रतिपात की अपेक्षा से विशेषता है।

विशेषार्थ- (१) **विशुद्धि-** मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मा में जो उज्जवलता उत्पन्न होती है, वह विशुद्धि है।

(२) **अप्रतिपात-** संयम परिणाम की वृद्धि होने से फिर गिरावट का न होना अप्रतिपात कहलाता है। ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति तो होकर छूट भी जाता है, किन्तु विपुलमति ज्ञान वाले का चारित्र वर्धमान होते रहने से वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है।

अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान में अन्तर-

विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्ययोः ।। २५ ।।

अर्थ- अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में विशुद्धि की अपेक्षा, क्षेत्र की अपेक्षा, स्वामी की अपेक्षा एवं विषय की अपेक्षा से अन्तर है।

विशेषार्थ- १. अवधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है, मनःपर्ययज्ञान उसके अनंतवें भाग सूक्ष्म रूपी-द्रव्य को जानता है।

२. अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान विशुद्ध है।

३. अवधिज्ञान की ''उत्पत्ति का क्षेत्र'' समस्त त्रसनाड़ी है, किंतु मनःपर्ययज्ञान मात्र मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होता है।

४. अवधिज्ञान के ''विषय का क्षेत्र'' समस्त लोक है, किंतु मनःपर्ययज्ञान के विषय का क्षेत्र ४५ लाख योजन के घन रूप ही है।

५. अवधिज्ञान चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के होता है, किन्तु मनःपर्ययज्ञान कर्मभूमिज संयमधारी मनुष्यों (योगियों) को ही होता है। वह भी वर्धमान चारित्र वालों के ही होता है, हीयमान चारित्र वालों के नहीं होता। वर्धमान चारित्र वालों में भी सात (७) प्रकार की ऋद्धियों में से एक-दो ऋद्धियों के धारी विशेष मुनियों के ही होता है।

विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेद को आचार्य भगवन् आगे कहेंगे। तथा केवल ज्ञान का स्वरूप भी अंतिम- दसवें अध्याय में कहेंगे।

मति एवं श्रुतज्ञान का विषय-

मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्व सर्वपर्यायेषु ।। २६ ।।

अर्थ- मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के विषय रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानते हैं, सभी पर्यायों को नहीं जानते ।

जिज्ञासा- धर्म-अधर्म द्रव्य तो अमूर्तिक हैं, वे मतिज्ञान के विषय नहीं हो सकते? अतः सभी द्रव्यों को मतिज्ञान जानता है, ऐसा कहना उचित नहीं है?

समाधान- यह आपत्ति ठीक नहीं लगती, क्योंकि मन की सहायता से होने वाला मतिज्ञान अमूर्तिक द्रव्यों में भी प्रवृत्ति कर सकता है। तथा मन पूर्वक अवग्रह

आदि ज्ञान होने पर फिर श्रुतज्ञान भी अपने योग्य पर्यायों को जान लेता है। अतः कोई दोष नहीं है।

अवधिज्ञान का विषय-

रूपिष्ववधेः ।। २७ ।।

अर्थ- अवधिज्ञान का विषय सम्बंध रूपी पदार्थों में है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है। यहाँ पूर्व सूत्र 'असर्वपर्यायेपु' पद ले लेना चाहिए।

विशेषार्थ- अवधिज्ञान मुक्त जीव को तथा अन्य अमूर्तिक द्रव्यों को नहीं जानता। वह तो अपने योग्य सूक्ष्म अथवा स्थूल पुद्गल द्रव्य की त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायों को ही जानता है।

मनःपर्यय ज्ञान का विषय-

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ।। २८ ।।

अर्थ- सर्वावधि (अवधि) ज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है, उसके अनन्तवें भाग को मनःपर्यय ज्ञान जानता है। अर्थात् अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान अत्यंत सूक्ष्म द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

जिज्ञासा- सर्वावधि ज्ञान का विषय तो परमाणु बतलाया है और उसके अनंतवें भाग को मनःपर्यय जानता है, ऐसा कहा है। सो परमाणु के अनन्त भाग कैसे हो सकते हैं?

समाधान- एक परमाणु में स्पर्श, रूप, रस, गंध गुण के अनंत अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति के अंश) पाये जाते हैं। अतः उनकी अपेक्षा से परमाणु का अनन्तवाँ भाग संभव (होना माना जा सकता) है।

केवलज्ञान का विषय-

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।। २९ ।।

अर्थ- केवलज्ञान का विषय संबंध सर्व द्रव्यों में और उनकी समस्त पर्यायों में है।

एक-एक द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्तानंत पर्यायें होती हैं, सो केवलज्ञान सर्व द्रव्यों को और सब द्रव्यों की त्रिकालवर्ती अनन्तानंत पर्यायों को युगपत एक समय में प्रत्यक्ष जानता है।

एक साथ एक आत्मा में कितने ज्ञान होते हैं? यह बताते हैं-

एकादीनिभाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ।। ३० ।।

अर्थ- एक आत्मा में एक साथ, एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं।

विशेषार्थ- यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है।

यदि दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान होता है।

यदि तीन हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान होते हैं। यदि चार हों तो मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्ययज्ञान होते हैं। केवलज्ञान क्षायिक है, अतः उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते।

मति-श्रुत-अवधिज्ञान में मिथ्यापन होता है-

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।। ३१ ।।

अर्थ- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

विशेषार्थ- इन तीनों ज्ञानों को क्रमशः कुमति, कुश्रुत एवं कुअवधि (विभंगावधि) भी कहते हैं। तात्पर्य यह कि यह तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि के भी होते हैं। जैसे कड़वी तुम्बी में रखा दूध कडवा हो जाता है। जैसे सर्प के मुख में गया मधुर दुग्ध भी विष रूप हो जाता है, उसी प्रकार जिस आत्मा में मिथ्यात्व का उदय है, उसके ज्ञान मिथ्या ही होते हैं।

ज्ञानों के मिथ्या होने का कारण-

सदसतोरविशेषाद्य दृच्छोपलब्धे रून्मत्तवत् ।। ३२ ।।

अर्थ- सत् अर्थात् विद्यमान एवं असत् अर्थात् अविद्यमान। अथवा सत् यानि अच्छे और असत् यानि बुरे। मिथ्यादृष्टि सत् और असत् के भेद को नहीं जानता और उन्मत्त पुरूष की तरह अपनी इच्छानुसार वस्तु को ग्रहण करता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या ही होता है।

जिज्ञासा- जैसे सम्यग्दृष्टि जीव मतिज्ञान के द्वारा स्पर्श, रूप, रस आदि को जानता है, श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर दूसरों को उपदेश देता है तथा अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर दूसरों को उपदेश देता है तथा अवधिज्ञान के द्वारा पदार्थों का निश्चय करता है, वैसे ही मिथ्या दृष्टि के रूप, रसादि विषयों के ग्रहण करने में कोई विपरीतता नहीं देखी जाती, फिर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्या क्यों कहा हैं?

समाधान- मदिरापायी मनुष्य उन्मत्त हुआ जैसे कभी माता को पत्नी कहता है, कभी पत्नी को माता कहता है तथा कभी माता को माता और पत्नी को पत्नी भी कहता है, किन्तु वह ठीक समझकर ऐसा नहीं कहता। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि घट, पट आदि पदार्थों को घट-पट ही जानता है, किन्तु मिथ्यात्व

का उदय होने से यथार्थ में वस्तु स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं है। इसी कारण से उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही माना जाता है।

प्रमाण का कथन करके नय के भेद बताते हैं-

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र शब्दसमभिरूढ़ैवंभूता नयाः ।। ३३ ।।

अर्थ- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, और एवंभूत ये सात नय हैं।

विशेषार्थ- वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता कर अन्य धर्मों का विरोध नहीं करते हुए पदार्थ का जानना **नय** कहलाता है। ये सात भेद रूप हैं-

(१) **नैगमनय-** जो भूत और भविष्यत् पर्यायों में वर्तमान का संकल्प करता है अथवा वर्तमान में जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई, ऐसी अनिष्पन्न पर्याय के अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है, उस ज्ञान को अथवा वचन को नैगमनय कहते हैं। जैसे लकड़ी, पानी, चावल आदि सामग्री इकट्ठा करने वाले व्यक्ति से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हो? तो वह उत्तर देता है कि भात पका रहा हूँ। परन्तु वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है, क्योंकि उसका संकल्प भात पकाने का है। अस्तु जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई, उसे निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है यह नैगमनय है।

(२) **संग्रहनय-** जो नय अपनी जाति का विरोध नहीं करके अनेक वस्तुओं को या उनकी पर्यायों को एक रूप से ग्रहण करता है, ऐसे ज्ञान या वचन को संग्रहनय कहते हैं। जैसे -जीव कहने से सब जीवों का, द्रव्य कहने से सब द्रव्यों का और पुद्गल कहने से समस्त पुद्गलों का ग्रहण होता है।

(३) **व्यवहारनय-** जो नय संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किए हुए ज्ञात पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करता है, वह व्यवहार नय है। जैसे- जीव के दो भेद हैं- संसारी और मुक्त। संसारी के भी मनुष्य, देव, तिर्यंच आदि भेद है। द्रव्य के भी जीव-पुद्गल आदि छः भेद हैं। पुद्गल भी दो भेद रूप हैं- अणु और स्कन्ध। यह नय तब तक भेद करता जाता है जहां तक भेद हो सकते हैं।

(४) **ऋजुसूत्रनय-** जो नय भूत एवं भविष्यत् पर्यायों को छोड़कर वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, उस ज्ञान और वचन को ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

(५) **शब्दनय-** जो नय लिंग, संख्या, साधन, कारक आदि के व्यभिचार दोष को दूर करता है, ऐसे ज्ञान और वचन को शब्दनय कहते हैं। जैसे- भार्या (स्त्रीलिंग), दारा (पुलिंग), कलत्र (नपुंसक लिंग), ये तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होने पर भी एक ही स्त्री पर्याय के वाचक हैं, किन्तु यह शब्दनय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद से तीन भेद रूप मानता है।

(६) **समभिरूढ़ नय-** जो नय अनेक अर्थों का उल्लंघन कर रूढ़ि से एक अर्थ को ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे- इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों शब्द इन्द्र के ही नाम हैं किन्तु यह नय तीनों शब्दों के भिन्न-भिन्न धर्मों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

(७) **एवंभूतनय-** जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है, उस क्रिया रूप वह पदार्थ परिणमन करे, उस परिणमें रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाला वचन व ज्ञान एवंभूतनय है। जैसे- पूजा करते हुए व्यक्ति को ही पुजारी कहना। इस प्रकार सातों नयों का स्वरूप कहा।

विशेष- इनका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। संक्षेप में नय के दो भेद हैं- (१) द्रव्यार्थिक एवं (२) पर्यायार्थिक!

नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहार नय ये तीनों द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजूसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय ये चारों पर्यायर्थिक नय हैं। ये नय परस्पर सापेक्ष होते हैं। निरपेक्ष मिथ्या माने जाते हैं।

इति तत्त्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः

卐

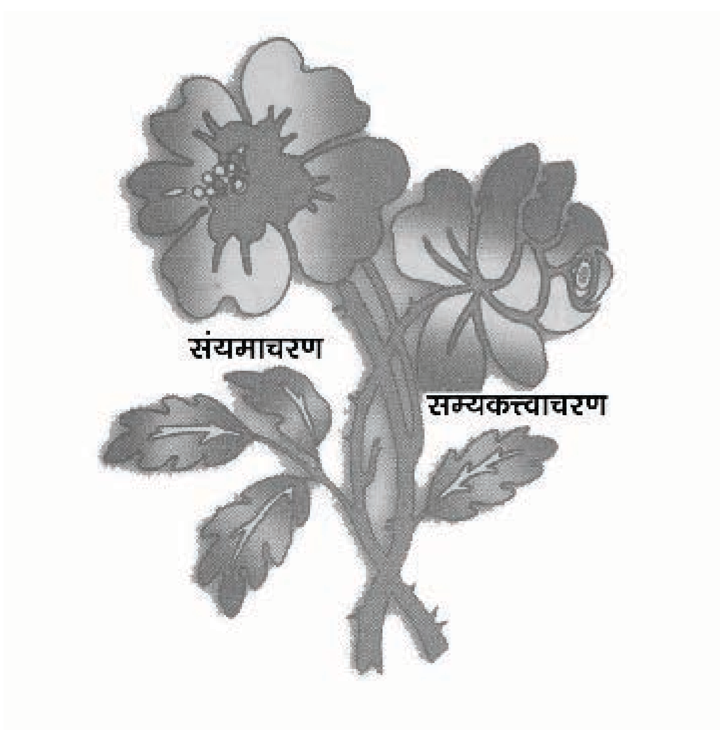

भव्य/अभव्य की पहचान-

केवली भगवान जिनके घातिकर्म नष्ट हो गए हैं उनके सर्व सुखों में उत्कृष्ट सुख है, जिनके ऐसी श्रद्धा नहीं है, वे अभव्य हैं, वे इन्द्रिय सुख को ही सुख मानते हैं। और जो केवलियों के ही सर्वोत्कृष्ट सुख है, ऐसा स्वीकारते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि मोक्षलक्ष्मी के पात्र निकट भव्य होते हैं।

-६२/प्रवचनसार/आ० कुंदकुद स्वामी

भावों की निर्मलता से जो शुभ राग होता है, वह शुभोपयोग मोक्ष प्राप्ति में सहकारी, अतिशय पुण्यकर्म को बाँधता है। जैसे तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि। तात्पर्य यह कि इस काल में अरिहंत-भक्ति आदि शुभोपयोग के मार्ग में वर्तना चाहिए, शुभोपयोग शुद्धोपयोग में पहुँचने के लिए सीढ़ी है।

-६८-७८ प्रवचनसार परमागम

जो पुरूष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय के आराधन करने वाले हैं, वे ही दान देने, पूजा, गुणानुवाद, प्रशंसा आदि तथा नमस्कार करने के योग्य होते हैं, और कोई नहीं, क्योंकि वे स्वयं मोक्षमार्ग पर चलते हुए भक्तजनों को साक्षात् मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले होते हैं।

-८२/ प्रवचनसागर परमागम

पौदगलिक सुख तो पराधीन व क्षणमात्र का है, मिथ्या ही है। सच्चा सुख तो इससे भिन्न ही कोई होना चाहिए, जिस होनहार पुरूष को ऐसा लगने लगे, तब उसके अंतरंग में आत्म पुरूषार्थ करने की तीव्र उत्कंठा अवश्य उत्पन्न होगी।

-श्रमण मनोज्ञ सागर

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(जीव के असाधारण भाव)

औपशमिक क्षायिकौभावौ मिश्रश्चजीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।।१।।

अर्थ- औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और परिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व निजी भाव हैं। ये भाव जीव के अलावा अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाते, अतः इन्हें जीव के स्वतत्त्व कहा है। मिश्र का दूसरा नाम क्षायोपशमिक भी है।

विशेषार्थ- (१) **औपशमिक भाव-** कर्म के उपशम से आत्मा में जो भाव होता है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। जैसे- मैले पानी में निर्मली (फिटकरी) मिला देने से मैल नीचे बैठ जाता है और पानी स्वच्छ दिखने लगता है, वैसे ही कारण के मिलने पर प्रतिपक्षी कर्म की शक्ति के दब जाने से आत्मा में निर्मलता का होना, औपशमिक भाव है।

(२) **क्षायिक भाव-** कर्म के सम्पूर्ण क्षय से आत्मा का जो भाव होता है, वह क्षायिक भाव है। जैसे- उस स्वच्छ जल को जिसका मैल (गंदगी) नीचे बैठ गया है, किसी स्वच्छ बर्तन में निकाल लेने पर मात्र निर्मल जल ही रह जाता है, वैसे ही प्रतिपक्षी कर्म का पूर्णतया अभाव होने से आत्मा में जो निर्मलता होती है, वह क्षायिक भाव है।

(३) **मिश्र या क्षायोपशमिक भाव-** प्रतिपक्षी कर्म के सर्वधाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय तथा आगे उदय में आने वाले कर्म के निषेकों का सत्ता में उपशम होने से एवं देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होते हुए भी जो भाव होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जैसे- स्वच्छ किए जल को दूसरे बर्तन में

निकालते समय कुछ मैल मिश्रित जल साथ में चला जावे, ऐसे ही मिश्र भाव को क्षायोपशमिक भाव कहा है।

(४) **औदयिक भाव-** द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म का फल देना उदय है और उदय से जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं।

(५) **पारिणामिक भाव-** जो भाव कर्म की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही होता है, वह परिणामिक भाव है।

अब भावों के भेद कहते हैं-

द्विनवाष्टादशैकविंशति त्रिभेदा-यथाक्रमम् ।। २ ।।

अर्थ- ऊपर कहे गए पाँच भाव क्रम से दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद वाले हैं। अर्थात्

औपशमिक भाव के दो भेद हैं।

क्षायिक भाव के नौ भेद हैं।

मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव के अठारह भेद हैं।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

औपशमिक भाव के भेद बताते हैं-

सम्यक्त्व-चारित्रे ।। ३ ।।

अर्थ- औपशमिक भाव के दो भेद हैं- (१) औपशमिक सम्यक्त्व और

(२) औपशमिक चारित्र।

द्वितीय अध्याय

विशेषार्थ- (१) औपशमिक सम्यक्त्व- अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) औपशमिक चारित्र- मोहनीय कर्म की समस्त इक्कीस प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है, उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। यह ग्यारहवें गुण स्थान में होता है।

<u>उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं-</u>

(१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व

प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से छूटने पर जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम है और उपशम श्रेणी चढ़ते समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जो उपशम सम्यक्त्व होता है, वह द्वितीयोपशम कहलाता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व गुण स्थान में पाँच लब्धियाँ होती हैं-

(१) क्षयोपशम लब्धि- जब अशुभ कर्म प्रतिसमय अनंतगुणी कम-कम शक्ति को लिए हुए उदय मे आते हैं अर्थात् पहले समय में जितना फल दिया, दूसरे समय में उससे अनंतगुणा कम, तीसरे समय में उससे भी अनंतगुणा कम, इस तरह प्रति समय अनंतगुणा घटता हुआ कर्मोदय जिस काल में होता है, तब क्षयोपशम लब्धि होती है।

(२) विशुद्धि लब्धि- क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव से धर्मानुराग रूप शुभ परिणामों का होना विशुद्धि लब्धि है।

(३) **देशना लब्धि-** आचार्य, उपाध्याय, मुनि आदि के द्वारा उपदेश का लाभ होना देशना लब्धि है। किन्तु जहाँ उपदेश देने वाला न हो, जैसे चौथे आदि नरकों में, वहाँ पूर्व भव में सुने हुए उपदेश की धारणा के बल पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

(४) **प्रायोग्य लब्धि-** उपरोक्त तीनों लब्धियों वाला जीव प्रतिसमय अधिक - अधिक विशुद्ध होता हुआ आयु कर्म के अलावा शेष कर्मों की स्थिति जब अन्तः कोटा कोटी सागर प्रमाण बाँधता है एवं विशुद्ध परिणामों के कारण वह बंधी हुई स्थिति संख्यात हजार सागर कम हो जाती है, उसे प्रायोग्य लब्धि कहते हैं।

(५) **करण लब्धि-** प्रारंभ की चार लब्धियाँ तो भव्य एवं अभव्य दोनों के हो जाती हैं, किन्तु करण लब्धि भव्य के ही होती है और जब सम्यक्त्व होना होता है, तभी होती है। करण लब्धि में अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन तरह के परिणाम कषायों की मंदता को लिए हुए क्रमवार होते हैं। इनमें से अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है।

आगे क्षायिक भाव के नौ भेद कहते हैं-

ज्ञानदर्शन-दान लाभभोगोपभोग वीर्याणि च ।। ४ ।।

अर्थ- केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा 'च' शब्द से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ क्षायिक भाव है।

विशेषार्थ- (१) **केवलज्ञान-** ज्ञानावरण कर्म के पूर्णतया क्षय होने से केवलज्ञान होता है।

(२) **केवलदर्शन-** दर्शनावरण कर्म के पूर्णक्षय से केवल दर्शन होता है।

(३) **क्षायिक दान-** दानान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से दिव्य ध्वनि वगैरह के द्वारा अनंत प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है।

(४) **क्षायिक लाभ-** लाभान्तराय का अत्यंत क्षय होने से भगवान के शरीर को बल देने वाले जो परम सूक्ष्म नोकर्म पुद्‌गल (वर्गणायें) प्रति समय केवली के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं, जिनमें केवली का औदारिक शरीर कुछ कम एक कोटी पूर्व तक बना रहता है, वह क्षायिक लाभ है।

(५) **क्षायिक भोग-** भोगान्तराय कर्म अत्यन्त क्षय होने से सुगन्धित पुष्प वर्षा, मन्द-सुगंधित वायु का बहना आदि क्षायिक भोग है।

(६) **क्षायिक उपभोग-** उपभोगान्तराय कर्म का अत्यंत क्षय होने से सिंहासन, तीन छत्र, भामंडल आदि का होना क्षायिक उपभोग है।

(७) **क्षायिक वीर्य-** वीर्यान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से क्षायिक वीर्य होता है।

(८) **क्षायिक सम्यक्त्व-** मोहनीय कर्म की ऊपर कही सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

(९) **क्षायिक चारित्र-** समस्त मोहनीय कर्म के अभाव हो जाने से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है।

यहाँ इतना विशेष जानना कि सिद्धों में ये भाव इन रूपों में नहीं होते, क्योंकि सिद्धों में किसी कर्म का सदभाव नहीं है। सिद्धों के सब कर्मों के क्षय से होने वाले क्षायिक दान आदि भाव **अनन्तवीर्य** और **बाधा रहित अनन्त सुख** के रूप में ही सिद्धों में रहते हैं।

द्वितीय अध्याय

आगे औपशमिक भाव के अठारह भेद बताते हैं-

ज्ञानाज्ञानदर्शन लब्धयश्चतुस्त्रित्रि पंचभेदाः सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च ।। ५ ।।

अर्थ- चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धियाँ और सम्यक्त्व, चारित्र एवं संयमासंयम ये अठारह भेद क्षायोपशमिक भाव के भेद हैं।

विशेषार्थ- (१) चार ज्ञान- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान।

(२) **तीन अज्ञान-** कुमति, कुश्रुत, कुअवधि।

(३) **तीन दर्शन-** चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन।

(४) **पाँच लब्धियाँ-** क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग एवं क्षायोपशमिक वीर्य। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र तथा संयमासंयम अर्थात् देशव्रत, ये अठारह भाव क्षायोपशमिक हैं, क्योंकि ये भाव अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

आगे औदयिक भाव के इक्कीस भेद बताते हैं-

गति-कषाय-लिंग मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ।। ६ ।।

अर्थ- चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व एवं छः लेश्यायें ये इक्कीस औदयिक भाव के भेद हैं।

विशेषार्थ- चार गतियाँ- मनुष्य गति, नरकगति, देवगति एवं तिर्यंच गति। ये गति नाम कर्मोदय से होती हैं।

चार कषाय- क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषाय, ये कषायें चारित्र मोहनीय का भेद कषाय-वेदनीय के उदय से होती हैं।

तीन लिंग- स्त्रीवेद, पुरूषवेद एवं नपुंसक वेद। चारित्र मोहनीय का भेद नो-कषाय है और नो- कषाय के भेद से यहाँ स्त्री-पुरूष तथा दोनों से रमण की इच्छा रूप भाव-वेद का कथन है।

मिथ्यादर्शन- दर्शन मोह के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करने रूप मिथ्यादर्शन भाव होता है।

अज्ञान- ज्ञानावरण कर्म के उदय से न जानने रूप अज्ञान भाव होता हैं।

असंयम भाव- चारित्र मोह के उदय से प्राणियों की हिंसा एवं इंद्रिय विषयों से विरक्त न होने रूप असंयत भाव होता है।

असिद्धत्व भाव- कर्म मात्र का उदय होने से सिद्ध पर्याय की प्राप्ति की इच्छा न होने रूप असिद्धत्व भाव होता है।

छः लेश्यायें- लेश्या दो प्रकार की होती हैं- द्रव्य लेश्या एवं भाव लेश्या। जीव के भावों का अधिकार होने से यहाँ भाव लेश्या का कथन मात्र है। कषायों के उदय से रंजित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। वह छः भेद रूप है- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

<u>जिज्ञासा</u>- आगम में ग्यारहवें उपशांतकषाय, बारहवें क्षीणकषाय, तेरहवें सयोग केवली नाम के गुण स्थानों में लेश्या कही है, किंतु इन गुण स्थानों में कषाय का उदय नहीं है, तब वहाँ लेश्या कैसे संभव है?

<u>समाधान</u>- इन गुण स्थानों में कषाय का उदय न होने पर भी पूर्व भाव-प्रज्ञापन-नय की अपेक्षा से लेश्या कही है। अर्थात् पूर्व में निचले गुण स्थानों में यही योग कषाय से रंजित था। अब इन गुणस्थानों में कषाय का उदय तो रहा

नहीं, परन्तु योग तो वही है, इसलिए उपचार से लेश्या कही है तथा अयोग केवली के योग प्रवृति नहीं होने से वे लेश्या रहित कहे जाते हैं।

लेश्याओं में संक्रमण भी होता है और यह दो प्रकार का है-

(१) स्वस्थान संक्रमण

(२) परस्थान संक्रमण

एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने को संक्रमण कहते हैं। यदि वह उसी लेश्या में है, तो स्व-स्थान संक्रमण है और यदि एक लेश्या से दूसरी में होता है। तो पर-स्थान संक्रमण है। उसमें से कृष्ण और शुक्ल लेश्या का वृद्धि में नियम से स्वस्थान संक्रमण ही होता है। हानि में स्व-स्थान और पर-स्थान दोनों संक्रमण होते हैं। अर्थात् कृष्ण लेश्या में स्थित व्यक्ति के संक्लेश की वृद्धि कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंश पर्यन्त ही होती है तथा शुक्ल लेश्या में स्थित व्यक्ति के विशुद्धि की वृद्धि, शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश तक ही होती है।शेष नील, कापोत, तेज (पीत) एवं पद्म इन चार लश्याओं में, संक्लेश में वृद्धि तथा विशुद्धि में वृद्धि और संक्लेशता में हानि तथा विशुद्धि में हानि दोनों तरह का संक्रमण होता है।

अब भाव लेश्या तथा लेश्याओं में स्थित जीवों के लक्षण क्या हैं? उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है? यह कहते हैं-

१. कृष्ण लेश्या- जो तीव्र क्रोधी हो, बैर न छोड़े, लड़ाई करने का स्वभाव हो, दया धर्मसे रहित हो, दुष्ट-निर्दयी हो, स्वच्छंदी हो, स्पर्शेन्द्रिय आदि विषयों में लम्पटी हो, तीव्र कुटिलवृत्ति वाला (मायाचारी) हो, दूसरे जिसका अभिप्राय ने जान सकें। ये कृष्ण लेश्या वाले जीव के लक्षण हैं।

२. नील लेश्या- बहुत सोता हो, दूसरों को छलपूर्वक तरह-तरह से ठगता हो, आलसी हो, मंद बुद्धि हो, ईर्ष्या करने वाला हो, मायाचारी में पारंगत हो, धन-धान्य सम्पत्ति की तीव्र लालसा हो, ये नील लेश्या के लक्षण हैं।

३. कापोत लेश्या- जो दूसरों पर क्रोध करने में, दूसरो की निंदा करने में दूसरों को दोष लगाने में तत्पर रहता हो, शोक करता हो, दूसरों का अच्छा न देख सकता हो, अपनी प्रशंसा में परम प्रसन्न रहता हो, यहाँ तक की युद्ध में मरण तक चाहे तथा अपना कार्य-अकार्य न जाने, ये सब कापोत लेश्या वाले के लक्षण हैं।

४. पीत लेश्या- जो भक्ष्य-अभक्ष्य, सेव्य-असेव्य, कार्य-अकार्य को समझने बाला हो, पक्षपात से रहित हो, सब पर समान दृष्टि रखता हो, दया और दान में प्रीति रखता हो, मन-वचन-कार्य से कोमल परिणामी हो, ये तेजो लेश्यावाले के लक्षण हैं।

५. पद्म लेश्या- जो व्रती त्यागी हो, भद्र-समता परिणामी हो, सरल स्वभावी हो, धार्मिक आदि शुभ कार्यों में उद्यमी रहता हो, सहनशील हो, मुनिराज-गुरुजनों की पूजा सेवा में प्रीतिवान हो, ये पद्म लेश्या वाले के लक्षण हैं।

६. शुक्ल लेश्या- जो पक्षपात न करे, निदान न बांधे, सब में समदृष्टि वाला हो, इष्ट में राग व अनिष्ट में द्वेष न करे, पुत्र-स्त्री तथा शिष्यों में रागी न हो, ये शुक्ल लेश्या वाले के लक्षण हैं।

(गाथा ५०६ से ५१७/गो. जीव काण्ड)

किस लेश्या वाले के मन-वचन और काय से क्या कार्य होता है, यह बताते हैं आचार्य भगवन् (गाथा ५०७ और ५०८ में) इसे स्पष्ट करते हैं-

द्वितीय अध्याय

उदाहरण- कृष्ण लेश्या आदि एक-एक लेश्या वाले छः पथिक मार्ग भूल गए। वन के मध्य में जामुन के फलों से लदे हुए एक वृक्ष को देखकर वे सभी अपनी-अपनी भाव लेश्या के अनुसार विचार करते हैं।

१. कृष्ण लेश्या वाला विचारता है कि वृक्ष को जड़ से उखाड़कर (काटकर) फिर आराम से इसके फल खाऊँगा।

२. नील लेश्या वाला विचारता है कि इस वृक्ष के स्कंध (मोटे तनों) को काटकर उसमे लगे फल खाऊँगा।

३. कापोत लेश्या वाला विचार करता है कि इस वृक्ष की एक बड़ी डाल को काटकर उसके फल खाऊँगा।

४. पीत लेश्या वाला विचारता है कि फलों से लदी पतली डाली अर्थात् झोंर तोड़कर उसके फल खाऊँगा। पेड़ को या मोटी-मोटी डालियों को काटने से क्या प्रयोजन।

५. पद्म लेश्या वाला कहता है कि भैया वृक्ष को कोई हानि न पहुँचाकर केवल पके फल ही तोड़कर (झूंडकर) हम अपनी क्षुधा शांत कर सकते हैं।

६. शुक्ल लेश्या वाला कहता है इन सब निरर्थक उद्यमों को करने की क्या आवश्यकता है? हम सभी इतने सारे नीचे गिरे हुए पके फलों को लेकर उनसे अपनी क्षुधा शांत कर सकते हैं।

मनीषियो! इन छः लेश्याओं वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति, वचन एवं मन का चिंतन आपने उपरोक्त उदाहरण के माध्यम से समझा, जाना। इसे जीवन की प्रत्येक क्रिया में लगाना चाहिए और हमारी भी प्रवृत्ति, हमारे विचार कैसे चल रहे हैं? यह जानकर उस अशुभ धारा को पुरूषार्थ पूर्वक (नियंत्रित करना) बदलना चाहिए। क्योंकि कषायों को रोके बिना बंध भी नहीं रूक सकता।

कषायों के रूकने से मूल से आस्त्रव व बंध रूक जाता है, ऐसा आगम वचन है।

"रूद्धेषु कषायेसु य मूलादि होति आसवा रूद्धा।" - मूलाचार

अब आगे परिणामिक भाव के तीन भेद कहते हैं-

जीव भव्याभव्यत्वानि च ।। ७ ।।

अर्थ- जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये जीव के असाधारण पारिणामिक भाव हैं। सूत्र में आए 'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व आदि सामान्य गुणों का भी ग्रहण होता है। ये भाव जीव के अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं होते तथा इनके होने में किसी कर्म का उदय भी कारण नहीं है, इसीलिए यह असाधारण पारिणामिक भाव कहलाते हैं।

विशेषार्थ- (१) **जीवत्व भाव-** जीव का अर्थ है 'चैतन्य'। और चैतन्य जीव का स्वाभाविक गुण है।

(२) **भव्यत्व भाव-** जिसमें सम्यग्दर्शन अर्थात् रत्नत्रय आदि परिणामों को प्रकट करने की, मोक्ष जाने की योग्यता है, वह भव्य जीव है।

(३) **अभव्यत्व भाव-** जिस आत्मा में रत्नत्रय प्रकट करने की, मोक्ष जाने की योग्यता का अभाव है, वह अभव्य जीव हैं। जैसे- ठर्रा मूंग अग्नि पर कितनी भी पकाओ वह कभी सीजती (पकती) नहीं। ऐसे ही अभव्य कभी मोक्ष नहीं जायेगा।

जिज्ञासा- औपशमिक आदि पाँच भाव कर्म बंध की अपेक्षा से बतलाए गए हैं। किन्तु आत्मा अमूर्तिक है, अतः अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक कर्मों से कैसे बँध सकता है?

समाधान- आत्मा एकान्त से अमूर्तिक ही नहीं है, कर्मबंध की अपेक्षा से तो मूर्तिक है। क्योंकि अनादिकाल से संसारी आत्मा कर्म पुद्गलों से दूध पानी की तरह मिला हुआ है, फिर भी अपने चैतन्य स्वभाव को छोड़कर आत्मा कभी पुद्गल रूप नहीं होता।

जीव का लक्षण क्या है? यह बताते हैं-

उपयोगो लक्षणम् ।। ८ ।।

अर्थ- जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्य के होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। लक्षण का अर्थ है पहिचानना बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को भिन्न दिखाने वाला हेतु **लक्षण** कहलाता है।

आगे उपयोग के भेद कहते हैं-

स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः ।। ९ ।।

अर्थ- वह उपयोग दो प्रकार का है। (१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत एवं कुअवधि ये तीन अज्ञान।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन।

दर्शन और ज्ञान में साकार और अनाकार का भेद है। पदार्थ का आकार न लेकर जो सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शन है अतः दर्शन निराकार है।

उसके बाद पदार्थ के आकार आदि रूप के जानने को ज्ञान कहते हैं अतः ज्ञान साकार है। छद्मस्थ पदार्थों को क्रम से जानता है, किन्तु केवली भगवान

के दर्शन और ज्ञान युगपत (एक साथ) होते हैं। दर्शन और ज्ञान में ज्ञान प्रधान है इसीलिए सूत्र में ज्ञान के भेद पहले कहे हैं।

जीव के भेद बताते हैं-

संसारिणो मुक्ताश्च ।। १० ।।

अर्थ- जीव दो भेद वाले हैं- (१) संसारी और (२) मुक्त।

कर्म सहित जीव को संसारी कहते हैं और कर्मों से रहित जीव को मुक्त कहते हैं।

विशेषार्थ- संसार का तात्पर्य है परिभ्रमण करना। इसी को परिवर्तन/परावर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन पाँच प्रकार का है- (१) द्रव्य परिवर्तन (२) क्षेत्र परिवर्तन (३) काल परिवर्तन (४) भव परिवर्तन एवं (५) भाव परिवर्तन।

(१) द्रव्य परिवर्तन या

द्रव्य संसार- इसके २ भेद हैं- कर्म द्रव्य परिवर्तन और नोकर्म द्रव्य परिवर्तन।

(क) कर्म द्रव्य परिवर्तन- कर्मबन्ध के पाँच कारण हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं। क्योंकि ये मोहनीय कर्म के भेद हैं और सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान एवं बलवान है। मोहनीय के अभाव में संसार परिभ्रमण का चक्र ही रूक जाता है। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रति समय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयुकर्म सदा नहीं बँधता, अतः सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को ही

प्रति समय ग्रहण करता है और आबाधा काल पूरा हो जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ देता है। किसी जीव ने विवक्षित समय में ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रति समय ग्रहण किया और आबाधा काल बीत जाने पर उन्हें भोग कर छोड़ दिया। उसके बाद **अनंत बार अगृहीत को ग्रहण करके अनन्त बार मिश्र को ग्रहण करके और अनंत बार गृहीत को ग्रहण करके छोड़ दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भावों को लेकर, उसी जीव के बैसे ही परिणामों से पुनः कर्म रूप परिणत होते हैं, उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।**

(ख) **नोकर्म द्रव्य परिवर्तन-** इसी तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने औदारिक, वैक्रियिक और आहारक, इन तीन शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण किया और भोग कर छोड़ दिया। **पूर्वोक्त क्रम के अनुसार जब वे ही नोकर्म पुद्गल उसी रूप, रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुनः नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते हैं, उसे नोकर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।** कहा भी है-

''सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुतुज्झिया य जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट संसारे।।'' गो.जीव.

'पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा' ।

(२) **क्षेत्र परिवर्तन-** लोकाकाश के ३४३ राजुओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके हैं और मर चुके हैं। क्षेत्र परिवर्तन के २ भेद हैं- स्वक्षेत्र परिवर्तन, परक्षेत्र परिवर्तन ।

द्वितीय अध्याय

(अ) **स्वक्षेत्र परिवर्तन-** कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव अपनी जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया । पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है । इस प्रकार **छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।**

(ब) **परक्षेत्र परिवर्तन-** कोई जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ । पीछे वही जीव उसी रूप से उसी स्थान में दूसरी बार, तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार घनांगुल के असंख्यात्वें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। **पीछे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, यह परक्षेत्र परिवर्तन है।** कहा है-

"सव्वह्मि लोयखेते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पणं ।
ओगाहणाए बहुसो परिभमिता खेत्तसंसारे ।।" गो.जीव.

'समस्त लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ क्षेत्र रूप संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक अवगाहनाओं को लेकर यह जीव क्रमशः उत्पन्न न हुआ हो।'

३. काल परिवर्तन- कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे

समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। यही क्रम अवसर्पिणी काल के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इस क्रम से उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के बीस कोड़ाकोड़ी सागर के जितने समय हैं, उनमें उत्पन्न हुआ तथा इसी क्रम से मरण को प्राप्त हुआ। अर्थात् **उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरा इसे काल परिवर्तन कहते हैं।** कहा है-

"उस्सप्पिणि अवसप्पिणि समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे।।" गो.जीव.

अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा ।

४. भव परिवर्तन- नरक गति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है, इस आयु को लेकर कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पुनः उसी आयु को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं, उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंच गति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य समाप्त करता है। फिर तिर्यंच गति की ही तरह मनुष्य गति में भी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की आयु समाप्त करता है। पीछे नरक गति की तरह देवगति की आयु को भी समाप्त करता है। किन्तु देव गति में इतनी विशेषता है कि वहाँ इक्कतीस सागर की ही उत्कृष्ट आयु को पूर्ण करता है, क्योकि ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर की ही होती

है और मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है। इस प्रकार **चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भव परिवर्तन कहते हैं।** कहा भी है–

"णिरयादि अहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा ।

मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदा ।।" गो.जीव.

'नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयक पर्यन्त के सब भवों में यह जीव मिथ्यात्व के आधीन होकर अनेक बार भ्रमण करता है।'

५. भाव परिवर्तन– योग स्थान, अनुभागबंध अध्यावसाय स्थान, कषाय अध्यावसाय स्थान और स्थिति स्थान, इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध के कारण आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द रूप योग के तरतम रूप स्थानों को योगस्थान कहते हैं। अनुभागबन्ध के कारण कषाय के तरतम स्थानों को अनुभागबंध अध्यवसाय स्थान कहते हैं। स्थितिबन्ध के कारण कषाय के तरतम स्थानों को कषाय स्थान या स्थितिबंध अध्यवसाय स्थान कहते हैं। बंधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थिति स्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणी के असंख्यात्वें भाग प्रमाण है। अनुभागबंध अध्यवसाय स्थान असंख्यात् लोक प्रमाण है। कषायबंध अध्यवसाय स्थान भी असंख्यात् लोक प्रमाण हैं।

कोई मिथ्यावृष्टि, सैनी, पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरण कर्म की अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बांधता है। उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभागस्थान और जघन्य ही योग स्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषायस्थान और अनुभागस्थान को प्राप्त, जीव के दूसरा योग स्थान होता है। जब सब योग स्थानों को समाप्त कर देता

है, तब उसी स्थिति और उसी कषायस्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त जानने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग के साथ सब योग स्थानों को समाप्त करता है। अनुभाग स्थानों के समाप्त होने पर, उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषायस्थान होता है। इस कषायस्थान के अनुभागस्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इस प्रकार सब कषाय स्थानों की समाप्ति तक अनुभागस्थान और योग स्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिए।

कषाय स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बांधता है। उसके भी कषाय स्थान, अनुभागस्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषायस्थान, अनुभागस्थान और योगस्थानों का क्रम जानना चाहिए। इसी प्रकार सभी मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक मूल-प्रकृति और प्रत्येक उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषायस्थानों, अनुभागस्थानों और योगस्थानों को पहले की ही तरह लगा लेना चाहिए। इस प्रकार **सब कर्मों की स्थितियों के भोगने को भाव परिवर्तन कहते हैं।** इन परिवर्तनों को पूर्ण करने में जितना काल लगता है, उतना काल उस-उस परिवर्तन के नाम से कहाता है। कहा भी है-

''सव्वा पयडिट्ठिदीओ अणुभागपदेस बंधठाणाणि।

मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे।।

'इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के स्थानों को प्राप्त कर भाव संसार में परिभ्रमण किया।'

इस प्रकार अनेक दुःखों की उत्पत्ति के कारणभूत इन पाँच प्रकार के संसार में यह जीव मिथ्यात्व रूपी दोष के कारण अनंत काल तक भ्रमण करता रहता है। जब इस जीव को सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है, तब पंच परावर्तन समाप्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि सम्यकत्व से च्युत होकर अधिक से अधिक संसार में भ्रमण करे, तो वह अर्ध पुद्‌गल परावर्तन मात्र काल तक भ्रमण करता है, जो कि द्रव्य परिवर्तन के अन्तर्गत नो कर्म पुद्‌गल परावर्तन काल के समान है। किन्तु यह भी अनन्त काल सदृश होने से अनन्त कहलाता है।

इस पंच परिवर्तन रूप संसार से जो जीव छूट जाते हैं, वे मुक्त कहलाते हैं। चूंकि संसार पूर्वक ही जीव मुक्त होते हैं, इसलिए सूत्र में संसारी जीव को प्रथम रखा है।

अब संसारी जीव के भेद बताते हैं-

समनस्काऽमनस्काः ।।११।।

अर्थ- संसारी जीव दो प्रकार होते हैं (१) मन सहित अर्थात् संज्ञी एवं
(२) मनरहित अर्थात् असंज्ञी।

संज्ञी जीव के मन होने से वह शिक्षा/उपदेश आदि ग्रहण कर सकते हैं इशारे वगैरह को समझ सकते हैं, बुलाने पर आ जाते हैं। सोचने विचारने की शाक्ति रखते हैं। किन्तु असंज्ञी जीव ये सब उपदेश, संकेत आदि ग्रहण नहीं कर सकते।

द्वितीय अध्याय

संसारी जीव के अन्य प्रकार से भेद-

संसारिणस्त्रस-स्थावराः ।।१२।।

अर्थ- संसारी जीव त्रस एवं स्थावार के भेद से दो प्रकार के हैं। जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होता है, वह त्रस कहलाता है और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय होता है, वह जीव स्थावर कहलाता है।

पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतयः स्थावराः ।।१३।।

अर्थ- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर जीव हैं।

विशेषार्थ- ये स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं। तथा इनके प्राण चार होते हैं- स्पर्शनइन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छवास।

आगम में पाँचों स्थावरों के चार-चार भेद कहे हैं। जैसे पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव।

जो स्वंय ही बनी हुए अचेतन जमीन है वह पृथिवी है।

दूसरी जिस पृथिवी में से जीव निकल गया है, वह पृथिवीकाय है।

तीसरी जीव सहित पृथिवी को पृथिवीकायिक कहते हैं।

चौथी विग्रहगति में स्थित जीव को पृथिवीजीव कहते हैं।

इसीतरह अप (जल), तेज (अग्नि) एवं वनस्पति आदि के भेद भी जान लेना चाहिए।

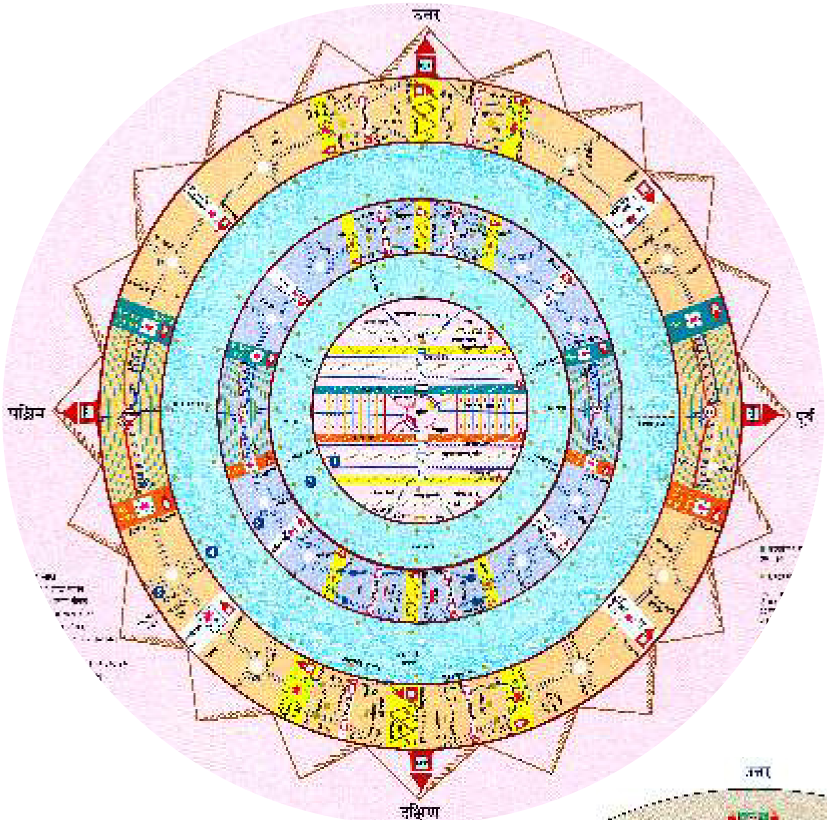

अढ़ाई द्वीप मानचित्र

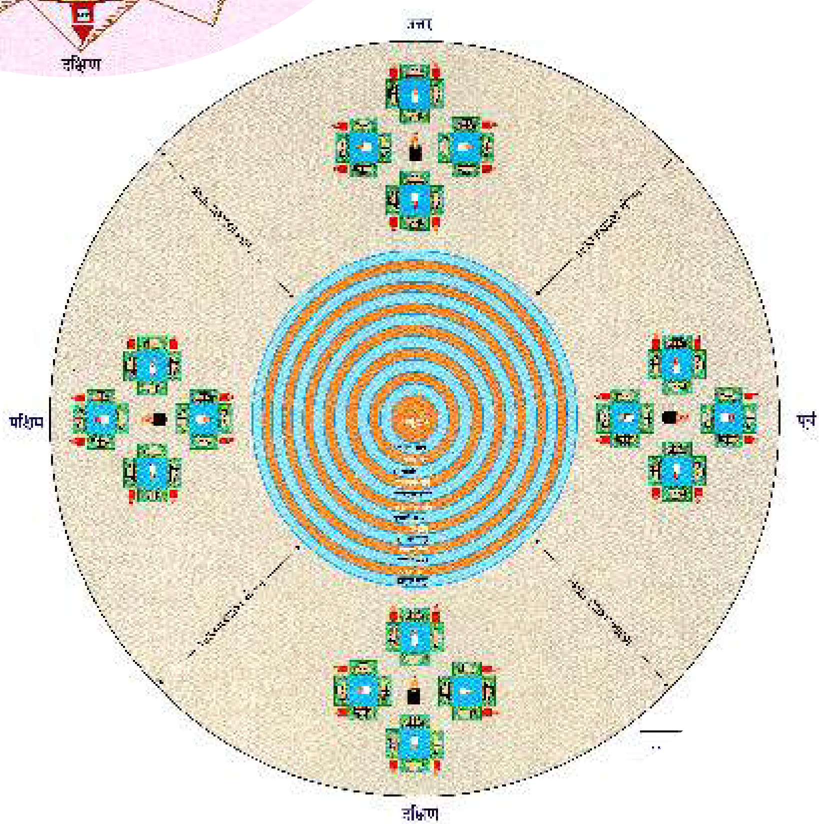

आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप मानचित्र

द्वितीय अध्याय

त्रस जीव के भेद कहते हैं-

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।।१४।।

अर्थ- दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं।

(१) दोइन्द्रिय जीवों के स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायबल, वचन-बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छः प्राण होते हैं।

(२) ते इन्द्रिय जीव के एक घ्राणइन्द्रिय बढ जाने से सात प्राण होते हैं।

(३) चौइन्द्रिय जीव के एक चक्षुइन्द्रिय और बढ़ जाने से आठ प्राण होते हैं।

(४) पंचेन्द्रिय असंज्ञी के श्रोत इन्द्रिय और वढ जाने से नौ प्राण होते हैं।

(५) संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनबल बढ जाने से दस प्राण होते हैं।

इन्द्रियों की संख्या-

पञ्चेन्द्रियाणि ।।१५।।

अर्थ- इन्द्रियाँ पाँच होती हैं। जिससे संसारी जीव की पहचान होती हैं, उसे इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियों के भेद-

द्विविधानि ।।१६।।

अर्थ- इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं- द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय

द्वितीय अध्याय

आगे द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप बताते हैं-

निर्वत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।१७।।

अर्थ- निवृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। निवृत्ति- नाम कर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निवृत्ति कहते हैं।

निवृत्ति के दो भेद हैं- अभ्यन्तर निवृत्ति एवं बाह्य निवृत्ति ।

(१) **अभ्यन्तर निवृत्ति-** उत्सेधांगुल के असंख्यात्वें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्म प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना आभ्यन्तर निवृत्ति है।

(२) **बाह्य निवृत्ति-** प्रतिनियत स्थान में पुद्गल परमाणुओं का इन्द्रियाकार रचना होने को बाह्य निवृत्ति कहते हैं।

उपकरण- निवृत्ति के सहायक या उपकारक को उपकरण कहते हैं। उपकरण के भी दो भेद हैं-आभ्यन्तर उपकरण एवं बाह्य उपकरण। जैसे- नेत्रों में जो काला व सफेद मण्डल है, वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलकें व रोम आदि बाह्य उपकरण हैं।

अब भावेन्द्रिय का स्वरूप बताते हैं-

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।१८।।

अर्थ- लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

विषेशार्थ- जीव में देखने की शक्ति तो है, किन्तु उस जीव का उपयोग अन्यत्र होने से वह सामने स्थित पदार्थ को भी नहीं देख सकता है। इसी प्रकार किसी

वस्तु को जानने की इच्छा होते हुए भी उस जीव के यदि तदनुरूप क्षयोपशम न हो तो वह नहीं जान सकता।

अतः ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा में जानने की शक्ति प्रकट होती है, वह तो लब्धि है एवं उसके होने पर आत्मा जो ज्ञेय पदार्थ की ओर अभिमुख होता है, वह उपयोग है। लब्धि एवं उपयोग दोनों के मिलने पर ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

इन्द्रियों के नाम कहते हैं-

स्पर्शन रसन घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि ।।१६।।

अर्थ- स्पर्शन (त्वचा), रसना(जिव्हा), घ्राण(नाक), चक्षु(आँख), और श्रोत्र(कान) ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

विशेषार्थ- स्पर्श इन्द्रिय- वीर्यान्तराय और मति ज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम कर्म का उदय होने से आत्मा जिसके द्वारा पदार्थ को छूकर जानता हैं, उसे स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं।

रसना इन्द्रिय- जिसके द्वारा आत्मा रस का ग्रहण करता है, उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं।

घ्राण इन्द्रिय- जिसके द्वारा आत्मा सुगंध-दुर्गन्ध को ग्रहण करता है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।

चक्षु इन्द्रिय- जिसके द्वारा आत्मा रूप, वर्ण आदि देखता है, वह चक्षु इन्द्रिय है।

कर्ण इन्द्रिय- जिसके द्वारा आत्मा सुनता है, वह कर्णेन्द्रिय है।

द्वितीय अध्याय

<u>इन्द्रियों के विषय-</u>

स्पर्श रस-गंध वर्ण-शब्दास्तदर्थाः ।।२०।।

अर्थ- स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। रसनेन्द्रिय का विषय रस ग्रहण करना है। घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध ग्रहण करना है। चक्षुइन्द्रिय का विषय रूपादि देखना है। श्रोतेन्द्रिय का विषय शब्द ग्रहण करना है। इस प्रकार इन पाँचो इन्द्रिय के विषय नियत हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को ही ग्रहण करती है, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं करती।

<u>जिज्ञासा</u>- उपयोग में मन सहायक होता है, क्या ?

<u>समाधान</u>- मन उपयोग में सहायक होता है। मन की सहायता के बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति नहीं करतीं।

<u>मन की सहायता से ही श्रुतज्ञान होता है, यह बताते हैं-</u>

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।।२१।।

अर्थ- मन अर्थात् अनिन्द्रिय! मन एवं श्रुत अर्थात् श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ मन का विषय है।

अर्थात् श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मन की सहायता से ही आत्मा श्रुत ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को जानता है। अतः श्रुतज्ञान का होना यह मन का प्रमुख कार्य है। अपने इस कार्य में मन किसी इन्द्रिय की सहायता नहीं लेता।

स्पर्शेन्द्रिय किसके होती है-

वनस्पत्यन्तानामेकम् ।।२२।।

अर्थ- पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पति पर्यन्त समस्त स्थावर जीवों के एक मात्र स्पर्श इन्द्रिय ही होती है।

शेष इन्द्रियों के स्वामी कौन? यह बताते हैं-

कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।।२३।।

अर्थ- कृमि, लट, शंख, जोंक आदि द्विन्द्रिय जीवों के एक इन्द्रिय अधिक- अर्थात् स्पर्श व रसना इन्द्रिय होती हैं। चींटी, खटमल आदि त्रिन्द्रिय जीवों के एक इन्द्रिय अधिक अर्थात् स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि चौन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु ये चार इन्द्रिय होती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

संज्ञी जीवों का स्वरूप-

संज्ञिनः समनस्काः ।।२४।।

अर्थ- मन सहित जीवों को संज्ञी कहते हैं और मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव तो सभी मन रहित अर्थात् असंज्ञी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रियों में देव, नारकी और मनुष्य संज्ञी ही होते हैं, किन्तु तिर्यंचों में कुछ मन रहित अर्थात् असंज्ञी भी होते हैं।

जिज्ञासा- हित एवं अहित का विचार करना, गुण व दोषों का विचार करना तथा स्मरण आदि करने को संज्ञा कहते हैं। संज्ञा एवं मन दोनों का अभिप्राय एक

ही है, तब सूत्र में दिए संज्ञी व समनस्क का तात्पर्य भी एक है, फिर सूत्र में दोनों पद रखना व्यर्थ है?

समाधान- यह आपत्ति उचित नहीं है, क्योंकि प्रथम तो संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ हैं- संज्ञा वस्तु आदि के 'नाम' को भी कहते हैं, इस दृष्टि से सभी नाम वाले पदार्थ संज्ञी कहलाएगें। दूसरे संज्ञा 'ज्ञान' को भी कहते हैं और ज्ञान तो सभी प्राणियों में पाया जाता है, अतः प्राणियों को संज्ञी कैसे माना जा सकता है? तीसरी बात यह कि भोजन-पान आदि की 'इच्छा' का नाम भी संज्ञा है, जो सभी संसारी जीवों में पाई जाती है, वह सभी संज्ञी कहे जायेंगे।

अतः जिनका मन है, उसी को संज्ञी कहना सर्वथा उचित है। तथा चौथी बात गर्भावस्था में, सुप्तावस्था में, मूर्च्छित अवस्था में हित-अहित का विचार नहीं होता, तव उस स्थिति में उन जीवों को क्या असंज्ञी कहेंगे? अतः संज्ञी और समनस्क दोनों पदों का रखना उचित ही है।

अब विग्रह गति बताते हैं-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ।।२५।।

अर्थ- विग्रहगति में कार्माण काययोग होता है, उसी की सहायता से यह जीव नवीन कर्मों को ग्रहण करता है तथा मृत्यु स्थान से अपने जन्म लेने के नवीन स्थान तक गमन करता है।

विशेषार्थ- विग्रहगति- विग्रह का अर्थ शरीर है तथा नवीन शरीर धारण करने के लिए गमन करने को विग्रह गति कहते हैं।

कर्मयोग- ज्ञानावरणादि कर्म समूह को कार्मण कहते हैं। कार्मण काययोग के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो कम्पन होता है, उसे काय योग अथवा कार्मण योग कहते हैं। जो जीवों का विग्रह गति में एक मात्र साथी होता है।

द्वितीय अध्याय

जीव और पुद्गल का गमन-

अनुश्रेणी गतिः ।।२६।।

अर्थ- जीव एवं पुद्गलों की गति आकाश के प्रदेशों की पंक्ति के अनुसार ही होती है, पंक्ति को लांघकर विदिशाओं में गमन नहीं होता। लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिर्यक् दिशा में आकाश के प्रदेशों की सीधी कतार को श्रेणी कहते हैं। विग्रह गति में जाने वाले जीव का ही गमन श्रेणी के अनुसार होता है, अन्य का नहीं।

मुक्तजीव की गति बताते हैं-

अविग्रहा जीवस्य ।।२७।।

अर्थ- मुक्त जीव की गति मोड़े रहित सीधी होती है। श्रेणी के अनुसार होने वाली के दो भेद हैं- (१) विग्रहवती अर्थात् जिसमें मोड़ लेना पड़ता है और (२) अविग्रहा अर्थात् जिसमें मोड़ नहीं लेना पड़ता। कर्मों का क्षयकर सिद्ध शिला को गमन करने वाले जीवों के अविग्रहा गति ही होती है।

संसारी जीवों की गति कहते हैं-

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः।।२८।।

अर्थ- संसारी जीव की गति चार समय से पहले-पहले विग्रहवती अर्थात् मोड़े सहित और अविग्रहा अर्थात् मोड़ रहित दोनों प्रकार की होती है।

विशेषार्थ- संसारी जीव की गति जो मोडे रहित होती है, उसमें एक समय मात्र लगता है। जिसमें एक मोड लेना पडता है, उसमें दो समय लगते हैं। जिसमें दो मोड़ लेना पड़ते हैं, उसमें तीन समय लगते हैं और जिसमें तीन मोड़े लेना

पडते हैं, उसमें चार समय लगते हैं। अर्थात् चौथे समय में कहीं न कहीं नवीन शरीर धारण कर लेता है, वह जीव।

एक समय वाली गति को 'ऋजुगति (इषुगति)' कहते हैं। दो समय वाली गति को 'पाणिमुक्ता' गति, तीन समय वाली गति को 'लांगलिकागति' और चार समय वाली गति को 'गोमूत्रिकागति' कहते हैं।

अविग्रहा गति का समय-

एक समयाऽविग्रहा ।।२६।।

अर्थ- अविग्रहा अर्थात् मोड़े रहित गति का काल एक समय मात्र ही है। इसी को ऋजुगति या इषुगति कहते हैं।

विग्रहगति गति में जीव आहारक या अनाहारक-

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकाः ।।३०।।

अर्थ- विग्रह गति में जीव एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है, किन्तु जब मोड़े समाप्त कर अपने उत्पत्ति स्थान तक के लिए गमन करता है, तब चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है।औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीर एवं छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण करने को आहार कहते हैं और शरीर के योग्य पुद्गलों के ग्रहण न करने को अनाहारक कहते हैं।

आगे जन्म के भेद बताते हैं-

सम्मूर्च्छन गर्भोपपादा जन्म ।।३१।।

अर्थ- जन्म तीन प्रकार के भेद रूप हैं- सम्मूर्च्छनजन्म, गर्भजन्म और उपपाद जन्म।

द्वितीय अध्याय

सम्मूर्च्छनजन्म- माता-पिता के रज वीर्य के बिना ही अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं को चारों ओर से संचयकर शरीर की रचना होती है, उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। सम्मूर्च्छन जीव तीनों लोकों में सर्वत्र होते हैं।

गर्भजन्म- स्त्री के उदर में माता-पिता के रज-वीर्य के मिलने से जो शरीर की रचना होती है, उसे गर्भ जन्म कहते हैं।

उपपाद जन्म- देव एवं नारकियों का जन्म एक स्थान विशेष पर जिसे उपपाद शय्या कहते हैं, रज एवं वीर्य के बिना ही होता है। उपपाद जन्म वाले देव एवं नारकी जीवों के शरीर की रचना अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती है।

अब योनियों के भेद बताते हैं-

सचित्तशीतसंवृताः-सेतरा-मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।।३२।।

अर्थ- सचित्त, शीत, संवृता और इनके उल्टे अचित्त, उष्ण, विवृत एवं इन दोनों के मिले रूप अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये योनि के नौ भेद होते हैं।

जीवों के उत्पन्न होने के स्थान विशेष को योनि कहते हैं।

(१) **सचित्त योनि-** जो योनि चेतना सहित हो वह सचित्त योनि कहलाती है।

(२) **अचित्त योनि-** चेतना रहित उत्पत्ति स्थान को अचित्त योनि कहते हैं।

(३) **सचित्ताचित्त योनि-** सचित्त व अचित्त अर्थात् मिश्र उत्पत्ति स्थान को सचित्ताचित्त योनि कहते हैं।

(४) **शीत योनि-** शीत स्पर्श रूप योनि को शीत योनि कहते हैं।

(५) **उष्ण योनि-** उष्ण स्पर्श रूप योनि हो तो वह उष्ण योनि है।

(६) **शीतोष्ण योनि-** शीत स्पर्श एवं उष्ण स्पर्श युक्त मिश्र उत्पति स्थान को शीतोष्ण योनि कहते हैं।

(७) **संवृत योनि-** जो योनि स्थान ढका हुआ हो, देखने में स्पष्ट दिखाई न देता हो, उसे संवृत योनि कहते हैं।

(८) **विवृत योनि-** स्पष्ट खुले हुए उत्पत्ति स्थान को विवृत योनि कहते हैं।

(६) **संवृतविवृत योनि-** कुछ ढके हुए कुछ खुले हुए उत्पत्ति स्थान को संवृतविवृत योनि कहते हैं।

विशेषार्थ- उक्त नौ योनियों/उत्पत्ति स्थानों में कुछ जीवों की योनियाँ वतलाते है-

देव और नारकी जीवों की अचित, शीत, उष्ण तथा संवृत योनि होती है।

गर्भ जन्म वाले जीवों की सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण शीतोष्ण एवं संवृतविवृत योनि होती है।

सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीवों की सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण एवं शीतोष्ण होती है। तथा तेज (अग्नि) कायिक जीवों की उष्ण योनि, एकेन्द्रिय जीवों की संवृत योनि और विकलेन्द्रिय जीवों की विवृत योनि होती है। इस तरह सामान्य से नौ योनियाँ कही हैं एवं विस्तार से ८४ लाख योनियाँ होती है।

आगे किन प्राणियों का कौन सा जन्म होता है-

जरायुजाण्डज पोतानां गर्भः ।।३३।।

अर्थ- जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीनों प्रकार के प्राणियों का गर्भ जन्म ही होता है।

जरायुज- जन्म के समय प्राणी के शरीर से जाल की तरह जो खून, माँस की खोल लिपटी रहती है, उसे जरायुज अथवा जेर कहते हैं। जैसे- गाय, भैंस, मनुष्य वगैरह का जन्म।

अण्डज- जो जीव अण्डे से उत्पन्न होता है, उसे अण्डज कहते हैं। जैसे कबुतर, सर्प, छिपकली, मुर्गा आदि।

पोतज- जन्म होते समय जिस प्राणी के ऊपर कोई आवरण नहीं होता तथा जो योनि से बाहर निकलते ही चलने-फिरने लगता है, ऐसे जन्म को पोतज जन्म कहते हैं। जैसे- सिंह, हिरण आदि।

अब उपपाद जन्म के स्वामी बताते हैं-

देवनारकाणामुपपादः ।।३४।।

अर्थ- देवों और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है। स्वर्गों में और नरकों में कुछ नियत स्थानों पर उपपाद शय्या होती है, उन नियत उपपाद शय्याओं पर देवों एवं नारकियों का जन्म होता है।

अब सम्मूर्च्छन जन्म के स्वामी बताते हैं-

शेषाणाम् सम्मूर्च्छनम् ।।३५।।

अर्थ- गर्भ जन्म वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि एवं उपपाद जन्म वाले देव, नारकियों के अलावा शेष अन्य सभी जीवों-एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय और कुछेक पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। मनुष्यनी स्त्रियों के गुप्तांगों में भी पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों की उत्पत्ति आगम में वताई है।

द्वितीय अध्याय

आगे शरीरो के भेद बताते हैं-

औदारिक वैक्रियिकाहारक-तैजस कार्मणानि शरीराणि ।।३६।।

अर्थ- औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच तरह के शरीर होते हैं।

औदारिकशरीर- स्थूल शरीर जो दूसरे को रोके और दूसरे से रूक सके, उसे औदारिक शरीर कहते हैं। यह मनुष्य एवं तिर्यंचों के होता है।

वैक्रियक शरीर- जो एक रूप, अनेकरूप, स्थूल, हल्का, भारी आदि किया जा सके, उसे वैक्रियक शरीर कहते हैं। यह देव एवं नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है।

आहारक शरीर- केवली के पाद मूल में किसी सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय करने अथवा अन्य दूरस्थ स्थान स्थित जिनालयों की वंदना आदि करने के लिए छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज के मस्तक से एक हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर- औदारिक आदि शरीरों को तेज अथवा कांति देने वाले शरीर को तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर- ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता बताते हैं-

परं-परं सूक्ष्मम् ।।३७।।

अर्थ- औदारिक से आगे के जितने शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रियक सूक्ष्म है, वैक्रियक से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस सूक्ष्म है और तैजस से कार्मण सूक्ष्म है।

औदारिक आदि तीन शरीरों के परमाणु-

प्रदेशतोऽसंख्येय गुणं तैजसात् ।।३८।।

अर्थ- परमाणुओं की अपेक्षा से तैजस से पहले-पहले के शरीर असंख्यात्गुणे असंख्यात्गुणे प्रदेश वाले हैं। अर्थात् औदारिक शरीर में जितने परमाणु हैं, उनसे असंख्यात्गुणे परमाणु वैक्रियक शरीर में हैं और वैक्रियक शरीर से असंख्यात्गुणे परमाणु आहारक शरीर में होते हैं।

तैजस एवं कार्मण शरीर के परमाणु-

अनन्तगुणे परे ।।३६।।

अर्थ- आहारक शरीर से तैजस शरीर में अनंतगुणे परमाणु होते हैं और तैजस से कार्मण शरीर में अनंतगुणे परमाणु होते हैं।

तैजस एवं कार्मण शरीर की शक्ति विशेष बतलाते हैं-

अप्रतिघाते ।।४०।।

अर्थ- तैजस एवं कार्मण ये दोनों शरीर अप्रतिघाति अर्थात् बाधारहित हैं। अर्थात् ये दोनों शरीर किसी भी मूर्तिक पदार्थ से न स्वंय रूकते हैं और न किसी को रोकते हैं। जैसे- अग्नि लोहे के पिण्ड में प्रवेश कर जाती है, वैसे ही ये शरीर वज्रमय पटल से भी नहीं रूकते हैं।

विशेष- वैक्रियक एवं आहारक शरीर सूक्ष्म होने पर भी अप्रतिघाति नहीं हैं। यहाँ अप्रतिघाति उन्हीं शरीरों को कहा है, जो तीनों लोक में कहीं किसी से नहीं रूकते। आहारक शरीर की सीमा ढाई द्वीप है तथा मनुष्यों को ऋद्धि द्वारा प्राप्त हुए वैक्रियक शरीर की सीमा भी मनुष्य लोक मात्र तक ही है। देवों का वैक्रियक शरीर त्रस नाली के अंदर सोलहवें-स्वर्ग तक ही और नीचे तीसरे नरक तक जा सकता है, अतः समस्त लोक में अप्रतिघाति मात्र तैजस व कार्मण ही हैं।

अनादिसम्बन्धे च ।।४१।।

अर्थ- यहाँ 'च' शब्द विकल्प अर्थ वाला है। अतः आत्मा से तैजस एवं कार्मण शरीर का सम्बंध अनादि भी है और सादि भी है। जैसे- औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर का सम्बंध अनित्य है, कभी कोई शरीर होता है, कभी नहीं होता। किन्तु तैजस एवं कार्मण शरीर के साथ ऐसा नहीं है, ये दोनों शरीर तो सभी अवस्थाओं में संसारी जीवों के साथ सदैव रहते हैं। अतः अनादि हैं, और पूर्व बंधे तैजस व कार्मण की निर्जरा होकर पुनः नवीन का बंध होता रहता है, इस अपेक्षा से सादि हैं।

सर्वस्य ।।४२।।

अर्थ- ये दोनों तैजस एवं कार्मण शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

एकजीव के एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं-

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ।।४३।।

अर्थ- तैजस और कार्मण शरीर को आदि लेकर एक जीव के एक समय में चार शरीर तक विभक्त कर लेना चाहिए। विग्रहगति में तो जीव के साथ मात्र तैजस व कार्मण ये दो शरीर ही होते हैं। विग्रह गति के अतिरिक्त मनुष्य एवं तिर्यंचों के औदारिक तैजस व कार्मण ये तीन शरीर होते हैं तथा छठे गुणस्थानवर्ती किसी मुनि के औदारिक, आहारक, तैजस व कार्मण अथवा औदारिक, वैक्रियक, तैजस व कार्मण ये चार शरीर होते हैं। वैक्रियक एवं आहारक एक साथ नहीं होने से पाँच शरीर एक साथ नहीं होते।

कार्मण शरीर उपभोग रहित-

निरूपभोग मन्त्यम् ।।४४।।

अर्थ- अन्त का कार्मण शरीर उपभोग रहित है। इन्द्रियों के द्वारा शब्द आदि के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं। वह उपभोग कार्मण शरीर के विग्रहगति में नहीं होता, इसलिए वह निरूपभोग है।

औदारिक शरीर का लक्षण-

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ।।४५।।

अर्थ- गर्भजन्म एंव सम्मूर्छनजन्म से उत्पन्न हुआ शरीर प्रथम औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियक शरीर का लक्षण-

औपपादिकं वैक्रियिकम् ।।४६।।

अर्थ- उपपाद जन्म से होने वाला देव एंव नारकियों का शरीर वैक्रियिक कहलाता है।

लब्धिप्रत्ययं च ।।४७।।

अर्थ- लब्धि से भी वैक्रियिक शरीर होता है। विशेष तपस्या करने से जो ऋद्धि की प्राप्ति होती है, उसे लब्धि कहते हैं।

तैजस शरीर भी लब्धि से ही प्राप्त होता है-

तैजसमपि ।।४८।।

अर्थ- तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय अर्थात् ऋद्धि निमित्तक होता है।

विशेषार्थ- तैजस शरीर दो प्रकार का होता है। एक तो शरीर में ही रहकर उसको कांति देने वाला होता है, जो समस्त संसारी जीवों में पाया जाता है।

दूसरा शरीर से निकलकर बाहर जाने वाला। यह भी शुभ तैजस एवं अशुभ तैजस के भेद से दो प्रकार का होता है। किसी क्षेत्र के प्राणियों को रोग, दुर्भिक्ष आदि से विशेष पीड़ित देखकर ऋद्धिसम्पन्न मुनिराज के हृदय में अत्यंत करूणा उत्पन्न हो जावे, तो उनके दाहिने कंधे से शुभ तैजस (पुतला) निकलता है, जो बारह योजन क्षेत्र के समस्त प्राणियों का दुःख दूर कर अन्तर्मुहूर्त में पुनः मुनिराज के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। तथा यदि ऋद्धिधारी मुनि किसी क्षेत्र के मनुष्यों पर विशेष कारणवशात् अत्यंत क्रुद्ध हो जावें, तो उनके वायें कंधे से अशुभ तैजस (पुतला) निकलता है और उस क्षेत्र के बाहर योजन प्रमाण के समस्त प्राणियों, वनस्पति आदि सभी जीवों को अन्तर्मुहूर्त में जलाकर राख कर देता है। पश्चात् मुनि को भी भस्म कर देता है।

अब आहारक शरीर का स्वरूप कहते हैं-

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकंप्रमत्तसंयतस्यैव ।। ४९ ।।

अर्थ- आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है, एवं प्रमत्तसंयत (छठे गुण स्थानवर्ती) मुनि के ही होता है।

विशेषार्थ- आहारक शरीर का समचतुरस्त्र संस्थान होता है, धातु-उपधातु से रहित होता है। न किसी से रूकता है, न किसी को रोकता है। प्रमत्त संयत मुनिराज के मस्तक से निकलता है।

कभी ऋद्धि का सदभाव जानने के लिए, कभी किसी पदार्थ का निर्णय करने के लिए आहारक शरीर की रचना होती है और वह केवली या श्रुत केवली के पादमूल में जाकर पदार्थ आदि का निर्णयकर अन्तर्मुहूर्त में लौटकर

मुनिराज के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। कभी अकृत्रिम चैत्यालय आदि की वंदना के उद्देश्य से भी यह आहारक शरीर निकलता है।

नारक एवं सम्मूर्च्छन जीवों के भेद-

नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।। ५० ।।

अर्थ- नारकी एवं सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं।

देवों के वेद-

न देवाः ।। ५१ ।।

अर्थ- देव नपुंसक लिंग वाले नहीं होते। देवगति में पुरूष वेद एवं स्त्रीवेद दो ही वेद होते हैं।

मनुष्य एवं तिर्यंचों के वेद-

शेषास्त्रिवेदाः ।। ५२ ।।

अर्थ- नारकी, देव एवं सम्मूर्च्छन जीवों के अलावा शेष जीव अर्थात् गर्भज तिर्यञ्च एवं मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं। भोगभूमि तथा म्लेच्छखंड के मनुष्यों में पुरूषवेद एवं स्त्रीवेद दो ही होते हैं।

अकालमृत्यु किन जीवों के नहीं-

औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षा युषोऽनपवर्त्यायुषः ।। ५३ ।।

अर्थ- औपपादिक जन्म अर्थात् देव व नारकी, चरमोत्तम देह अर्थात् तद्भव मोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर आदि तथा असंख्यात् वर्षों की आयु वाले भोगभूमियाँ जीव पूर्ण आयु भोगकर ही शरीर छोड़ते हैं। विष, शस्त्र आदि से इनकी आयु नहीं छिदती अर्थात् असमय में इनकी मृत्यु नहीं होती।

।। इति तत्त्वार्थ सूत्रे मोक्षशास्त्रे द्वितीयो अध्यायः ।।

श्रद्धा-अश्रद्धा का परिणाम-

आचार्य समन्तभद्र स्वामी को देखो, अत्यंत विपरीत परिस्थिति में भी उन्होंने अपने सम्यक्त्व भाव को पूर्ण सजग रखा, जिन धर्म के प्रति ऐसी निश्चल श्रद्धा कि मृत्युदण्ड का भय भी उनके मस्तक को कुदेव-कुलिंग के सामने नहीं झुका पाया। **-श्रमण मनोज्ञ सागर**

श्रद्धापूर्वक तथा प्रीतिपूर्वक जो भी जिनेन्द्र देशना को सुनता है, पढ़ता है, वह ज्यादा कुछ भी न कर पाए फिर भी वह भविष्य में निर्वाण प्राप्त करेगा, यदि वह भव्य है तो। **-पु० सि० उपाय**

हे मित्र! धर्म की श्रद्धा से शून्य मनुष्य को जीवित होते हुए भी मृत मानों और श्रद्धा एवं धर्माचरण से सहित पुरूष को मृत्यु के बाद भी इस लोक और परलोक में जीवित मानो।

श्रद्धाविहीन सुभौम चक्रवर्ती ने एक देव के घुड़की देने पर णमोकार महामंत्र को पैरों से मिटा दिया, सो पंचपरमेष्ठी की अविनय करने से सातवें नरक में जा पड़ा। अतः बंधुओं पंचपरमेष्ठी के प्रति कभी अश्रद्धा मत कर दिखाना। **-श्रमण मनोज्ञ सागर**

राजा बालि ने देव- शास्त्र एवं वीतरागी गुरु के अलावा कहीं मस्तक नहीं झुकाँएगे, चाहे हमारा स्वामी चक्रवर्ती ही क्यों न हो, ऐसी दृढ़ श्रद्धा का परिणाम देखो कि राज्य वैभव का मोह छोड़, निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली, लेकिन रावण के सामने मस्तक नहीं झुकाया। फलस्वरूप परम धाम मोक्ष को प्राप्त किया।

-श्रमण मनोज्ञ सागर

--०।-...-।०--

तीन लोक मानचित्र

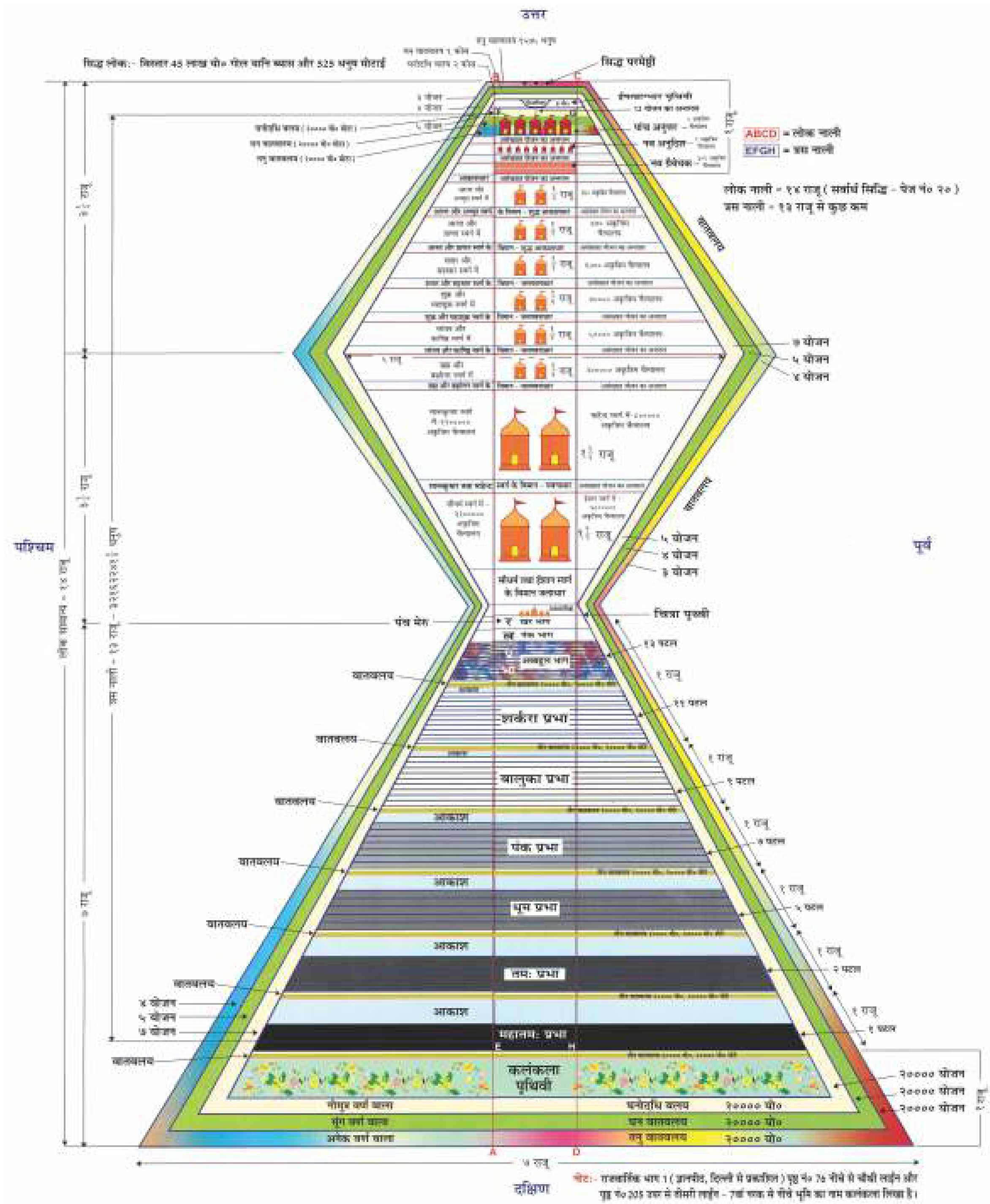
उत्तर
सिद्ध लोक:- विस्तार 45 लाख यो० गोल यानि व्यास और 525 धनुष मोटाई
सिद्ध परमेष्ठी
ABCD = लोक नाली
EFGH = त्रस नाली
लोक नाली - १४ राजु (सर्वार्थ सिद्धि - पेज नं० २०)
त्रस नाली - १३ राजु से कुछ कम
पांच अनुत्तर
नव अनुदिश
नव ग्रैवेयक
वातवलय
७ योजन
५ योजन
४ योजन
पश्चिम
पूर्व
सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग के विमान कल्पवासी
चित्रा पृथ्वी
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
आकाश
पंक प्रभा
धूम प्रभा
तमः प्रभा
महातमः प्रभा
कलंकला पृथ्वी
गोमूत्र वर्ण वाला
मूंग वर्ण वाला
अनेक वर्ण वाला
घनोदधि वलय २०००० यो०
घन वातवलय २०००० यो०
तनु वातवलय २०००० यो०
२०००० योजन
७ राजु
दक्षिण
नोट:- राजवार्तिक भाग 1 (ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित) पृष्ठ नं० 76 नीचे से चौथी लाईन और पृष्ठ नं० 205 ऊपर से तीसरी लाईन - 7वां पटल के नीचे भूमि का नाम कलंकला लिखा है।

अधो लोक मानचित्र

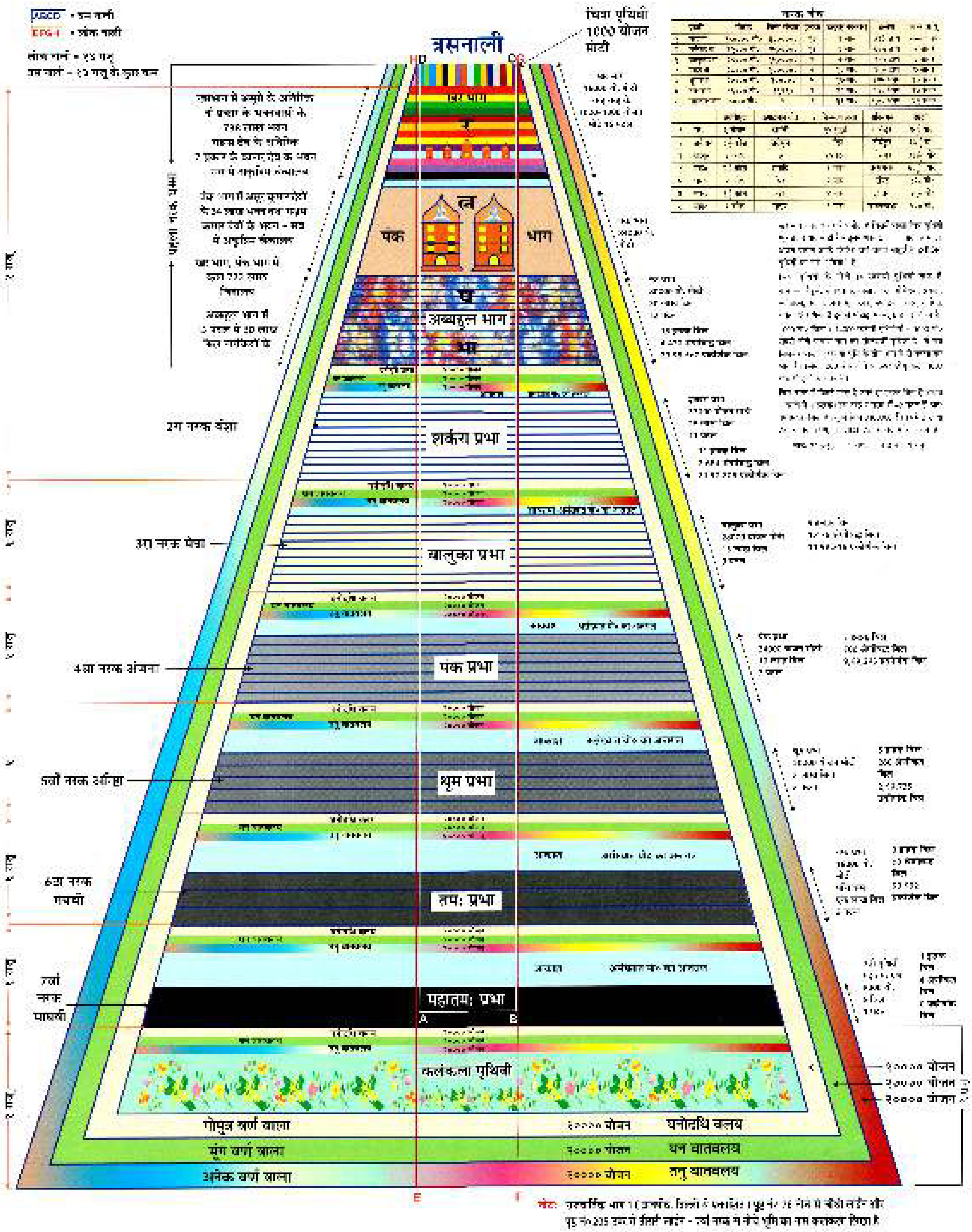
त्रसनाली
चित्रा पृथ्वी 1000 योजन मोटी
खर भाग
पंक भाग
अब्बहुल भाग
2रा नरक वंशा
शर्करा प्रभा
3रा नरक मेघा
बालुका प्रभा
4था नरक अंजना
पंक प्रभा
5वाँ नरक अरिष्टा
धूम प्रभा
6ठा नरक मघवी
तमः प्रभा
7वाँ नरक माघवी
महातमः प्रभा
कलंकला पृथ्वी
गोमूत्र वर्ण वाला
मूंग वर्ण वाला
अनेक वर्ण वाला
20000 योजन
घनोदधि वलय
घन वातवलय
तनु वातवलय

अथ तृतीयोऽध्यायः

(अधोलोक एवं मध्य लोक का वर्णन)

नरक की सात पृथ्वियों के नाम-

रत्नशर्कराबालुका-पङ्क-धूम-तमोमहातमःप्रभाभूमयो-घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ।। १ ।।

अर्थ- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा ये सात भूमियां (नरक) अधोलोक में क्रम से नीचे- नीचे हैं। ये भूमियां घनोदधि वातवलय के आधार हैं, घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार है, घनवातलय तनुवातवलय के आधार है और तनुवातवलय आकाश के आधार है। आकाश अपने आधार है, स्वयं स्थित है, अनंत हैं।

विशेषार्थ- अधोलोक में उपरोक्त सात भूमियाँ है उन भूमियों में क्रम से एक के नीचे एक धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवा और माघवी ये सात नरक हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार महायोजन मोटी है। इसकी मोटाई के तीन भाग हैं, जिन्हे खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग कहते हैं। इनमें प्रथम खरभाग सोलह हजार महायोजन मोटा है, उसमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार महायोजन छोड़कर बीच के चौदह हजार मोटे और एक राजू प्रमाण लम्बे-चौड़े भागों में राक्षसों के अलावा शेष सात प्रकार के व्यंतर और असुर कुमारों को छोड़कर नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं।

दूसरे पंकभाग में राक्षस और असुर कुमार रहते हैं। तथा तीसरे अब्बहुल भाग में प्रथम नरक है। खरभाग की मोटाई १६ हजार, पंकभाग की ८४ हजार और अब्बहुल भाग की मोटाई ८० हजार महायोजन प्रमाण है।

तृतीय अध्याय

पहली पृथ्वी के नीचे कुछ कम एक राजू अंतराल छोड़कर दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी ३२ हजार योजन मोटी, उसके नीचे कुछ कम एक राजू अंतराल से तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी २८ हजार योजन मोटी, उसके नीचे कुछ कम एक राजू के अंतराल से चौथी पंकप्रभा पृथ्वी २४ हजार महायोजन मोटी है। इसी तरह नीचे-नीचे कुछ कम एक राजू के अंतर से २० हजार योजन मोटी पाँचवी पृथ्वी धूमप्रभा और १६ हजार योजन मोटी छठी तमःप्रभा पृथ्वी एवं फिर कुछ कम एक राजू के अंतराल से ८ हजार महायोजन मोटी सातवीं महातमः पृथ्वी है। सातवीं महातमः पृथ्वी से एक राजू नीचे तक कलकल भूमि, उसके बाद लोक का अंत है।

आगे नरकों में बिलों की संख्या बताते हैं-

तासु त्रिंशत्पंचविशति-पंचदश-दश-त्रिपंचोनैकनरक-शतसहस्त्राणि पंच-चैव यथाक्रमम् ।।२।।

अर्थ- पहली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में ३० लाख, दूसरी पृथ्वी में २५ लाख, तीसरी पृथ्वी में १५ लाख, चौथी पृथ्वी में १० लाख, पाँचवीं पृथ्वी में ३ लाख, छठी पृथ्वी में पाँच कम एक लाख और सातवीं पृथ्वी में मात्र ५ नरक बिल हैं। इस प्रकार कुल ८४ लाख बिल हैं।

विशेषार्थ- उपरोक्त बिलों में कुछ बिल संख्यात योजन प्रमाण और कुछ असंख्यात् योजन प्रमाण लम्बे चौड़े हैं। पहली पृथ्वी में १४ पटल हैं और नीचे-नीचे प्रत्येक पृथ्वी में २-२ पटल कम होते जाते हैं अर्थात् दूसरी पृथ्वी में ११ पटल, तीसरी में ६ पटल, चौथी में ७ पटल, पाँचवी में ५ पटल, छठीं में ३ पटल और सातवीं में मात्र एक पटल है। इस तरह कुल मिलाकर ४६ पटल हैं।

इन पटलों में इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक इस तरह तीन प्रकार के बिल हैं। प्रत्येक पटल के बीच में जो बिल है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं।

तृतीय अध्याय

इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में जो पंक्तिवार बिल हैं उन्हे श्रेणीवद्ध बिल कहते हैं। तथा दिशा-विदिशाओं के अन्तराल में बिना क्रम के जो बिल हैं, उन्हे प्रकीर्णक बिल कहते हैं।

प्रथम पटल की चारों दिशाओं में ४९-४९ और विदिशाओं में ४८-४८ श्रेणीवद्ध बिल हैं। आगे नीचे-नीचे प्रत्येक पटल की चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में एक-एक बिल घटता जाता है। इस तरह प्रत्येक पटल में ८-८ बिल घटते जातें हैं। बिल घटते-घटते सातवें नरक के पटल में, जो कि ४९ वाँ पटल है, उसकी दिशाओं में ही एक-एक बिल है, विदिशाओं में बिल नहीं है। अतः वहाँ केवल पाँच ही बिल हैं। सातों नरकों के ८४ लाख बिलों में ४९ इन्द्रक बिल और ९६०४ श्रेणीवद्ध बिल हैं। शेष ८३,९०,३४७ प्रकीर्णक बिल हैं। ४९ इन्द्रक बिलों में से प्रथम नरक का पहला इन्द्रक ४५ लाख योजन विस्तार वाला है, जो अढ़ाई द्वीप के बराबर है और ठीक उसी के नीचे है। नीचे-नीचे क्रम से घट्ते हुए सातवें नरक का इन्द्रक बिल एक लाख योजन विस्तार वाला है अर्थात् वह बिल जम्बूद्वीप के बराबर है। अन्य सभी इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णकों में से कुछ प्रकीर्णक बिल संख्यात् योजन विस्तार वाले हैं और कुछ असंख्यात् योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् ये प्रकीर्णक नरक बिल जम्बूदीप से भी असंख्यात् गुणे अधिक विस्तार में फैले हुए हैं। जिनमें असंख्यात्-असंख्यात् नारकी भरे पड़े हैं, जो चौबीसों घंटे बिना विश्राम किए एक दूसरे की मार-काट करते रहते हैं।

नरक बिल

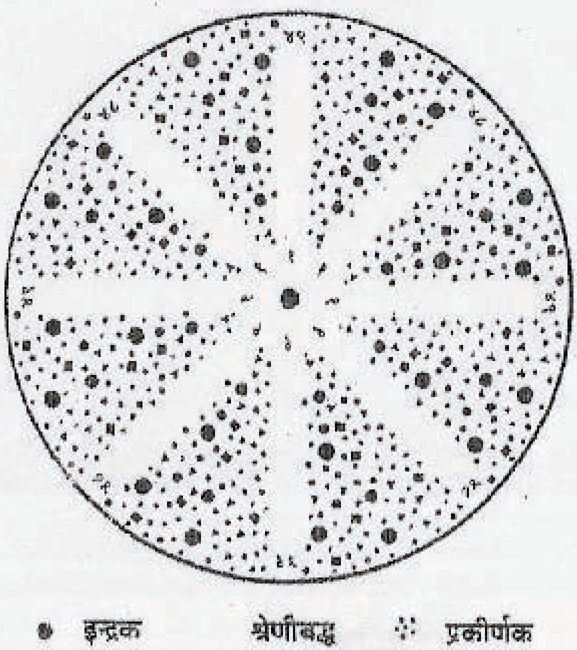

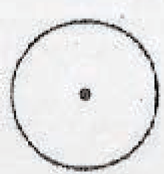

सप्तम नरक

प्रथम नरक का प्रथम पटल

सीमन्तक इन्द्रक – ४५ लाख योजन विस्तार

श्रेणीबद्ध बिल – असंख्यात योजन विस्तार
दिशाओं में ४९, विदिशाओं में ४८

प्रकीर्णक – संख्यात, असंख्यात योजन विस्तार

प्रथम नरक के १३ पटलों के बिल ३० लाख

इन्द्रक		१३
श्रेणीबद्ध	+	४४२०
प्रकीर्णक	+	२९९५५६७
कुल		३००००००

तृतीय अध्याय

अब नारक जीवों के लेश्या आदि बताते हैं-

नारका नित्याशुभतर लेश्यापरिणाम देह-वेदना-विक्रियाः ।। ३ ।।

अर्थ- नारकी जीवों के सदैव अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर शरीर, अशुभतर वेदना एवं अशुभतर विक्रिया होती है।

विशेषार्थ- पहली और दूसरी पृथ्वी के नारकियों के कापोत लेश्या होती है।

तीसरी पृथ्वी के उपरिम बिलों में कापोत और निचले भाग के बिलों में नील लेश्या होती हैं।

चौथी पृथ्वी के नारकियों की नील लेश्या ही होती है।

पाँचवी पृथ्वी के उपरिम भाग नील और निचले भाग में रहने वाले नारकियों की कृष्ण लेश्या होती है।

छठीं पृथ्वी में कृष्ण और सातवीं पृथ्वी के नारकियों की परम कृष्ण लेश्या होती है।

उनका स्पर्श, गन्ध, वर्ण, भाषा और परिणाम क्षेत्र की विशेषता से अशुभ और दुःख के ही कारण होते हैं। उनका शरीर भी हुण्डक संस्थान के होने से देखने में बड़ा भयंकर लगता है।

पहली पृथ्वी के नारकियों के शरीर की ऊँचाई ७ धनुष तीन हाथ छः अंगुल होती है। नीचे-नीचे की पृथ्वी में यह ऊँचाई दुगनी-दुगनी होती जाती है। नरकों में शीत-उष्ण की भंयकर वेदना भी भोगना पडती है। पहली से चौथी पृथ्वी तक तथा पाँचवी पृथ्वी के उपरिम भाग के दो लाख बिल अत्यंत गरम हैं और नीचे के एक लाख बिल ठंडे है तथा छठी व सातवीं पृथ्वी के

बिल भंयकर ठंडे है। ये सभी नारकी विक्रिया भी अशुभ से अशुभ ही करते हैं।

नरकों में पारस्परिक दुःख भी होता है-

परस्परोदीरित दुःखाः ।। ४ ।।

अर्थ- नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को अत्यंत कष्ट देते रहते हैं।

विशेषार्थ- जैसे यहाँ कुत्ता और बिल्ली में जातिगत बैर देखा जाता है, वैसे ही वे एक दूसरे के सामने आते ही अपनी ही विक्रिया से अस्त्र-शस्त्र और माँसाहारी पशु-पक्षियों का विकराल रूप बनाकर मारकाट शुरू कर देते हैं। विशेषता यह कि एक दूसरे के टुकडे-टुकडे कर देने पर भी उनका अकाल में मरण नहीं होता। बद्ध आयु को पूरा भोगना ही पड़ता है।

असुरकुमार देवों द्वारा भारी दुःख दिया जाता है, यह बताते हैं-

संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ।। ५ ।।

अर्थ- और चौथी पृथ्वी से पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त अम्बा और अम्बावरीष जाति के भवनवासी असुरकुमार देव नारकियों को पूर्व बैर का स्मरण कराकर परस्पर में लड़ाते हैं व लड़ते-मरते, दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं। पूर्व हिंसानंदी रौद्रध्यान के कर्मोदय से इनके इसी प्रकार की कषाय परिणामों का उदय रहता है।

नारकियों का जीवन कैसा होता है? जिनेन्द्र देव ने वहाँ के दारूण्य दुःखों का बहुत विस्तृत व्याख्यान अपनी देशना में किया है। उसी जिन देशना से संक्षिप्त में कुछ बिंदु आपको बताता हूँ-

तृतीय अध्याय

१. नारकियों का शरीर दुर्गन्धमय होता है और वहाँ के रहने वाले बिल भी अत्यंत दुर्गन्धयुक्त होते हैं।

२. सभी नारकी नपुंसक वेद वाले होते हैं।

३. नरकों में घनघोर अंधकार होता है।

४. नारकी जीव एक बिल से दूसरे बिल में नहीं जा सकते।

५. नारकियों का अकाल मरण नहीं होता। दुःखों से बचने के लिए आत्महत्या या हत्या का प्रावधान वहाँ नहीं है।

६. भूख-प्यास की अत्यंत तीव्र वेदना होती है, लेकिन मिलता अन्न का एक दाना भी नहीं, न ही पानी की एक बूँद। और ऐसी वेदना कुछ वर्षों नहीं सागरों पर्यन्त झेलना पड़ती है।

७. नारकी हमेशा लड़ते-मरते रहते हैं, लेकिन फिर भी मरते नहीं।

८. नरकों में मानसिक, शारीरिक, क्षेत्रगत और असुरकुमार देवकृत अपार दुःखों का अनुभव निरंतर होता रहता है।

९. आयु पूर्ण होने पर नारकी जीव का वैक्रियक शरीर कर्पूर की तरह बिलीन हो जाता है।

१०. नारकी के शरीर में बादर एकेन्द्रिय निगोदिया जीव नहीं पाये जाते ।

११. नारकी जीवों की उत्पत्ति ऊँट, बैल, सुअर, श्वान, आदि के मुखाकार में उपपाद स्थानों पर औंधे मुख होती है।

१२. नारकियों को जिनदेव और जिन मुद्रा के दर्शनों का सौभाग्य नहीं मिलता।

१३. उपपाद शय्या से नारकी ३६ प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्रों पर गिरते हैं, फिर अर्न्तमुहूर्त तक गेंद के समान उछलते हैं, वहाँ की दुर्गन्धयुक्त जहरीली मिट्टी के स्पर्शमात्र से।

१४. नारकियों की अपृथक विक्रिया होती है, वे स्वयं ही तिर्यंच, वृक्षादि बन जाते हैं।

१५. नारकी विक्रिया से अच्छा रूप बनाना चाहें तो भी नहीं बना सकते।

१६. नरकों की मिट्टी में इतनी असहनीय तीव्र दुर्गन्ध होती है कि यदि प्रथम नरक की थोड़ी सी भी मिट्टी मध्यलोक में आ जावे तो १ कोस के जीव तथा सातवें नरक की मिट्टी से ४ कोस के जीव मरण को प्राप्त हो जावें।

१७. नरकों में लेश्या अशुभ-अशुभ ही होती है।

१८. नारकियों के प्रथम से चार गुण स्थान तक होते हैं।

१६. नारकी संयम धारण नहीं कर सकते।

२०. तीसरे नरक तक के नारकी देवों से धर्मोपदेश सुन सकते हैं।

२१. सातों नरकों में वेदना आदि के निमित्त से सर्म्यग्दर्शन हो सकता है।

नरकों के बिल ढोल की पोल एवं तलघर के सदृश होते हैं। वहाँ भूख, प्यास का दुःख इतना अधिक है कि तीन लोक का भोजन मिल जाए तो भी भूख न मिटे और प्यास की वेदना इतनी भीषण होती है कि समस्त समुद्रों का पानी मिल जाए तो भी प्यास न मिटे। फिर भी न एक दाना खाने को मिलता है, न प्यास बुझाने को एक बूंद पानी। सागरों पर्यन्त यह भूख-प्यास का दुःख झेलना पड़ता है।

वहाँ क्षेत्र संबंधी दुःख भी असहनीय हैं। नरकों में घोर अंधकार होता है। नारकी जीवों को दुर्गन्धयुक्त मिट्टी ही खाने को मिलती है। वहाँ की भूमि के

स्पर्श मात्र से हजारों बिच्छुओं के डंक मारने जैसी वेदना होती है। वहाँ अपार गर्मी और तीव्रतम ठंड का दुःख सहन करना पड़ता है। वहाँ सैकड़ों दुःखदायक यंत्रों से सहित गुफाएँ हैं तथा वेताल की आकृति के समान भयंकर पर्वत हैं। शारीरिक कष्ट वहाँ अति दुर्धर हैं। गरम पिघला हुआ लोहा, ताँबा संसी से मुँह फाड़कर पिलाना, अग्नि से तप्त लोहे के स्तंभों से आलिंगन कराना, काँटेदार शाल्मलि वृक्ष के ऊपर चढ़ाना-उतारना, पृथ्वी पर लिटाकर घनों से कूटना-पीसना, बसूले से शरीर के माँस-चमड़ी को छीलना, शरीर पर खौलता तेल डालकर नहलाना, लोहे के खोलते गर्म कड़ाहों में डालकर लम्बे समय तक पकाना, भाड़ में डालकर सेंकना (भूंजना), घानी में पटककर पेलना, शूली पर चढ़ाना, भाले से बींधना, करौंत से चीरकर शरीर के टुकड़े-टुकड़े करना, धधकते अंगारो पर लिटाकर भूँजना, गर्म रेत पर चलाना, अति दुर्गन्धयुक्त वैतरणी में स्नान कराना तथा उसके तेजाब जैसे जल को पिलाना, तलवार जैसे अत्यंत तीक्ष्ण पत्तों वाले वन में प्रवेश कराना, जिनके तीक्ष्ण पत्ते शरीर के खंड-खंड कर देते हैं, धारदार हथियारों से शरीर के अंगों का छेदन-भेदन करना आदि-आदि भीषणतम दुःखों को सागरों पर्यन्त अर्थात् असंख्यात् करोड़ों-करोड़ वर्षों तक भुगतना ही भुगतना पड़ता है, लेकिन मृत्यु नहीं होती। शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी वह पारे की तरह पुनः जुड़ जाता है।

नरकों में असुर जाति देवकृत तथा पारस्परिक दुःख भी असहनीय हैं। वे असुर कुमार देव वहाँ जाकर पूर्व भव के बैर का स्मरण कराकर आपस में लड़ाते हैं और मजा लूटते है, जिससे वे अति क्रोधायमान होकर परस्पर में लड़ते मरते रहते हैं, लेकिन मरते नहीं।

नरकों में कौन से जीव उत्पन्न होते हैं?

हम सभी को यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि वे क्या कारण हैं? कि जिनके फलस्वरूप इस जीव को नरक के बिलों में औंधे मुख गिरकर

तृतीय अध्याय

असंख्यात् करोड़ वर्षों तक अकल्पनीय दुःखों को भोगना पड़ता है। क्षण मात्र को भी वहाँ विश्राम नहीं है। वे कारण जानिए जो नरक के बिलों में हमें ढकेलते हैं, ध्यान से सुनिए, उन कारणों को।

१) इनमें सर्व प्रथम कारण है, अत्यधिक आरंभ-सारंभ करने वाला

२) अति परिग्रह का संचय करने वाला, क्योंकि आरंभादिक क्रियाओं तथा परिग्रह के संचय में पांचों पापों को करना ही पड़ता है।

३) अन्य कारणों में हिंसादि क्रूर कार्यों को करने वाला,

४) पंचेन्द्रिय के विषयों में अति लम्पटी,

५) सप्त व्यसनों में आसक्त रहने वाला,

६) कुत्ता-बिल्ली-मुर्गी-बंदर आदि हिंसक पशु एवं पक्षियों को पालने वाला,

७) शराब-चमड़े की वस्तुओं को बेचने अथवा उपयोग करने वाला,

८) कीटनाशक दवाइयों को तथा उन कीटनाशक दवाइयों का छिड़काव करने के यंत्र बेचने वाला,

९) हिंसात्मक औषधियों को बेचने वाला,

१०) ईटों के भट्टे लगवाने वाला,

११) होटल हलवाई का कार्य करने वाला,

१२) मांस-मछली-अंडा से मिश्रित (पिज्जा, चाउमिन, बर्गर, मेगी, लेज चिप्स आदि-आदि) फास्ट फूड तथा शराब से भी निष्कृट (कोका-कोला, पेप्सी आदि) सभी तरह की कोल्ड्रींक को खाने-पीने-बेचने वाला,

१३) जंगल कटवाने या जलवाने वाला,

तृतीय अध्याय

१४) कुँओं-तालाबों को सुखाने वाले ऐसे अति हिंसात्मक पाप कार्य-व्यापार में संलग्न (पापी जीव) नरकों में जन्म लेते हैं।

अतः भव्यात्माओ! नरक गति के भीषणतम दुःखों को जानकर हमें निरंतर पाप कार्यों से प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए। आरंभ-परिग्रह अत्यंत सीमित रखें, विषय लम्पटी ने बनें तथा अति हिंसात्मक व्यापार करने से बचें।

नरकों की व्यवस्था

नं.	पृथ्वी	प्रस्तार	बिल	शरीर की ऊँचाई	लेश्या	शीतोष्ण वेदना	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	पृथ्वी की मोटाई
1	रत्नप्रभा	13	30 लाख	7 धनुष 5 हाथ 6 अंगुल	जघन्य कापोत	उष्ण वेदना	1 सागर	10,000 वर्ष	1.80 लाख योजन
2	शर्कराप्रभा	11	25 लाख	15 ध. 2 हाथ 12 अंगुल	मध्यम कापोत	उष्ण वेदना	3 सागर	1 सागर	32 हजार योजन
3	बालुका प्रभा	9	15 लाख	31 धनुष 1 हाथ	उत्कृष्ट कापोत जघन्य नील	उष्ण वेदना	7 सागर	3 सागर	28 हजार योजन
4	पंकप्रभा	7	10 लाख	62 धनुष 2 हाथ	मध्यम नील	उष्ण वेदना	10 सागर	7 सागर	24 हजार योजन
5	धूम प्रभा	5	3 लाख	125 धनुष	उत्कृष्ट नील जघन्य कृष्ण	उष्ण शीत	17 सागर	10 सागर	20 हजार योजन
6	तमः प्रभा	3	99995	250 धनुष	मध्यम कृष्ण	महा शीत	22 सागर	17 सागर	16 हजार योजन
7	महातमः प्रभा	1	5	500 धनुष	उत्कृष्ट कृष्ण	महा शीत	33 सागर	22 सागर	8 हजार योजन

तृतीय अध्याय

कौन जीव किस नरक में उत्पन्न हो सकता है?

१. असंज्ञी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रथम नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं।
२. पेट से चलने वाले सरी सृप आदि जीव दूसरे नरक तक।
३. पक्षी तीसरे नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं।
४. भुजंगादि, सर्पादि चौथे नरक तक।
५. सिंह आदि क्रूर शिकारी जानवर पाँचवे नरक तक।
६. स्त्री छठवें नरक तक।
७. महामत्स्य सातवें नरक और मनुष्य पहले से सातवें नरक तक कर्म अनुसार किसी भी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं।

नरक से निकलकर जीव कहाँ उत्पन्न होता है?

१. नरक से निकला जीव सेनी तिर्यंच या मनुष्य होता है। किन्तु ७वें नरक से निकला जीव नियम से क्रूर परिणाभी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होता है।
२. नरक से निकला जीव चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र नहीं हो सकता।
३. तीसरे नरक तक का जीव तीर्थंकर हो सकता है।
४. चौथे नरक से निकला जीव चरम शरीरी हो सकता है।
५. पाँचवें नरक से निकला जीव मुनि हो सकता है।
६. छठवें नरक से निकला जीव देश संयमी हो सकता है।

नरक से नरक की उत्पत्ति नहीं–

नरक से निकला जीव पुनः नरक में उत्पन्न नहीं हो सकता। हाँ एक पर्याय मनुष्य या तिर्यंच की प्राप्त कर पुनः नरक जा सकता है।

उपरोक्त क्रम से प्रथम नरक में लगातार ८ बार जा सकता है।

दूसरे में लगातार ७ बार/तीसरे में लगातार ६ बार

चौथे में लगातार ५ बार/तीसरे में लगातार ४ बार

छठवें में लगातार ३ बार/सातवें में लगातार २ बार इससे अधिक नहीं

नारकियों की उकृष्ट आयु-

तेष्वेक त्रिसप्तदश सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।।६।।

अर्थ- नारकी जीवों की उकृष्ट आयु पहली पृथ्वी में एक सागर, दूसरी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दस सागर, पाँचवी में सत्रह सागर, छठी में बाइस सागर औंर सातवीं पृथ्वी में तैतीस सागर होती है।

आगे मध्यलोक का वर्णन- (द्वीप-समुद्रों के नाम)-

जम्बूद्वीप लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ।। ७ ।।

अर्थ- इस मध्यलोक में शुभ नाम वाले जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवण समुद्र आदि समुद्र हैं।

विशेषार्थ- मध्यलोक के बीचों बीच थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, उसके चारों ओर लवण समुद्र है। उसके चारों तरफ धातकीखण्ड द्वीप है, इसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है। इसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है, पुष्करद्वीप को घेरे हुए पुष्करवर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात् द्वीप और असंख्यात् समुद्र हैं। सबसे अंतिम द्वीप और अंतिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है। सम्पूर्ण मध्यलोक पूर्व से पश्चिम एक राजू और उत्तर से दक्षिण एक राजू वाला है।

तृतीय अध्याय

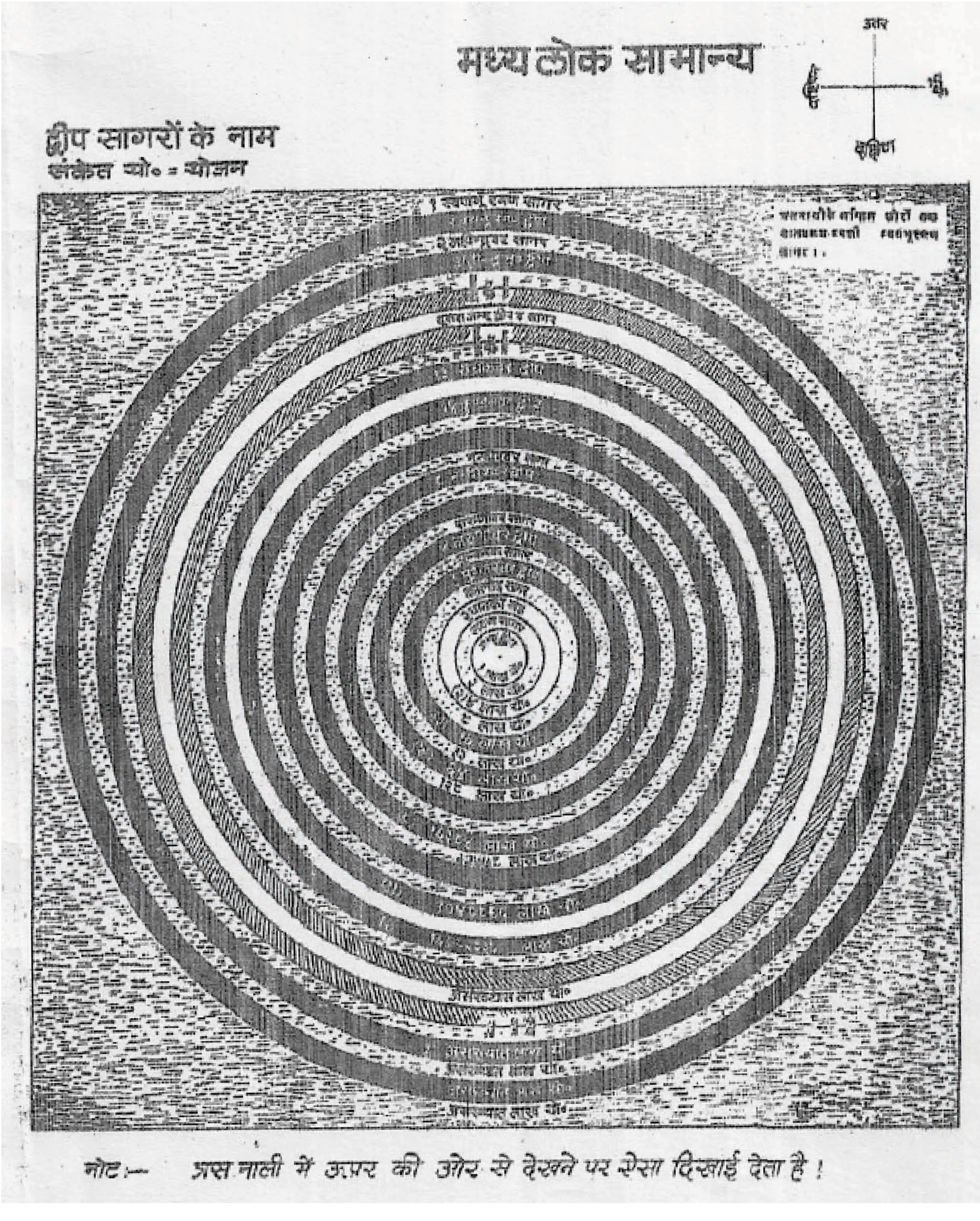
मध्य लोक सामान्य
द्वीप सागरों के नाम
संकेत यो० = योजन
उत्तर
दक्षिण
नोट:— त्रस नाली में ऊपर की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है।

तृतीय अध्याय

उन द्वीपों व समुद्रों का विस्तार-

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।। ८ ।।

अर्थ- इन द्वीप और समुद्रों का विस्तार आगे-आगे दूना-दूना होता गया है। प्रत्येक द्वीप व समुद्र अपने से पूर्व के द्वीप और समुद्रों को घेरे हुए चूड़ी के आकार में स्थित हैं। पहले द्वीप का जितना विस्तार है, उससे दूना विस्तार उसको घेरे हुए पहले समुद्र का है। उससे दूना विस्तार दूसरे द्वीप का है और उससे दूना विस्तार उसको घेरे हुए दूसरे समुद्र का है। इस प्रकार द्वीप से दोगुना विस्तार समुद्र का है और समुद्र से आगे के द्वीपों का विस्तार उससे दोगुना होता है।

जम्बूद्वीप का आकार-

तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्त्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।। ९ ।।

अर्थ- उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में सूर्य मण्डल की तरह गोल अथवा थाली के आकार का एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। उसके बीचों बीच नाभि के समान सुदर्शन मेरू स्थित है।

विशेषार्थ- उत्तर कुरू भोगभूमि में एक जम्बूवृक्ष (जामुन का पेड़) है, वह वृक्ष पार्थिव है, हरा-भरा वनस्पति कायिक नहीं है। इसी से वह अनादिनिधन है। इसके कारण ही यह द्वीप जम्बूद्वीप कहा जाता है।

जम्बूद्वीप के सात क्षेत्र-

भरतहैमवत हरि-विदेह-रम्यक हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।। १० ।।

अर्थ- जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

तृतीय अध्याय

विशेषार्थ- भरत क्षेत्र के उत्तर में हिमवान् पर्वत है। अन्य तीन दिशाओं पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में लवण समुद्र फैला है।

भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत स्थित है, यह पूर्व से पश्चिम तक लम्बा है तथा २५ योजन ऊँचा और ५० योजन चौड़ा है। पृथ्वीतल से १० योजन ऊपर जाने पर उस पर्वत के दक्षिण और उत्तर दिशा में दो श्रेणियाँ हैं, जिनमें विद्याधरों के नगर वसे हुए हैं। वहाँ से १० योजन और ऊपर जाने पर पर्वत के ऊपर दोनों ओर पुनः दो श्रेणियाँ हैं, उनमें व्यंतरों का निवास है। वहाँ से ५ योजन और ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वत की शिखर भूमि है, जिन पर अनेक कूट (चैत्यालय) वने हुए हैं।

इस विजयार्ध में दो गुफायें हैं, जो आर-पार हैं। हिमवान पर्वत से गंगा एवं सिंधु महा नदियाँ गिरकर इन गुफाओं के नीचे से निकलकर दक्षिण भरत क्षेत्र में आती हैं। विजयार्ध पर्वत और इन दोनों महानदियों के कारण ही भरत क्षेत्र के छः खण्ड हो गए हैं। इनमें तीन खण्ड विजयार्ध के उत्तर में है और तीन खण्ड दक्षिण में हैं। दक्षिण के तीन खण्डों के बीच का खण्ड आर्य खण्ड कहलाता है तथा शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड हैं। उपरोक्त गुफाओं के द्वारा ही चक्रवर्ती उत्तर के तीन खण्डों को जीतने के लिए जाता है, इसी से इस पर्वत का नाम विजयार्ध है। क्योंकि चक्रवर्ती के यहाँ तक पहुँचने पर आधी विजय हो जाती है।

उत्तर के तीन खण्डों के बीच वाले खण्ड में **वृषभाचल पर्वत** है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम खोदता है।

भरत क्षेत्र के समान ही अन्त का ऐरावत क्षेत्र है, उसमें भी विजयार्ध पर्वत है और वहाँ से निकलने वाली रक्ता, रक्तोदा इन दो महानदियों के कारण उसके भी छः खण्ड हो गए हैं। सब क्षेत्रों के बीचों बीच **विदेह क्षेत्र** है। यह क्षेत्र निषध व नील पर्वत के मध्य में स्थित है। वहाँ मनुष्य आत्म ध्यान-तपश्चरण आदि करके इस नश्वर देह के बंधन से सदैव मुक्त होते रहते हैं।

इसी कारण इस क्षेत्र का नाम "**विदेह**" सार्थक है। यहाँ सदा चतुर्थकाल सदृश व्यवस्था वर्तती है। काल परिवर्तन का प्रभाव विदेह क्षेत्र में नहीं होता।

विदेह क्षेत्र के बीच में **सुमेरू पर्वत** है। सुमेरू पर्वत की पूर्व दिशा वाले भाग को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा वाले भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। नील पर्वत से सीता नदी निकलकर पूर्व विदेह से होकर बहती है तथा निषध पर्वत से सीतोदा नदी निकलकर पश्चिम विदेह के मध्य से होकर बहती है। इन दोनों महानदियों के कारण से पूर्व विदेह के दो भाग और पश्चिम विदेह के भी दो भाग हो गए हैं। इस तरह विदेह क्षेत्र के चार भाग हो जाते हैं। इन चारों भागों (क्षेत्रों) में ८ - ८ उप विभाग हैं। इस प्रकार विदेह क्षेत्र में ८ × ४ = ३२ देश हैं, वे सभी विदेह कहलाते हैं और ये सभी प्रत्येक स्वतंत्र देश हैं।

सुमेरू पर्वत एक लाख महा योजन ऊँचा है, जिसमें एक हजार योजन पृथ्वी के अंदर नींव है और ९९ हजार योजन पृथ्वी के ऊपर उठा हुआ है। सुमेरू पर्वत के चारों ओर पृथ्वी तल पर **भद्रशाल** नाम का सुंदर वन फैला हुआ है। पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर पर्वत की चारों ओर की कटनी पर दूसरा **नंदन वन** है। इस नंदन वन से ६२ हजार योजन ऊपर जाने पर पर्वत के चारों ओर की कटनी पर तीसरा **सौमनस** नाम का मनोहर वन फैला हुआ है। **सौमनस** वन से ३६ हजार योजन ऊँचाई पर पर्वत का शिखर तल है। यहाँ बीच में ४० योजन ऊँची **चूलिका** है। इस चूलिका के चारों ओर **पाण्डुक** नाम का अत्यंत सुंदर वन हैं। इस वन की चारों दिशाओं में चार शिलाएँ हैं, इन्हे **पाण्डुक शिलाएँ** कहते हैं। उन पाण्डुक शिलाओं पर पूर्व-पश्चिम आदि

विदेह तथा भरत-ऐरावत क्षेत्रों में जन्म लेने वाले तीर्थंकरों का देवों आदि द्वारा जन्माभिषेक होता है।

इन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले छः कुलाचल (पर्वत)-

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन् निषध नील-रूक्मि शिखरणो वर्षधर पर्वताः ।। ११ ।।

अर्थ- उन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम तक लम्बे फैले छः पर्वत हैं। हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रूक्मि और शिखरिन।

वर्ष अर्थात् क्षेत्रों के विभाग के बनाए रखने के कारण इन्हें वर्षधर अथवा कुलाचल कहते हैं।

विशेषार्थ- भरतक्षेत्र और हैमवत क्षेत्र के बीच में **हिमवान** पर्वत है, वह सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्ष क्षेत्र के बीच में **महाहिमवान** पर्वत है, यह दो सौ योजन ऊँचा है। हरिवर्ष और विदेह क्षेत्र के बीच में **निषध** पर्वत है, यह चार सौ योजन ऊँचा है। विदेह और रम्यक क्षेत्र के बीच में **नील** पर्वत है यह भी चार सौ योजन ऊँचा है। रम्यक एवं हैरण्यवत क्षेत्रों के बीच में **रूक्मि** पर्वत है, यह दो सौ योजन ऊँचा है। और हैरण्यवत तथा ऐरावत क्षेत्रों के बीच में **शिखरनी** पर्वत है, यह सौ योजन ऊँचा है। ये सभी पर्वत पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक लम्बे फैले हुए हैं।

पर्वतों का रंग कैसा है-

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत हेममयाः ।। १२ ।।

अर्थ- ये पर्वत क्रम से सुवर्ण, चांदी, तपाये हुए सुवर्ण, वैडूर्य (नीलमणि), चांदी एवं स्वर्ण के समान वर्ण वाले हैं। अर्थात् हिमवान पर्वत सोने की तरह पीत

वर्ण है। महाहिमवान पर्वत चांदी के समान श्वेत वर्ण वाला है। निषध पर्वत तरूण सूर्य की तरह तपाये हुए सोने के वर्ण वाला है। नील पर्वत मोर के कण्ठ की तरह वैडूर्य मणि सदृश नीला है। रूक्मि पर्वत चांदी की तरह सफेद वर्ण वाला है। और शिखरनी पर्वत चीन देश की सिल्क की तरह स्वर्ण वर्ण वाला है।

पर्वतों की अन्य विशेषता-

मणिविचित्र-पार्श्वाउपरिमूले च तुल्यविस्ताराः ।।१३।।

अर्थ- इन पर्वतों के पार्श्व भाग अनेक प्रकार की मनोहर विचित्र-विचित्र मणियों से खचित हैं। इनका मूल में, मध्य में तथा ऊपर समान विस्तार है अर्थात् मूल से लेकर ऊपर तक एक समान विस्तार वाले हैं।

पर्वतों पर स्थित तालाब-

पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केसरि-महापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।।१४।।

अर्थ- उन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ह्रद (तालाब) स्थित हैं। अर्थात् हिमवान पर्वत पर पद्म सरोवर, महाहिमवान पर्वत पर महापद्म सरोवर, निषध पर्वत पर तिगिञ्छ सरोवर, नील पर्वत पर केसरिन सरोवर, रूक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक सरोवर और शिखरिन पर्वत पर पुण्डरीक सरोवर (ह्रद) स्थित हैं।

प्रथम तालाब का विस्तार-

प्रथमो योजन सहस्त्रायाम स्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ।। १५ ।।

अर्थ- पहला पद्म नाम का सरोवर (ह्रद) पूर्व से पश्चिम एक हजार महायोजन लम्बा तथा उत्तर से दक्षिण आधा अर्थात् पाँच सौ महायोजन चौड़ा है।

तृतीय अध्याय

प्रथम तालाब की गहराई-

दश योजनावगाहः ।। १६ ।।

अर्थ- प्रथम पद्‍म सरोवर की गहराई दस महायोजन है।

प्रथम तालाब का कमल-

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।। १७ ।।

अर्थ- प्रथम पद्‍म सरोवर के बीचों बीच एक योजन लम्बा और चौड़ा एक विशाल कमल है।

विशेषार्थ- यह कमल वनस्पति काय नहीं है, किन्तु कमल के आकार की पृथ्वी ही है। उस कमलाकार पृथ्वी के मध्य में दो कोस =(६ मील = ६ कि.मी.) की कर्णिका है और उस कर्णिका के चारों ओर एक-एक कोस (३ - ३ मील) की पंखुरियाँ हैं। इससे इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक योजन हो जाती है।

अब आगे के हृदों और कमलों का विस्तार बताते हैं-

तद्‍द्विगुण- द्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ।। १८ ।।

अर्थ- आगे के हृद (तालाब) और कमल प्रथम हृद और प्रथम कमल से दुगने-दुगने परिमाण वाले हैं। अर्थात् प्रथम पद्‍म हृद से दूना महापद्‍म हृद है। महापद्‍म से दूना तिगिञ्छ हृद है। इसी तरह इन हृदों में स्थित कमल भी दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

विशेषार्थ- दूने-दूने का क्रम तिगिञ्छ नाम के तीसरे हृद (तालाब) तक ही है। उसके आगे के तीन तालाब और उनमें स्थित कमल दक्षिण के तालाबों के समान विस्तार वाले हैं।

तृतीय अध्याय

कमलों पर निवास करने वाली देवियाँ-

तन् निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री-धृति कीर्ति-बुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपम स्थितयः ससामानिक परिषत्काः ।। १९ ।।

अर्थ- उन कमलों पर निवास करने वाली एक पल्य की आयु वाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ हैं, जो सामानिक और पारिषत्क (पारिषद) जाति के देवों के साथ रहती हैं।

विशेषार्थ- इन कमलों की कर्णिका के मध्य में मनोहर कान्ति के धारक १ कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊँचे प्रासाद (भवन) हैं। इनमें यथा क्रम से 'श्री' आदि देवियाँ रहती हैं। अर्थात् पद्म सरोवर स्थित कमल पर श्री देवी, महापद्म में ह्री, तिगिञ्छ पर धृति, केसरी पर कीर्ति, महापुण्डरीक पर बुद्धि देवी तथा पुण्डरीक पर लक्ष्मी देवी का निवास है। विशेष बात यह कि एक कमल का परिवार कमल १,४०,११९ (एक लाख चालीस हजार एक सौ उन्नीस) योजन प्रमाण फैला है और उन प्रसादों (भवनों) में सामानिक और पारिषत् देव रहते हैं।

देवियों का निवास मुख्य कमल पर हैं और सामानिक एवं पारिषत् देव परिवार कमलों पर स्थित उन प्रासादों में रहते हैं।

उन क्षेत्रों में बहने वाली नदियाँ-

गंगा-सिन्धु-रोहिदरोहितास्या हरिद हरिकांता सीता-सीतोदा नारी नरकान्ता सुवर्ण रूप्यकूलारक्ता-रक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।।२०।।

अर्थ- उपरोक्त कथित सात क्षेत्रों के बीच से बहने वाली गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला रूप्यकूला तथा रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ हैं।

विशेषार्थ- पहले पद्‌म नामक तालाब से गंगा, सिन्धु एवं रोहितास्या तथा छठवें पुण्डरीक नामक तालाब से रक्ता, रक्तोदा एवं सुवर्णकूला ये तीन-तीन नदियाँ निकली हैं। शेष तालाबों से क्रमशः दो-दो नदियाँ निकली हैं।

भरत क्षेत्र में गंगा नदी व सिंधु नदी, हैमवत क्षेत्र में रोहित-रोहितास्या, हरिक्षेत्र में हरित-हरिकान्ता, विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा, रम्यक क्षेत्र में नारी नरकान्ता, हैरण्यवत क्षेत्र में सुवर्णकूला-रूप्यकूला तथा ऐरावत क्षेत्र में रक्ता व रक्तोदा नदियां बहती हैं।

पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ-

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।। २१ ।।

अर्थ- क्रम से प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो नदियाँ बहती हैं और उन दो-दो नदियों में से पहली नदी पूर्व समुद्र में जाकर मिलती हैं। अर्थात् गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्ण कूला और रक्ता ये सात महानदियाँ पूर्व के समुद्र में जाकर मिलती हैं।

पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ-

शेषास्त्वपरगाः ।। २२ ।।

अर्थ- दो-दो नदियों में से पीछे वाली नदियाँ पश्चिम समुद्र को जाती हैं। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात महानदियाँ पश्चिम समुद्र अर्थात् लवण समुद्र के पश्चिम भाग में जाकर मिलती हैं।

विशेषार्थ- छः सरोवरों (ह्रदों) से १४ नदियाँ निकली हैं। उनमें प्रथम पद्म नाम के सरोवर से तथा छठवें पुण्डरीक नाम के सरोवर से तीन-तीन महानदियाँ निकली हैं। शेष चार सरोवरों से दो-दो महानदियाँ निकली हैं।

तृतीय अध्याय

अर्थात् प्रथम पद्म सरोवर के पूर्व द्वार से गंगा नदी, पश्चिम द्वार से सिन्धु नदी और उत्तर द्वार से रोहितास्या महानदियाँ निकली हैं। दूसरे महापद्म सरोवर के दक्षिण द्वार से रोहित नदी और उत्तर द्वार से हरिकान्ता नदी निकली है। तीसरे तिगिञ्छ सरोवर के दक्षिण द्वार से हरित नदी और उत्तर द्वार से सीतोदा नदी निकली है। चौथे केसरी सरोवर के दक्षिण द्वार से सीता और उत्तर द्वार से नरकान्ता नदी निकली है। पाचवें महापुण्डरीक सरोवर के दक्षिण द्वार से नारी महानदी और उत्तर द्वार से रूप्यकूला महानदी निकली है। छठवें पुण्डरीक सरोवर के दक्षिण द्वार से सुवर्णकूला, पूर्व द्वार से रक्ता और पश्चिम द्वार से रक्तोदा ये तीन महानदियाँ निकली हैं।

नदियों का परिवार-

चतुर्दशनदी सहस्त्र परिवृता गंगा-सिन्ध्वादयो नद्यः ।। २३ ।।

अर्थ- गंगा-सिन्धु आदि नदियाँ १४-१४ हजार परिवार नदियों से घिरी हुई हैं।

विशेषार्थ- आगे कि नदियों का परिवार विदेह क्षेत्र तक (आगे-आगे के युगलों में) पूर्व के युगलों से दूना-दूना है। अर्थात् रोहित-रोहितास्या नदी की परिवार नदियाँ २८-२८ हजार, हरि-हरिकान्ता की ५६-५६ हजार तथा सीता-सीतोदा की १ लाख १२ हजार-१ लाख १२ हजार हैं। उसके आगे उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान आधी-आधी हीन परिवार नदियाँ जाननी चाहिए।

तृतीय अध्याय

भरत क्षेत्र का विस्तार-

भरतः षड् विंशति-पञ्चयोजनशतविस्तारः षड्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ।। २४ ।।

अर्थ- भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छः भाग प्रमाण है अर्थात् भरत क्षेत्र का दक्षिण से उत्तर तक विस्तार 526 $\frac{6}{19}$ योजन है।

अन्य क्षेत्रों का विस्तार-

तद्द्विगुण-द्विगुण विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ता ।। २५ ।।

अर्थ- आगे के पर्वत एवं क्षेत्र विदेह क्षेत्र पर्यन्त भरत क्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

विशेषार्थ- अर्थात् हिमवान पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। हिमवान पर्वत के विस्तार से हैमवत क्षेत्र का विस्तार दोगुना है। हैमवत क्षेत्र के विस्तार से महाहिमवान पर्वत का विस्तार दोगुना है। महाहिमवान पर्वत से हरिक्षेत्र का विस्तार दोगुना है। हरिक्षेत्र के विस्तार से निषध पर्वत का विस्तार दोगुना है। और निषध पर्वत से विदेह क्षेत्र का विस्तार दो गुना है।

विदेह क्षेत्र से आगे के पर्वतों का विस्तार-

उत्तरादक्षिण तुल्याः ।। २६ ।।

अर्थ- उत्तर के ऐरावत क्षेत्र से लेकर नील पर्वत तक जितने क्षेत्र और पर्वत हैं उनका विस्तार आदि दक्षिण के भरत आदि क्षेत्रों के समान हैं। विवरण निम्न प्रकार है-

तृतीय अध्याय

क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

क्रम	क्षेत्र	विस्तार योजन में	क्रम	पर्वत	विस्तार योजन में
१	भरत क्षेत्र	५२६ - ६/१६ यो.	१	हिमवत	१०५२ - १२/१६
२	हैमवत क्षेत्र	२१०५ - ५/१६ यो.	२	महाहिमवत	४२१० - १०/१६
३	हरि क्षेत्र	८४२१ - १/१६ यो.	३	निषध	१६८४२ - २/१६
४	विदेह क्षेत्र	३३६८४ - ४/१६ यो.	४	नील	१६८४२ - २/१६
५	रम्यक क्षेत्र	८४२१ - १/१६ यो.	५	रूक्मि	४२१० - १०/१६
६	हैरण्यवत क्षेत्र	२१०५ - ५/१६ यो.	६	शिखरिन	१०५२ - १२/१६
७	ऐरावत क्षेत्र	५२६ - ६/१६ यो.			

इनका योग १,००,००० (एक लाख) महायोजन होता है। यह नियम दक्षिण भाग का जितना भी विवरण है, उन सबके सम्बंध में भी लगा लेना चाहिए। अतः उत्तर के हृद (तालाब) एवं कमल आदि का विस्तार तथा वहाँ की नदियाँ व उनकी परिवार नदियाँ समान जानना चाहिए।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन-

भरतैरावत योर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।। २७ ।।

अर्थ- भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छः समयों के द्वारा मनुष्यों की आयु, शरीर की ऊँचाई, भोगोपभोग साम्रगी, वीर्य, बुद्धि आदि घटती बढ़ती रहती है। अर्थात् उत्सर्पिणी के काल में इन सब में बढ़ती होती है, अवसर्पिणी के काल में दिन पर दिन घटती जाती है।

विशेषार्थ- अवसर्पिणी काल के छः भेद-प्रथम सुषमा-सुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा-सुषमा-दुषमा, चौथा-दुषमा-सुषमा, पाँचवाँ-दुषमा और छठवाँ दुषमा-दुषमा (सुषमा= सुखमा/दुषमा= दुःखमा)

तृतीय अध्याय

उत्पसर्पिणी काल के छः भेद-पहला दुषमा-दुषमा, दूसरा दुषमा, तीसरा दुषमा-सुषमा, चौथा सुषमा-दुषमा, पाचवाँ सुषमा और छठवाँ सुषमा-सुषमा।

बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। अवसर्पिणी और उत्पसर्पिणी दोनों का काल दस-दस कोड़ा कोडी सागर प्रमाण है। सुषमा-सुषमा का प्रमाण 4 कोडा कोडी सागर है, इसके प्रारंभ में मनुष्यों की दशा **देव कुरू** और **उत्तर कुरू उत्तम भोग भूमि** के समान उत्तम सुख आदि से सहित होती है। इस काल में मनुष्यों की आयु तीन पल्य और शरीर की ऊँचाई तीन कोस प्रमाण होती है।

फिर क्रमशः हानि होते-होते तीन कोडा-कोडी सागर का दूसरा सुषमा काल प्रारंभ होता हैं। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की दशा **हरिक्षेत्र मध्यम भोग भूमि** के मनुष्यों के समान होती है। इस काल में आयु दो पल्य तथा शरीर की ऊँचाई दो कोस प्रमाण है।

फिर क्रमशः हानि होते-होते तीसरा सुषमा-दुषमा काल का प्रवेश होता है। यह दो कोडा-कोडी सागर प्रमाण काल का होता है। उस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की दशा, सुख आदि **हैमवत जघन्य भोग भूमि** के मनुष्यों के समान होती है। प्रारंभ में इनकी आयु एक पल्य प्रमाण और ऊँचाई एक कोस होती है।

फिर क्रमशः मनुष्यों की आयु, सुख आदि में ह्रास होते-होते चौथा दुषमा-सुषमा काल का प्रवेश होता है। यह ४२ हजार वर्ष कम एक कोडा-कोडी सागर प्रमाण का होता है। इस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की दशा **विदेह क्षेत्र** के मनुष्यों के समान होती है। उस काल में उत्कृष्ट आयु एक

करोड पूर्व और जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है तथा शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष प्रमाण है। इस चतुर्थ काल में भोग भूमि का लोप होकर कर्म भूमि का प्रारंभ होता है।

फिर क्रमशः आयु आदि का ह्रास होते-होते चतुर्थकाल समाप्त होकर दुषमा नामक पंचमकाल (जिसमें हम सभी हैं) का प्रवेश होता है। इसका काल २१ हजार वर्ष प्रमाण है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु १२१ वर्ष प्रमाण (सर्वार्थ सिद्धि ग्रंथ से) तथा शरीर की ऊँचाई ७ हाथ प्रमाण है।

पुनः क्रमशः हीन होते-होते अति दुषमा नामक छठें काल का प्रवेश होता है। इस काल का प्रमाण भी २१ हजार वर्ष है। इस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयुमात्र २० वर्ष और शरीर एक हाथ प्रमाण रह जाता है।

इस छठे काल के अंत में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्ड में प्रलय काल आता है। उस समय तेज आंधी-वायु, ओला, पानी, धूल, कंकड़, वज्रपात, विष एवं अग्नि आदि की भीषण ७ कुवृष्टियाँ होती हैं। जिससे एक योजन नीचे तक की पृथ्वी चूर्ण-राख हो जाती है। इस प्रकार इन सात-सात दिन तक चलने वाली सात दुर्धर कुवृष्टियों से विशाल-विशाल पर्वत भी चूर-चूर हो जाते हैं। एकेन्द्रिय वनस्पति आदि से लेकर पंचेन्द्रिय तक-मनुष्य आदि समस्त प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। किंचित पुण्य वाले कुछ मनुष्य जोड़े और तिर्यञ्च विजयार्ध आदि पर्वत की गुफाओं में छिपकर अपनी रक्षा कर लेते हैं। बहत्तर (७२) मनुष्य युगलों को देव लोग वहाँ से उठाकर विजयार्ध पर्वत की कन्दराओं में छुपा देते हैं।

अवसर्पिणी के छठे अति दुषमा विषम काल के २१ हजार वर्ष पूर्ण होने पर उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। इस काल के आरंभ में सात सप्ताह तक ७ सुवृष्टियाँ होती हैं अर्थात् शीतल जल, दुग्ध, अमृत, बीज आदि की

वर्षा होती है, जिससे पृथ्वी की अग्नि-गर्मी शांत हो जाती है और लताएँ, वनस्पति आदि उगने लगती हैं। तब इधर-उधर छिपे हुए मनुष्य और तिर्यञ्च वहाँ से निकलकर पृथ्वी पर बसने लगते हैं। इस तरह नष्ट हुई सृष्टि का पुनः क्रम-क्रम से विस्तार होने लगता है।

इस प्रकार भरत व ऐरावत क्षेत्र में उपरोक्त छः भेदों सहित उत्सर्पिणी कालों का परिवर्तन होता रहता है। असंख्यात् अवसर्पिणी बीत जाने पर अनहोनी घटनाओं सहित **हुण्डा अवसर्पिणी** काल आता हैं। वर्तमान में यही **हुण्डा अवर्पिणी** काल चल रहा है।

एक विशेष बात यह कि भरत व ऐरावत क्षेत्र के **म्लेच्छ खण्डों** तथा **विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों** में अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल की तरह उसके आदि से लेकर अन्त तक घटते क्रम जैसा परिवर्तन होता है। और उत्सर्पिणी काल के समय तृतीय काल के अन्त से लेकर आदि तक बढ़ते क्रम जैसा परिवर्तन होता है। इन मलेच्छ खण्डों तथा विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में आर्य खण्डों की तरह छहों कालों में क्रमशः होने वाला परिवर्तन नहीं होता और न ही इनमें प्रलय काल वर्तता है।

शेष अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था-

ताभ्यामपरा भूमियोऽवस्थिताः ।। २८ ।।

अर्थ- भरत और ऐरावत क्षेत्र के अलावा अन्य 5 क्षेत्र अवस्थित हैं। उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता। सदैव एक सी दशा रहती हैं, हानि-वृद्धि नहीं होती। आगे सूत्र में यही बताते हैं।

तृतीय अध्याय

जम्बूद्वीप मानचित्र

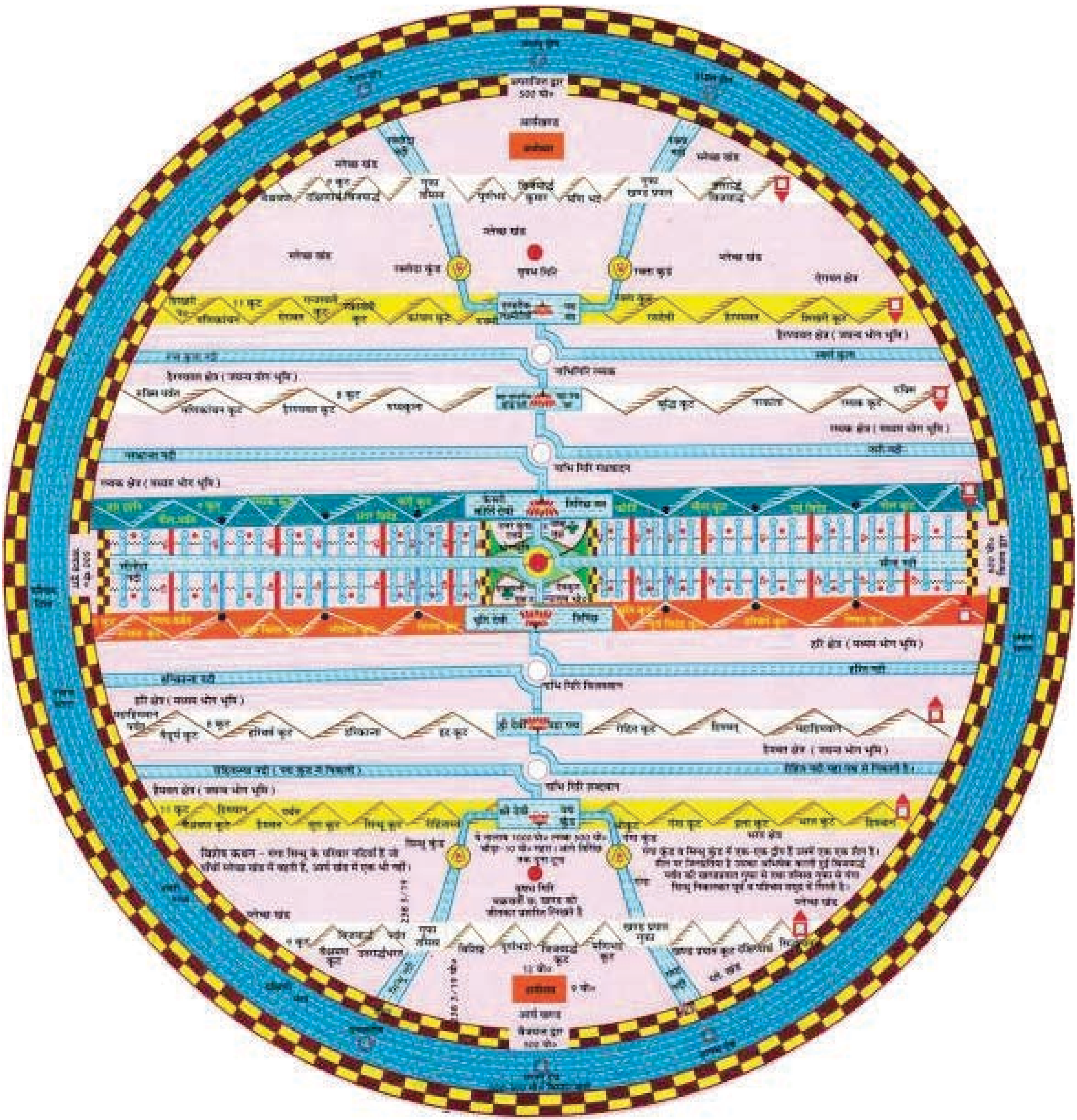

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

इन क्षेत्रों के मनुष्यों की आयु-

एक-द्वि-त्रि-पल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक दैवकुरवकाः ।। २९ ।।

अर्थ- हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की आयु एक पल्य, हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की दो पल्य और देवकुरू के मनुष्यों की आयु तीन पल्य प्रमाण की होती है।

विशेषार्थ- पाँचों हैमवत क्षेत्र (जघन्य भोग भूमि) के मनुष्यों की आयु एक पल्य, शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष अर्थात् एक कोस और शरीर का रंग नील कमल के समान होता है, ये एक दिन के अंतर से भोजन करते हैं।

पाँचों हरिक्षेत्रों में सदा (मध्यम भोगभूमि अर्थात्) सुषमा काल रहता है। इस क्षेत्र में मनुष्यों की आयु दो पल्य, ऊँचाई चार हजार धनुष (दो कोस) और शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान पीला होता है। ये तीन दिन के अंतर से भोजन करते हैं।

पाँचों देव कुरू में सदा (उत्तम भोगभूमि अर्थात्) सुषमा-सुषमा काल रहता है। इस क्षेत्र के मनुष्यों की आयु तीन पल्य, शरीर छः हजार धनुष (तीन कोस) प्रमाण और शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान पीला होता है। ये दो दिन के अंतर से भोजन करते हैं।

अन्य विशेष बात यह कि ये उपरोक्त तीनों क्षेत्र भोगभूमियाँ होने से कल्पवृक्षों से प्राप्त सभी भोगोपभोग की वस्तुओं से मनुष्य युगल अपना जीवन निर्वाह सानंद करते हैं। वहाँ न कोई स्वामी है और न कोई सेवक। समस्त भोग भूमियाँ जीव वहाँ प्राकृतिक साम्यवाद का सुख आयु पर्यन्त भोगते हैं। वहाँ सूर्य की गर्मी, सर्दी आदि अथवा ऋतु परिवर्तन नहीं होता। वहाँ कृषि-वाणिज्य आदि षट् कर्मों का विकल्प भी नहीं है।

वहाँ के मनुष्य सदैव युवा रहते है। उन्हें कोई रोग, आधिव्याधि आदि नहीं होती, न ही मरते समय कोई कष्ट होता है। बस पुरूषों को जंभाई और स्त्री को छींक आते ही उनका मरण हो जाता है और मरण होते ही शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है। जंभाई व छींक आने के कुछ क्षण पूर्व स्त्री जुगलिया पुत्र-पुत्री को जन्म देकर मरते हैं। भोग भूमि के मनुष्यों को कषाय व राग-द्वेष-विसंवाद आदि के निमित्त (संयोग) न मिलने से मंद परिणामों के कारण मात्र देवायु का ही बंध होता है। क्वचित-कदाचित चारण ऋद्धि मुनियों का सानिध्य व उपदेशादि से किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। सम्यग्दृष्टि तो सौधर्म, ईशान स्वर्ग में देव होते हैं। और मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में जन्मते हैं। भोग भूमि के पशु भी मरकर देव होते हैं। उनमें भी परस्पर राग-द्वेष नहीं होता। यहाँ के प्राणियों का अकाल मरण नहीं होता।

<u>हैरण्यवत क्षेत्र (उत्तर जम्बूद्वीप) के क्षेत्रों में आयु-</u>

तथोत्तरा ।। ३० ।।

अर्थ- उत्तर के क्षेत्रों के मनुष्य और पशुओं की आयु दक्षिण के हैमवत आदि क्षेत्रों के मनुष्यों व तिर्यञ्चों के समान होती है।

विशेषार्थ- हैरण्यवत क्षेत्र में मनुष्यों की आयु आदि हैमवत क्षेत्र (जघन्य भोग भूमि) के समान, रम्यक क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति हरिवर्ष क्षेत्र (मध्यम भोग भूमि) के मनुष्यों के समान और उत्तर कुरू के मनुष्यों की स्थिति देवकुरू (उत्तम भोग भूमि) के मनुष्यों के समान है।

इस प्रकार उत्तम, मध्यम एवं जघन्य रूप तीनों भोग भूमियों के २-२ क्षेत्र है। जम्बूद्वीप में छः भोग भूमियाँ है और सम्पूर्ण ढ़ाई द्वीप में ३० भोग भूमियाँ हैं।

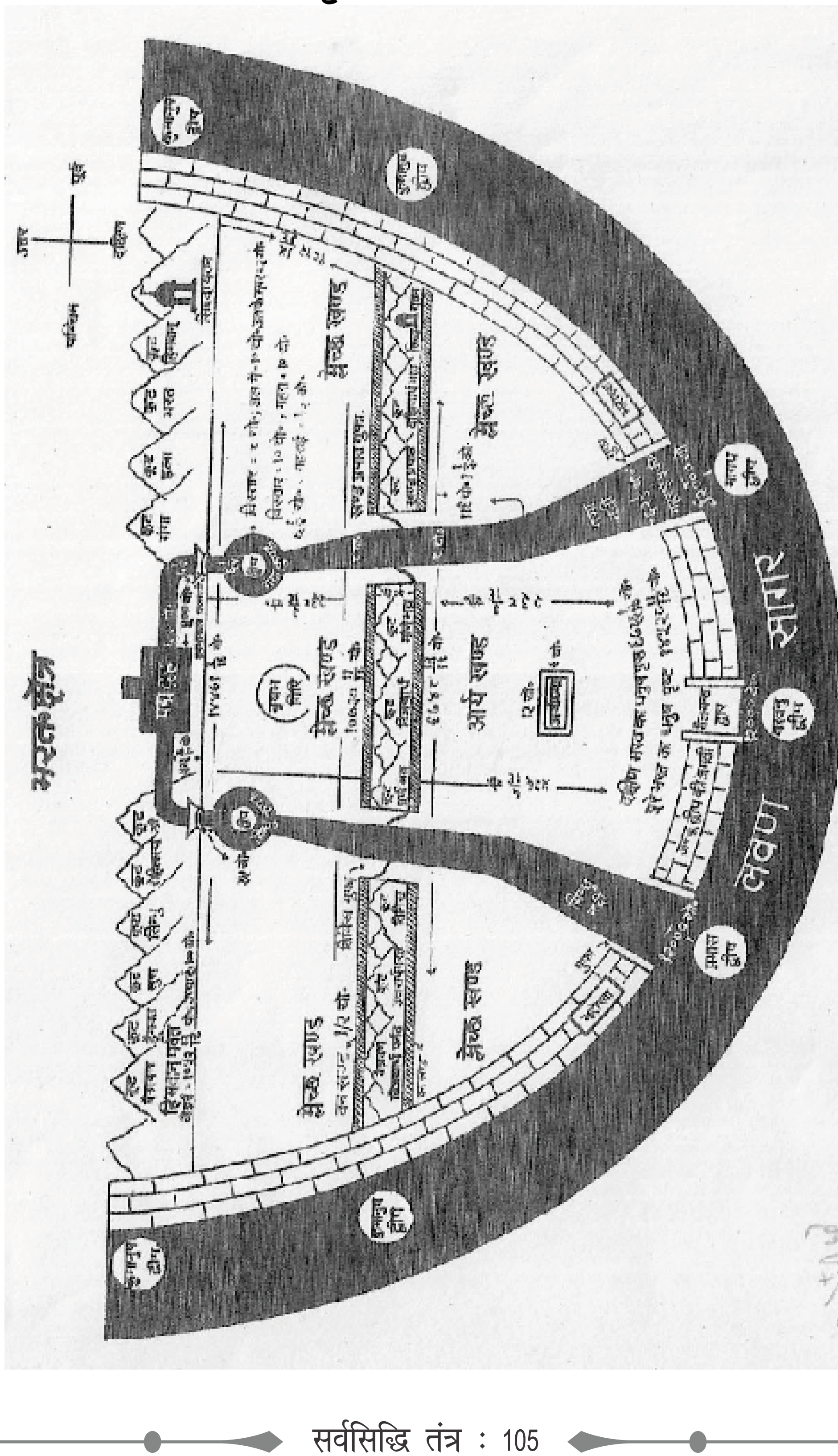
भरत क्षेत्र
लवण सागर
आर्य खण्ड

तृतीय अध्याय

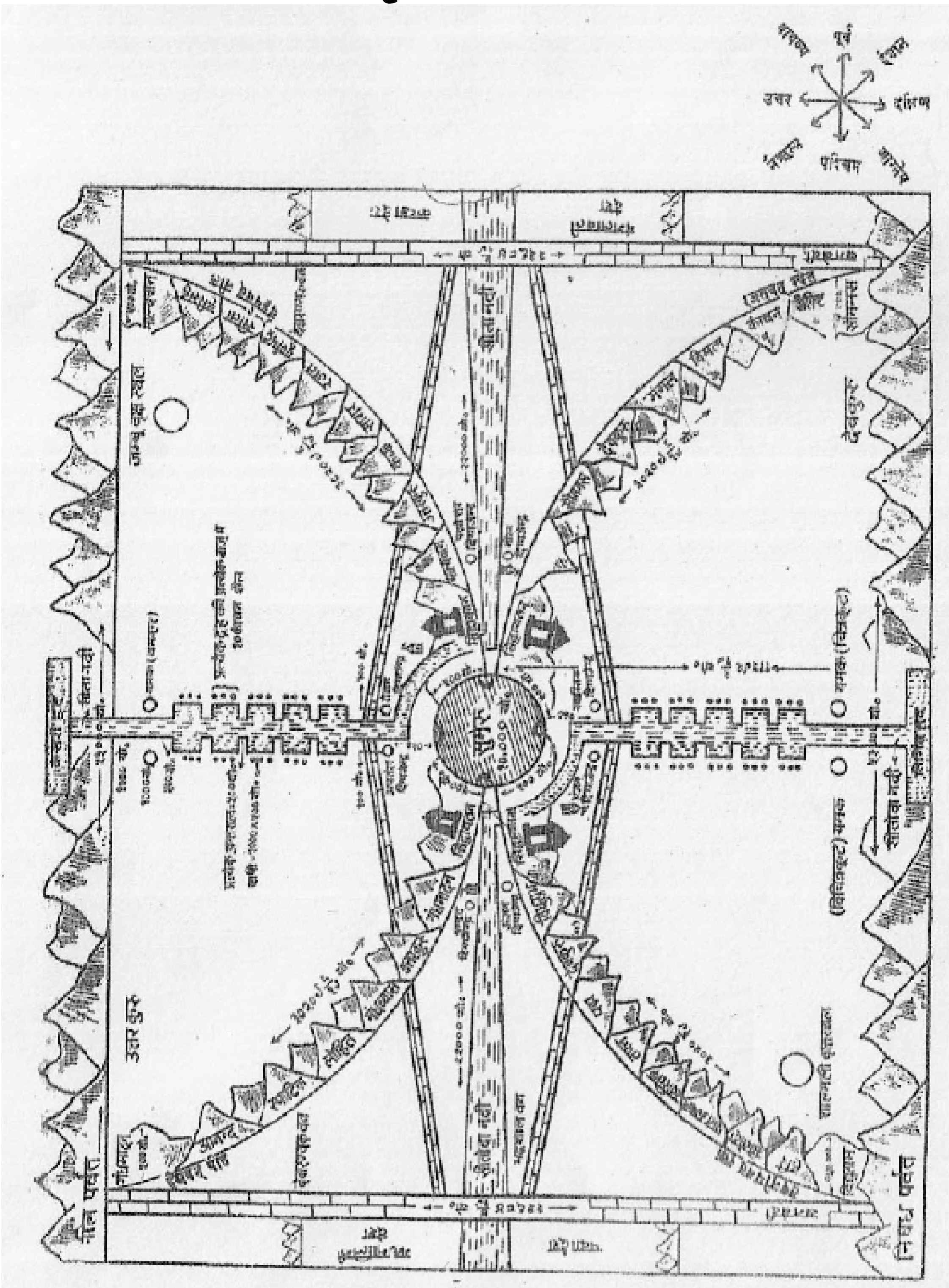

तृतीय अध्याय

विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की स्थिति (आयु)-

विदेहेषु संख्येयकालाः ।। ३१ ।।

अर्थ- पाँचों विदेह क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

विशेषार्थ- पाँचों मेरू सम्बंधी पाँचों विदेहों में सदा सुषमा-दुषमा काल वर्तता है। यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु **एककोटि पूर्व** और जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष प्रमाण होती है। वे प्रतिदिन भोजन करते हैं। पूर्व का प्रमाण इस प्रकार कहा है ८४,००००० (चौरासी लाख) वर्ष का एक पूर्वांग और ८४,००००० (चौरासी लाख) पूर्वांग वर्षों का एक पूर्व होता है। अर्थात् एक पूर्व का प्रमाण ८४,००,००० × ८४,००,००० = ७,०५,६०,००,००,००,००० (सत्तर लाख करोड़ छप्पन लाख करोड़) वर्ष का एक पूर्व। इस राशि को एक करोड़ से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होगी, उतने वर्ष प्रमाण का एक कोटि पूर्व होता है।

भरत क्षेत्र का विस्तार-

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागाः ।। ३२ ।।

अर्थ- जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। उसमें एक सौ नब्बे का भाग देने पर एक भाग प्रमाण भरतक्षेत्र का विष्कम्भ है। पूर्व सूत्र २४ में यह प्रमाण ५२६ - ६ /१९ योजन प्रमाण जो कहा है, वही यहाँ बतलाया है।

धातकी खण्ड द्वीप का रचना-

द्विर्धातकी खण्डे ।। ३३ ।।

अर्थ- धातकी खण्ड नाम के दूसरे द्वीप में दो भरत क्षेत्र, दो हिमवान, दो मेरू, दो नदी, आदि सभी दो-दो हैं और जम्बूद्वीप से द्विगुणे-द्विगुणे विस्तार वाले हैं।

विशेषार्थ- धातकी खण्ड में दो इष्वाकार पर्वत एक दक्षिण दिशा में और एक उत्तर दिशा में 'इषु' अर्थात् वाण की तरह सीधे, दक्षिण से उत्तर तक फैले हैं। इनकी लम्बाई द्वीप के बराबर ही यानि चार लाख योजन है। इनके कारण धातकी खण्ड के दो भाग पूर्वी भाग और पश्चिमी भाग हो गए हैं। पूर्वी भाग में **विजय मेरू** और पश्चिम में **अचलमेरू** दो पर्वत हैं। इन दोनों मेरू के दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवान आदि कुलाचल (पर्वत) हैं।

जम्बूद्वीप में जम्बू (जामुन) का वृक्ष है, उसी प्रकार धातकी खण्ड में धातकी (आँवले) का वृक्ष परिवार सहित स्थित है। इस धातकी खण्ड को घेरे हुए टाँकी से काटे हुए के समान आठ लाख योजन विष्कम्भ (विस्तार) वाला **कालोदधि समुद्र** है। कालोदधि समुद्र को घेरे हुए सोलह लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है।

पुष्करवर द्वीप का वर्णन-

पुष्करार्द्धे च ।। ३४ ।।

अर्थ- आधे पुष्करार्ध में धातकी खण्ड के समान रचना है। अर्थात् आधे पुष्करवर द्वीप में भी भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान आदि पर्वत सभी दो-दो हैं।

विशेषार्थ- पुष्करवर द्वीप के बीच में चूड़ी के आकार का **मानुषोत्तर पर्वत** है। इसके कारण द्वीप के दो भाग हो गए हैं। इसलिए पूर्व के (आधे) पुष्करवर द्वीप में ही भरत आदि क्षेत्र, हिमवन आदि पर्वत, पद्म आदि तालाब धातकी खण्ड के समान दो-दो हैं और उनका विष्कम्भ (विस्तार) भी द्विगुणा है। क्षेत्र, पर्वत, तालाब आदि के नाम भी वही हैं। पद्म आदि तालाबों में रहने वाली देवियों के नाम, आयु आदि भी वही-वही हैं।

तृतीय अध्याय

धातकी खण्ड के समान पुष्करार्ध द्वीप में दो **इष्वाकार पर्वत** हैं तथा **मंदर मेरू** और **विद्युन्माली** नाम के दो मेरू हैं। इष्वाकार पर्वत के कारण से पुष्करार्ध द्वीप के दो विभाग होते हैं। एक पूर्व पुष्करार्ध और दूसरा पश्चिम पुष्करार्ध। दोनों भागों में जो दो मेरू पर्वत है, उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र व पर्वत हैं।

जैसे जम्बूद्वीप में जम्बू (जामुन का) वृक्ष है, धातकी खण्ड में धातकी (आँवला/धतूरा) वृक्ष है, उसी प्रकार पुष्कर द्वीप के मध्य में सपरिवार पुष्कर (कमल) वृक्ष है अर्थात् १,४०,१२० (एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस) परिवार पुष्कर वृक्ष हैं। इसीलिए इस द्वीप का नाम रूढ़ी से पुष्कर द्वीप है।

उपरोक्त व्यवस्था आधे पुष्करार्ध में ही क्यों?

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।। ३५ ।।

अर्थ- मानुषोत्तर पर्वत पुष्कर द्वीप के वहुमध्य देश भाग में स्थित है। उस पर्वत के पहले ही मनुष्य पाये जाते हैं, इसके बहिर्भाग में नहीं। अर्थात् **जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड** और **आधे पुष्कर द्वीप** पर्यन्त ही मनुष्यों का आवास है। इन अढ़ाई द्वीप के बाहर उपपाद तथा केवली समुदघात एवं मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा से अवश्य मनुष्य के आत्म प्रदेश स्पर्श करने जाते हैं।

अढ़ाई द्वीप से बाहर तो कोई ऋद्धि सम्पन्न मुनि या विद्याधर मनुष्य भी नहीं जा सकते। इसी कारण से मानुषोत्तर पर्वत के बहिर्भाग के द्वीपों में भरत आदि क्षेत्रों की रचना भी नहीं पाई जाती।

अब मनुष्यों के भेद बताते हैं-

आर्या म्लेच्छाश्च ।। ३६ ।।

अर्थ- मनुष्य दो प्रकार के हैं- आर्य और म्लेच्छ।

तृतीय अध्याय

विशेषार्थ- आर्य के दो भेद हैं- (१) ऋद्धि प्राप्त आर्य, (२) ऋद्धि रहित आर्य।

(१) ऋद्धि प्राप्त आर्य-

बुद्धि ऋद्धि आदि के भेद से **मुख्य रूप से ऋद्धियों** के सात भेद हैं-

१. बुद्धि ऋद्धि प्राप्त आर्य इनके १८ भेद हैं- अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी, बीजबुद्धि धारक, कोष्ठबुद्धि धारक, संभिन्नश्रोती, पदानुसारी बुद्धि, दूरस्पर्शित्व शक्ति ऋद्धि, दूरास्वादित्य शक्ति ऋद्धि, दूरघ्राणत्व शक्ति ऋद्धि, दूरावलोकनत्व शक्ति ऋद्धि, दूरश्रवणत्व ऋद्धि, दशपूर्वित्व ऋद्धि, चौदहपूर्वित्व ऋद्धि, अष्टांगनिमित्त ऋद्धि, प्रत्येकबुद्ध ऋद्धि, बोधितबुद्ध ऋद्धि एवं प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि।

२. विक्रिया ऋद्धि प्राप्त आर्य- इनके भी ८ भेद हैं- अणिमा-महिमा ऋद्धि, लघिमा गरिमा ऋद्धि, प्राप्ति ऋद्धि, प्राकाम्य ऋद्धि, ईशित्व ऋद्धि, वशित्व ऋद्धि, अप्रतिघात ऋद्धि एवं अन्तर्धान ऋद्धि।

३. तप ऋद्धि प्राप्त आर्य- इनके भी ७ भेद हैं- घोरतप ऋद्धि, महातप ऋद्धि, उग्रतप ऋद्धि, दीप्ततप ऋद्धि, तप्त तप ऋद्धि, घोरगुण ब्रह्मचरित ऋद्धि एवं पराक्रम ऋद्धि।

४. बल ऋद्धि प्राप्त आर्य- इनके भी ३ भेद हैं- मनोबल ऋद्धि, वचनबल ऋद्धि और कायबल ऋद्धि।

५. औषध ऋद्धि प्राप्त आर्य- इनके भी ८ भेद हैं- विट (मल) लेपन ऋद्धि, मलस्पर्श ऋद्धि, बमनस्पर्श ऋद्धि, सम्पूर्ण अंगों के मल का स्पर्श ऋद्धि, निष्ठीवन का स्पर्श (दन्त- केश, नख, मूत्रादि का स्पर्श) ऋद्धि, कृपा दृष्टि (से अवलोकन) ऋद्धि और कृपा से दन्त दिखाना (मुस्करा देना)।

६. रस ऋद्धि प्राप्त आर्य- इनके भी ६ भेद हैं- आस्यविष अथवा वाग्विष ऋद्धि, दृष्टिविष ऋद्धि, क्षीर स्रावी ऋद्धि, मधुस्रावी ऋद्धि, सर्पिस्रावी ऋद्धि और अमृतस्रावी ऋद्धि।

७. क्षेत्र ऋद्धि प्राप्त आर्य- इनके २ भेद हैं- अक्षीण महानस ऋद्धि और अक्षीणालय ऋद्धि। (षट्खण्डागम)

(२) **ऋद्धि रहित आर्य**- ऋद्धि रहित आर्य ५ प्रकार के हैं-

क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य एवं दर्शन आर्य अथवा सम्यक्त्व आर्य अर्थात् व्रत रहित सम्यग्दृष्टि।

(१) **क्षेत्र आर्य-** कौशल, काशी, अवन्ती, अंग, वंग, आदि उत्तम देशों में उत्पन्न मानव क्षेत्र आर्य है।

(२) **जात्यार्य-** इक्ष्वाकु वंश आदि उत्तम कुलों में उत्पन्न मनुष्य जाति आर्य कहलाते हैं।

(३) **कम आर्य-** तीन भेद रूप हैं- सावद्य कर्मार्य, अल्प सावद्य कर्मार्य (व्रती श्रावक) एवं असावद्य कर्मार्य (मुनिगण)। सावद्य कर्मार्य के ६ भेद हैं- असि कर्मार्य, मसि कर्मार्य, कृषि कर्मार्य, विद्या कर्मार्य, शिल्प कर्मार्य एवं वाणिज्य कर्मार्य।

(४) **चारित्र आर्य-** पंचम गुण स्थान वर्ती गृहत्यागी, व्रत-चारित्र धारी क्षुल्लक आदि व छठें गुण स्थान से लेकर ऊपर तक (महाव्रत धारी) मुनिगण।

(५) **दर्शन आर्य-** व्रत रहित सम्यग्दृष्टि।

म्लेच्छ- यह दो प्रकार के हैं- अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ।

तृतीय अध्याय

विशेष- 'षट् खण्डागम' ग्रंथ में मनुष्यों के दो भेद वताए हैं- **कर्मभूमिज मनुष्य** एवं **अकर्म भूमिज मनुष्य**। अकर्म भूमि का दूसरा नाम भोगभूमि है। भोग भूमि का एक अन्य भेद कुभोग भूमि है। इस **कुभोग भूमि** में जन्म लेने वाले मनुष्यों को ही **अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ** कहा गया है। शेष रहे शक, यवन, शबर, पुलिन्द (भील) आदि को कर्मभूमिज म्लेच्छ कहा है।

इसी प्रकार **क्षेत्र की अपेक्षा** आर्य भी दो प्रकार के उक्त ग्रंथ में कहे हैं- **कर्मभूमिज आर्य** तथा **अकर्म भूमिज आर्य**। तीस भोगभूमियों में उत्पन्न मनुष्य अकर्म भूमिज आर्य हैं तथा भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में उत्पन्न मनुष्य कर्मभूमिज आर्य है। कर्मभूमिज आर्य **ऋद्धि प्राप्त आर्य** और **अनऋद्धि प्राप्त** के भेद से दो प्रकार कहा है।

अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ- (कुभोग भूमि) के मनुष्यों का विवरण-

लवण समुद्र के भीतर आठों दिशाओं में ८ अन्तर्द्वीप हैं तथा इनके अन्तराल में ८ अन्तर्द्वीप है एवं हिमवान और शिखरी इन दोनों पर्वतों के अन्त में तथा दोनों विजयार्द्ध पर्वतों के अंतराल में भी ८ अन्तर्द्वीप हैं।

इन अन्तर्द्वीपों में पूर्व दिशा वाले अन्तर्द्वीप में **एक पैर वाले** मनुष्य उत्पन्न होते हैं, पश्चिम दिशा के अन्तर्द्वीप में **पूँछ वाले** मनुष्य हैं, उत्तर दिशा के अन्तर्द्वीप में **गूंगे** मनुष्य हैं और दक्षिण दिशा के अन्तर्द्वीप में **सींगो वाले** मनुष्य हैं।

चारों विदिशाओं वाले अन्तर्द्वीपों में क्रम से **खरगोश** के समान कान वाले, **शष्कुली** अथवा **मछली** अथवा **पूड़ी** के समान कान वाले, **प्रावरण** के समान कान वाले और **लम्बे कान** वाले मनुष्य रहते हैं।

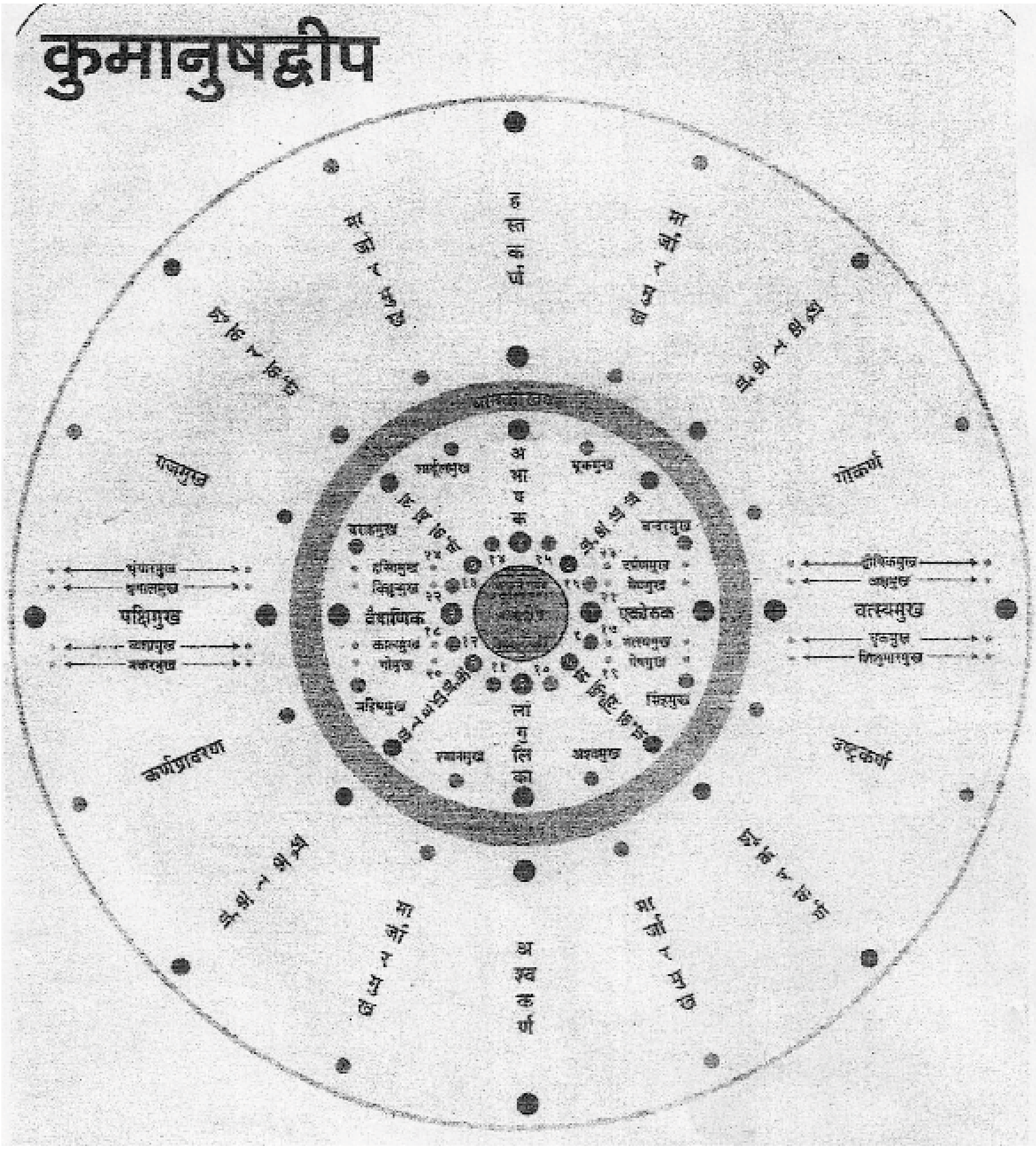
कुमानुषद्वीप
पक्षिमुख
वत्स्यमुख
गोकर्ण
उष्ट्रकर्ण
कर्णप्रावरण
अश्वमुख

तृतीय अध्याय

आठों अन्तरालों के द्वीपों में क्रम से **घोड़े** के समान मुख वाले, **सिंह** के समान मुख वाले, **कुत्ते** के समान मुख वाले, **भैंसा** के समान मुख वाले, **सुअर** के समान मुख वाले, **व्याघ्र** के समान मुख वाले, **कौआ** के समान मुख वाले, **बंदर** के समान मुख वाले और **विजली** के समान मुख वाले मनुष्य रहते हैं।

शिखरी पर्वत के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें **मेघ** के समान तथा **विजली** के समान मुख वाले मनुष्य रहते हैं। हिमवान पर्वत के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें **मछली** के समान और **काल के समान** मुख वाले मनुष्य रहते है। उत्तर विजयार्ध के दोनों कोणों की सीध में जो अन्तर्दीप हैं उनमें **हाथी** के समान मुख वाले और **दर्पण** के समान मुख वाले मनुष्य रहते हैं। दक्षिण विजयार्ध के दोनों कोणाों की सीध में जो अन्तर्द्वीप हैं, उनमें **गाय** के समान मुख वाले और **मेघ** के समान मुख वाले मनुष्य रहते हैं।

इन सबमें **एक टाँग वाले** मनुष्य गुफाओं में निवास करते हैं और मिट्टी का आहार करते हैं तथा **शेष मनुष्य** फूलों और फलों का आहार करते हैं तथा पेड़ों पर रहते हैं। इन सबकी एक पल्योपम आयु है। इसी प्रकार कालोदधि समुद्र के अन्तर्द्वीपों में भी ऐसी ही व्यवस्था जाननी चाहिए।

अब कुभोग भूमि में जन्म के कारण बताते हैं-

१) जो कुपात्रों को पात्र मानकर आहार दान करते हैं।

२) जो मुनियों आदि संयमीजनों की निंदा करते हैं।

३) जो मुनि गुरु आज्ञा के बिना संघ छोड़कर एकल बिहारी हो जाते हैं।

४) जो अपवित्र एवं रजस्वला स्त्रियों के हाथ का भोजन करते हैं।

५) जो गृहस्थों के पुत्र-पुत्रियों के विवाह कराते हैं।

६) जो पंचाग्नि तप तपते हैं।

७) जो जिनलिंग धारण करके भी मायाचारी, छल-कपट करते हैं।

८) जो मिथ्या दृष्टि देवों तथा मिथ्या गुरुओं की भक्ति-पूजा करते हैं।

९) जो अपने दोषों की आलोचना नहीं करते तथा दूसरे के दोषों को कहते फिरते हैं।

१०) जो मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं से जीवन चलाते हैं।

११) जो मौन छोड़कर आहार में संकेत कर अपलाप करते हैं।

१२) जो सम्यक्त्व की विराधना कर लेते हैं।

१३) जो गुरु के साथ स्वाध्याय, वंदना आदि नहीं करते हैं।

कर्मभूमियों के भेद-

भरतैरावत विदेहा कर्मभूमियोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः ।। ३७ ।।

अर्थ- पाँचों मेरू संम्बंधी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देव कुरू तथा उत्तर कुरू के अलावा शेष पाँच विदेह ये **पन्द्रह कर्म भूमियाँ** हैं। एवं पाँचों मेरू सम्बंधी पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच हैरण्यवत, पाँच देव कुरू और पाँच उत्तर कुरू ये **तीस भोगभूमियाँ** है। इनमें से दस **उत्तम,** दस **मध्यम** तथा दस **जघन्य** भोग भूमियाँ हैं।

विशेषार्थ- भोगभूमियों में कल्पवृक्षों से प्राप्त सभी भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होने से भोगों की ही प्रधानता है किन्तु कर्मभूमियों में बड़े से बड़ा पाप और बड़े से बड़ा पुण्य कार्य किया जा सकता है। जिससे जीव मरकर सातवें नरक

में और सर्वार्थ सिद्धि एवं मोक्ष भी जा सकता है। जो शुभ - अशुभ कर्मों को करने का आश्रय हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं। यहाँ पर असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्कर्मों द्वारा आजीविका की जाती है। अतः कर्म प्रधान व्यवस्था होने से ये कर्म भूमियाँ कही जाती हैं।

मनुष्यों की आयु-

नृस्थिति परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।। ३८ ।।

अर्थ- मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति (आयु) तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। मध्य की स्थिति अनेक प्रकार की है।

विशेषार्थ- प्रमाण दो प्रकार का होता है- एक संख्या रूप प्रमाण और दूसरा उपमा रूप प्रमाण। उपमा रूप प्रमाण का भेद पल्य है। पल्य तीन प्रकार का है- व्यवहार पल्प, उद्धार पल्य और अद्धापल्य। पल्य गड्ढे को कहते हैं।

अब प्रथम व्यवहार पल्य का प्रमाण कहते हैं क्योंकि यह आगे के दोनों पल्यों के व्यवहार (ज्ञान) का मूल है, इसके द्वारा अन्य किसी वस्तु का प्रमाण नहीं किया जाता। दूसरा उद्धार पल्य है। उद्धार पल्य के गड्ढे के रोम खण्डों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की गिनती की जाती है और अद्धा पल्य के रोम खण्डों के द्वारा नारकी, तिर्यंचों, देवों और मनुष्यों की आयु एवं कर्मों की स्थिती आदि जानी जाती है।

प्रमाणांगुल की गणना से एक-एक योजन लम्बे-चौड़े और उतने ही गहरे तीन गड्ढे करो। प्रथम गड्ढे में एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्में मेंढे के बच्चे के रोमों के अग्रभाग के इतने छोटे टुकडे करके भरो कि कैंची से उनके दूसरे टुकडे न किये जा सकें। अनन्तर उस गड्ढे से 100—100

वर्ष में एक-एक रोम का टुकडा निकालों, जितने काल (वर्षों) में वह गड्ढा खाली हो, वह काल **व्यवहार पल्योपम** कहा जाता है।

अनन्तर असंख्यात् करोड़ वर्षों के जितने समय होते हैं उन रोमों के उतने बारीक खण्ड करके उनसे दूसरे गड्ढे को भरने पर **उद्धार पल्य** होता है और फिर इस गड्ढे से प्रत्येक समय में एक-एक रोम को निकालते हुए जितने काल में वह गड्ढा खाली हो जावे, उतने काल को **उद्धार-पल्योपम** कहते हैं। ऐसे दस कोड़ा-कोडी उद्धारपल्यों का एक उद्धार सागरोपम काल होता है। तथा ढाई उद्धार सागर के जितने रोम खण्ड होते हैं उतने द्वीप एवं समुद्र हैं।

अनन्तर सौ वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने उद्धार पल्य रोम खण्डों में से प्रत्येक के खण्ड करके तथा उनसे तीसरा गड्ढा भरने पर एक **उद्धार पल्य** होता है और प्रत्येक समय में एक-एक रोम खण्ड निकालने पर जितने काल में वह गड्ढा खाली हो जावे, उतने काल का **अद्धा पल्योंपम** होता है। ऐसे दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा पल्यों का एक **अद्धा सागर** होता है और दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा सागरों का एक अवसर्पिणी और इतने ही काल का एक उत्सर्पिणी होता है। इस अद्धा पल्य के द्वारा नारक, तिर्यञ्च, देव और मनुष्यों की कर्म स्थिति, भव स्थिति, आयु और काय स्थिति की गणना की जाती है।

सर्वार्थ सिद्धि से संग्रहगाथा-

ववहारुद्धा रद्धा पल्ला तिण्णेव होंति वोद्धव्वा।
संखा दीव-समुद्दा कम्मट्ठिदि वण्णिदा तिदिए।।

तृतीय अध्याय

तिर्यञ्चों की स्थिति (आयु)-

तिर्यग्योनिजानाम् ।। ३६ ।।

अर्थ- तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट स्थिति (आयु) तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

विशेषार्थ- तिर्यञ्च तीन प्रकार हैं- एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय। **एकेन्द्रियों** में **शुद्ध पृथ्वीकायिक** पर्वत-पाषाण आदि जीवों की आयु १२ हजार वर्ष, **खर (मिट्टी)** पृथ्वीकायिक की आयु २२ हजार वर्ष होती है। **जल कायिक** जीवों की आयु ७ हजार वर्ष, **वायुकायिक** जीवों की ३ हजार वर्ष और **वनस्पतिकायिक** की १० हजार वर्ष उत्कृष्ट होती है। **अग्निकायिक** की आयु तीन दिन रात होती है।

विकलेन्द्रियों में दो इन्द्रिय शंख आदि की उत्कृष्ट आयु १२ वर्ष, **तीन इन्द्रिय** की ४६ दिन रात और **चौइन्द्रियों** की छः मास होती है।

पंचेन्द्रियों में **जलचर** जीवों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व, **गोधा-नकुल छिपकली** आदि की नव पूर्वांग अर्थात् ८४,००००० लाख × ९ = ७ करोड़ ५६ लाख वर्ष, **सर्पों की** ४२ हजार वर्ष, **भैरूण्ड आदि पक्षियों** की ७२ हजार वर्ष और **चौपायों की** तीन पल्य होती है। तथा सभी की जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्त होती है।

।। इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

———0 | |..... | |0———

जग के नाते-रिश्ते मात्र राग के हैं-

- श्रमण मनोज्ञ सागर

जिस सीता को पाने के लिए श्री राम विक्षिप्त हुए जंगल में पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों से पूँछते फिरे, उसी प्राण प्यारी अपनी सीता को लोक के अपवाद के भय से ८ माह की गर्भावस्था में भी भयानक जंगल में छल से छुड़वा दिया। भैया, यहाँ कौन किसका?

सुकौशल मुनिराज की माता ने अपने अतिप्रिय पुत्र के दीक्षा लेने से दुःखी होकर जिसके वियोग में अपने प्राण छोड़े थे, उसी माँ ने सिंहनी बनकर पुत्र के उदर का भक्षण कर लिया, तीव्र राग को द्वेष में बदलते देर नहीं लगती, जान लो मित्र! यह कटुसत्य।

सुकुमाल मुनि की पूर्वभव की भाभी स्यालनी ने पूर्व की तीव्र कषायवश अपने दो बच्चों सहित उनके पैरों के भक्षण कर लिया। संसार के नाते-रिश्तों की यथार्थ में यही दशा है, बन्धु।

भो आत्मन्! तुम किस-किस की चिंता करोगे? और कब तक करते रहोगे? पर की चिन्ता में ही अनंत भव नष्ट कर डाले। इसी उधेड-बुन में अपनी इस अमूल्य अति दुर्लभ पर्याय को भी गवाँ दोंगे, क्या?

मित्र! विश्वास मानो दुनिया बड़ी स्वार्थी है, सब अपने-अपने स्वार्थ के कारण ही तुम्हारे आगे-पीछे घूम रहे हैं? तुम उनमें अपने जीवन के अमूल्य समय को मत गँवाओं, पता नहीं कब कौन सी दुर्घटना हो जावे, लकवा मार जाए। केंसर हो जाए, कोरोना वायरस चपेट लेवे "फिर क्या कर पाओगे?" -श्रमण मनोज्ञ सागर

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(देवों के भेद)

देवों के भेद -

देवाश्चतुर्णिकायाः !!१!!

अर्थ- निकाय समूह को कहते हैं। देवों के चार निकाय यानि ४ समूह हैं- भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

विशेषार्थ- यद्यपि देवगति नामकर्म, देव आयु आदि का उदय सामान्यतः चारों निकायों के बराबर हैं तथापि उनमें लेश्या, शरीर अवगाहना, सुख, द्युति, इन्द्रिय विषय, अवधिज्ञान का विषय, जाति आदि की अपेक्षा भेद है। इस प्रकार जाति की अपेक्षा ४ लाख भेद हैं तथा स्थान आदि की अपेक्षा से चार भेद हैं। देवगति नाम कर्म के उदय से जो नाना द्वीप समुद्र तथा पर्वत आदि रमणीक स्थानों में क्रीड़ा करते हैं, उन्हे देव कहते हैं।

भवनत्रिक देवों के लेश्या-

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः !!२!!

अर्थ- पहले के तीन निकाय के देवों की कृष्ण, नील, कापोत और पीत(तेज) ये चार लेश्यायें ही होती हैं।

विशेषार्थ- भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवों में अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्यायें एवं पीत(तेजो) लेश्या होती है और पर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या होती है। इनमें विशेषता यह कि कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के मध्यम अंश से भरे हुए कर्मभूमि के मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच मरकर इस

चतुर्थ अध्याय

भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं तथा पीत लेश्या के मध्यम अंश से भरे हुए भोग भूमि के मिथ्यादृष्टि मनुष्य व तिर्यंच भी इसी भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं।

चारों निकायों के देवों में अवांतर भेद-

दशाष्ट-पञ्च द्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः !!३!!

अर्थ- भवनवासी देवों के दस भेद हैं, व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं, ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं और वैमानिक देवों में से कल्पोपन्न अर्थात् १६ स्वर्गों के जो देव हैं, उनके बारह भेद हैं।

चारों निकाय के देवों के सामान्य भेद-

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश पारिषदात्मरक्ष-लोकपालाऽनीक
प्रकीर्णकाऽऽभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः !!४!!

अर्थ- प्रत्येक निकाय के देवों मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषक ये दस-दस भेद होते हैं।

विशेषार्थ- इन्द्र- परम ऐश्वर्य को जो भोगते हैं तथा अन्य देवों में नहीं पायी जाने वाली अणिमा-महिमा आदि आठ विशिष्ट ऋद्धियों से जो शोभित हैं, वे इन्द्र कहलाते हैं।

सामाानिक- जो आयु, वीर्य(शक्ति), परिवार तथा भोगोपभोग आदि में तो इन्द्र के समान ही होते हैं, किंतु आज्ञा और ऐश्वर्य से हीन होते हैं, उन्हें सामानिक कहते हैं। ये पिता, गुरु आदि के समान माने जाते हैं।

त्रायस्त्रिंश- जो मंत्री और पुरोहित के समान देव हैं, जिनकी संख्या तैंतीस होती हैं, वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।

पारिषद- इन्द्र की सभा के सदस्य देव, जो मित्र अथवा प्रेमीजनों के समान होते हैं, उन्हें पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष- जो देव शस्त्र लिए इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं, उन्हे आत्मरक्ष कहते हैं। ये अंगरक्षक के सदृश होते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी शत्रु का भय नहीं होता फिर भी ये ऐश्वर्य के द्योतक हैं।

लोकपाल- जो देव लोक की रक्षा(या पालन) करते हैं उन्हे लोकपाल कहते हैं। ये कोतवाल या दुर्गपाल आदि के सदृश होते हैं।

अनीक- पैदल, अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गंधर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेना के देव अनीक कहलाते हैं। अर्थात् उक्त सात प्रकार की सेना रूप विक्रिया करने वाले देवों को अनीक कहते हैं। ये दण्ड-स्थानीय होते हैं।

प्रकीर्णक- पुरवासी अथवा देशवासी प्रजाजन के समान देवों को प्रकीर्णक(प्रजाजन) कहते हैं।

आभियोग्य- जो देव हाथी, घोड़ा, सवारी आदि बनकर दास के समान सेवा करते हैं, उन्हे आभियोग्य कहते हैं।

किल्विषिक- किल्विष पाप को कहते हैं। चाण्डाल की तरह दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये श्रेणीबद्ध विमानों से पृथक तथा देव-ग्राम के बाहर रहते हैं। ये देव इन्द्र की सभा में नहीं जा सकते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक निकाय में उपरोक्त दस भेद होते हैं। यह उत्सर्ग(सामान्य) कथन है, विशेषता से और भी अनेक प्रकार के भेद हैं। संसार में सबके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। कर्मानुसार ही पर्याय और कर्मानुसार ही

सुख-दुःख मिलता है। स्वर्ग भी संसार हैं, वहाँ भी कोई इन्द्र है, तो कोई दास है, कोई इन्द्रादि के बैठने की सवारी हैं। कोई महाऋद्धिधारी हैं, तो कोई अल्प ऋद्धिधारी हैं।

जिज्ञासा- सूत्र में जिन आठ ऋद्धियों का कथन किया है, वे कौन सी ऋद्धियाँ है? तथा उनका स्वरूप क्या है?

समाधान- ८ ऋद्धियाँ इस प्रकार हैं- अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व या कामरूपित्व।

१) अणिमा- इतना छोटा शरीर बनाना कि मृणाल के एक छिद्र में चक्रवर्ती की विभूति रच डाले, इसे अणिमा ऋद्धि कहते हैं।

२) महिमा- सुमेरू से भी बड़ा शरीर बना लेना महिमा ऋद्धि है।

३) लघिमा- वायु से भी हल्का शरीर बना लेना लघिमा ऋद्धि है।

४) गरिमा- पहाड़ से भी भारी शरीर बना लेना गरिमा ऋद्धि है।

५) प्राप्ति- भूमि पर बैठकर सूर्य-चन्द्रमा को अंगुली से छू लेना प्राप्ति ऋद्धि है।

६) प्राकाम्य- जल में पृथ्वी की तरह गमनागमन करना और भूमि में जल की तरह डुबकी लगाना प्राकाम्य ऋद्धि है।

७) ईशत्व- तीनों लोकों का स्वामीपन ईशत्व ऋद्धि है।

८) वशित्व वा कामरूपित्व- आकाश में गमन करने की तरह, बिना रूके पर्वत में से गमन कर जाना, अदृश्य हो जाना अथवा अनेक प्रकार का रूप बनाना रूपित्व ऋद्धि है।

<u>व्यंतर व ज्योतिषी देवों में दस भेद नहीं-</u>

त्रायस्त्रिंश लोकपाल वर्ज्याव्यन्तर-ज्योतिष्काः !!५!!

अर्थ- व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं।

<u>इन्द्रों की व्यवस्था-</u>

पूर्वयोद्वीन्द्राः !!६!!

अर्थ- पूर्व के दो निकायों में अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरों के प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं, अर्थात् दस प्रकार के भवनवासियों के बीस इन्द्र और आठ प्रकार के व्यंतरों के सोलह इन्द्र हैं।

विशेषार्थ- **<u>जिज्ञासा</u>**- भवनवासियों के कौन-कौन से बीस इन्द्र हैं?

<u>समाधान</u>- असुरकुमारों के चमर और वेरोचन इन्द्र, नागकुमारों के धरण और भूतानंद, विद्युत कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त, सुपर्ण कुमार के वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारों के बैलम्ब और प्रभंजन, स्तनित कुमारों के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारों के पूर्ण और वशिष्ठ तथा दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन नाम के इन्द्र होते हैं।

अब व्यंतर देवों के इन्द्र कहते हैं-

किन्नरदेवों के किन्नर और किम्पुरूष, किम्पुरूषों के सत्पुरूष और महापुरूष, महोरगों के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूतों

के प्रतिरूप और अप्रतिरूप तथा पिशाचों के काल और महाकाल नाम के इन्द्र होते हैं।

देवों में काम सेवन सुख-

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् !!७!!

अर्थ- मैथुन सेवन का नाम प्रवीचार है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देव संक्लिष्ट कर्म वाले होने के कारण मनुष्यों के समान स्त्री विषयक सुख अर्थात् मैथुन सेवन शरीर से करते हैं।

शेष स्वर्गों में काम सेवन-

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः !!८!!

अर्थ- शेष स्वर्गों के देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन में देवियों का चिंतन करने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

विशेषार्थ- तीसरे वा चौथे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव अपनी देवांगनाओं के स्पर्श (आलिंगन, मुख चुम्बन आदि) से रतिसुख का अनुभव कर तृप्त हो जाते हैं।

पाँचवे-छठवें-सातवें-आठवें ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव व कापिष्ठ स्वर्गों के देव अपनी देवांगनाओं के मनोहर रूप-श्रृंगार आदि देखने से ही परम सुख को प्राप्त हो जाते हैं।

शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार (९.१०.११.१२) स्वर्गों के देव अपनी देवांगनाओं के मृदुहास्य, मधुर शब्दों को सुनकर ही प्रीति को प्राप्त होकर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

आनत-प्राणत-आरण-अच्युत (१३.१४.१५.१६) स्वर्गों के देव अपनी अंगनाओं का मन में प्रीति पूर्वक चिंतन करने से ही तृप्त हो जाते हैं तथा उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है। देवांगनायें भी अपने अपने स्वर्गों के देवों के उनकी ही तरह स्पर्श, रूप, शब्द और मन में संकल्प करने मात्र से सन्तुष्ट हो जाती हैं।

ग्रैवेयकों (कल्पातीतों) में प्रवीचार नहीं-

परेऽप्रवीचाराः !!९!!

अर्थ- सोलहवें स्वर्ग से ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों के अहमिन्द्र देवों में प्रवीचार(काम सेवन) नहीं है। १६वें स्वर्ग से आगे कामवेदना उत्पन्न ही नहीं होती। इसीलिए वहाँ देवांगनायें भी नहीं होतीं। अतः ऊपर के देव परम सुखी हैं।

भवनवासी देवों के भेद-

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्निवातः स्तनितोदधि द्वीप-दिक्कुमाराः !!१०!!

अर्थ- भवनवासी देव दस प्रकार के हैं- असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, एवं दिक्कुमार।

विशेषार्थ- भवनों में रहने के कारण इन्हें भवनवासी कहते हैं।

असुरकुमार- जो दूसरों को लड़ा भिड़ाकर उनके प्राणों का हरण करते हैं, तृतीय नरक तक जाकर वहाँ के नारकियों को आपस में लड़ाकर दुःख पहुँचाते हैं, वे अति संक्लेश परिणामों सहित होने से सुर नहीं असुर हैं। इनकी पहिचान-मुकुट/ ध्वजा पर चूड़ामणि का चिन्ह होता है।

चतुर्थ अध्याय

नागकुमार- पर्वतों और चन्दन आदि वृक्षों पर रहने वाले होने से ये देव नागकुमार कहलाते हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर सर्प का चिन्ह होता है।

विद्युतकुमार- जो विद्युत की तरह चमकते हैं उन देवों को विद्युतकुमार कहते हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर वर्धमानक(घड़ा) का चिन्ह होता है।

सुपर्णकुमार- जिनके पंख शोभित होते हैं, उन्हे सुपर्णकुमार कहते हैं।(देवों के पंख नहीं होते, यह व्युतपत्ति अर्थ है अथवा देव अपनी विक्रिया से सुदर पंख बना लेते हैं।) इनकी मुकुट/ ध्वजा पर गरूड़ का चिन्ह होता है।

अग्निकुमार- जो पाताल को छोड़कर क्रीड़ा करने के लिए ऊपर आते हैं, वे अग्निकुमार देव कहलाते हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर कलश का चिन्ह होता है।

वातकुमार- जो तीर्थंकर के विहार मार्ग को शुद्ध करते हैं, वे वातकुमार देव हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर अश्व का चिन्ह होता है।

स्तनितकुमार- जो तीर्थंकर के विहार में उदघोष करते हैं, जिनसे शब्द उत्पन्न होते हैं, वे स्तनित कुमार देव हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर वज्र का चिन्ह होता है।

उदधिकुमार- जो उदधि(समुद्र) को धारण करते हैं अथवा समुद्री स्थानों पर क्रीड़ा करते हैं, वे उदधिकुमार हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर मकर का चिन्ह होता है।

द्वीपकुमार- द्वीपों में जो क्रीड़ा करते हैं, वे द्वीपकुमार हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर हाथी का चिन्ह होता है।

दिक्कुमार- दिशाओं में क्रीड़ा करते हैं, वे दिक्कुमार देव कहलाते हैं। इनकी मुकुट/ ध्वजा पर सिंह का चिन्ह होता है।

इनके मुकुट के चिन्हों से ही ये देव पहचाने जाते हैं।

व्यंतर देवों के भेद-

व्यन्तराः किन्नर किम्पुरूष-महोरग गन्धर्व-यक्ष राक्षस-भूत पिशाचाः !!११!!

अर्थ- जिनका अनेक प्रकार के देशों-स्थानों में निवास है, वे व्यन्तर कहलाते हैं। व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं- किन्नर, किम्पुरूष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

विशेषार्थ- इस जम्बूद्वीप से आगे असंख्यात् द्वीपों और समुद्रों को लांघकर खर पृथ्वी के ऊपरी भाग में राक्षसों को छोड़कर शेष सातों व्यन्तरों के आवास हैं तथा पंक बहुलभाग में राक्षसों का निवास है। किन्तु पृथ्वी के ऊपर अनेक द्वीप, समुद्र, पर्वत, नगर, देवालय, चौराहे आदि में भी व्यन्तरों का निवास बतलाया है।

ज्योतिष्क देवों के भेद-

ज्योतिष्काःसूर्यचन्द्रमसौ-ग्रह नक्षत्र-प्रकीर्णक तारकाश्च !!१२!!

अर्थ- ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के हैं- सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और सर्वत्र फैले हुए तारे। ज्योति, कान्ति, प्रकाश स्वभाव वाले होने से ये ज्योतिष्क देव कहलाते हैं।

विशेषार्थ- सूर्य और चन्द्रमा की प्रधानता बताने के लिए उन्हें सूत्र में अलग से ग्रहण किया है। इनमें चन्द्रमा **इन्द्र** है और सूर्य **प्रतीन्द्र।** सभी ज्योतिष्क देव मध्यलोक में निवास करते हैं। धरातल से ७९० योजन ऊपर तारे विचरण करते हैं। तारों से दस योजन ऊपर सूर्य का विमान है, सूर्य से दस योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमा से चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं, नक्षत्रों से चार योजन

ऊपर बुध का विमान है। बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र का विमान है। शुक्र से तीन योजन ऊपर वृहस्पति है। वृहस्पति से तीन योजन ऊपर मंगल है और मंगल से तीन योजन ऊपर शनिश्चर भ्रमण करता है। इस तरह कुल ११० योजन की मोटाई के क्षेत्र में सभी ज्योतिष्क देव निवास करते हैं तथा तिर्यक् रूप से घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं।

सूर्य से एक योजन से कुछ कम-नीचे केतु का विमान है और चन्द्रमा से एक योजन से कुछ कम नीचे राहु का विमान है। सभी ज्योतिष्क देवों के विमान ऊपर मुख करके रखे हुए अर्धगोलक वाले हैं। सूर्य, चन्द्रमा व ग्रहों को छोड़कर शेष ज्योतिषी देव अपने-अपने एक ही मार्ग से गमन करते हैं।

भवनवासी एवं व्यंतर देवों की लेश्या एवं आयु

लेश्या	१० भेद-इन्द्र २०	शरीर	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कृष्ण नील कापोत + पीत (जघन्य)	(१) असुर कुमार (अम्बावरीष) जाति के देव	२५ धनुष	१ सागर	१० हजार वर्ष	काय से
	(२) नाग कुमार (धरणेन्द्र आदि) देव	१० धनुष	३ पल्य	१० हजार वर्ष	काय से
	(३) सुपर्ण कुमारों की	१० धनुष	२ १/२ पल्य	१० हजार वर्ष	काय से
	(४) द्वीप कुमारों की	१० धनुष	२ पल्य	१० हजार वर्ष	काय से
	(५) विद्युत्कुमार, (६) स्तनित कुमार, (७) अग्नि कुमार, (८) उदधिकुमार, (९) दिक्क कुमार तथा (१०) वायु कुमार	१० धनुष	१ १/२ पल्य	१० हजार वर्ष	काय से
कृष्ण नील कापोत + पीत (जघन्य)	व्यंतर ८ भेद, इन्द्र १६ (किन्नर, किंपुरूष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच	१० धनुष १० धनुष	१ पल्य १ पल्य	१० हजार वर्ष १० हजार वर्ष	काय से काय से

चतुर्थ अध्याय

ज्योतिष्क देवों की लेश्या एवं आयु- (५ भेद- ८ इन्द्र) (गाथा ११२०)

लेश्या	ज्योतिष्क देव	स्थिति	शरीरउत्सेध	उत्कृष्ट आयु	प्रवीचार
जघन्य पीत	चन्द्र की आयु	मध्य लोक से ७९० योजन से ९०० योजन तक	७ धनुष (४२ फीट)	१ पल्य १ लाख वर्ष	काय से
	सूर्य की आयु		७ धनुष	१ पल्य १००० वर्ष	काय से
	शुक्र की आयु		७ धनुष	१ पल्य १०० वर्ष	काय से
	वृहस्पति की आयु		७ धनुष	सौ वर्ष कम एक पल्य	काय से
जघन्य पीत	मंगल, बुध, शनि आदि नक्षत्रों की आयु		७ धनुष	१/४ पल्य	काय से
	तारागणों की आयु		७ धनुष	१/४ पल्य	काय से

ज्योतिष्क देवों का गमन-

मेरू प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके !!१३!!

अर्थ- ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए सदाकाल गमन करते रहते हैं।

विशेषार्थ- ये ज्योतिष्क देव जम्बूद्वीप, घातकीखण्ड द्वीप, अर्धपुष्कर द्वीप, लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र इन ढ़ाइ द्वीपों और दो समुद्रों में ही निरंतर गमन करते हैं। तथा सुमेरू से ११२१ महायोजन दूर रहकर उसके चारों ओर घूमते हैं। अभियोग्य जाति के देव हाथी, घोड़ा आदि बनकर इन विमानों का भ्रमण कराते हैं।

जम्बूद्वीप में दो, लवण समुद्र में व्यालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर चन्द्रमा हैं और प्रत्येक चन्द्रमा के परिवार में एक सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र एवं ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।

चतुर्थ अध्याय

इस प्रकार सम्पूर्ण ढ़ाई द्वीप (मनुष्य लोक) में १३२ चन्द्रमा और १३२ सूर्य हैं। चन्द्रमा और सूर्य की १२०००-१२००० किरणें हैं। चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं और सूर्य की किरणें तीक्ष्ण होती हैं। सूर्य विमान में लगी मणियों में आतप नाम कर्म का उदय है। जिसका मूल शीतल होता है एवं आभा अर्थात् उससे उत्पन्न किरणें उष्ण होती हैं, उसे आतप नाम कर्म कहते हैं।

१) सूर्य का गमन एक मिनट में ४ लाख ४७ हजार ६२३ मील प्रमाण है।

२) चन्द्र का गमन एक मिनट में ४ लाख ४२ हजार ७६६ मील प्रमाण है।

३) सूर्य एवं चन्द्र के विमानों को अभियोग्य जाति कि १६००० देव खींचते हैं।

४) ग्रहों के विमानों को ८००० देव खींचते हैं।

५) नक्षत्रों के विमानों को ४००० देव खींचते हैं।

६) तारागणों के विमानों को २००० वाहन जाति के देव खींचते हैं।

-सर्ग १०/वरांग चरित्र

ढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों के अलावा शेष स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त जो असंख्यात् द्वीप व समुद्र हैं, वहाँ के ज्योतिष्क देव गमन नहीं करते हैं।

ज्योतिषी देवों के गमन से ही काल का व्यवहार-

तत्कृतः कालविभागः !!१४!!

अर्थ- उन ज्योतिषी देवों के गमन से काल का विभाग अर्थात्(ज्ञान) होता है।

विशेषार्थ- काल दो प्रकार है- व्यवहार काल और निश्चयकाल। सैकंड, मिनट, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास आदि को **व्यवहार काल** कहते हैं और यह

व्यवहार काल सूर्य चन्द्रमा की गति से ही जाना जाता है। **निश्चय काल** का बोध फिर इसी से होता है, जिसका वर्णन आगे पाँचवें अध्याय में किया गया है।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य व दो चन्द्र है। एक सूर्य जम्बूद्वीप की पूरी प्रदक्षिणा दो दिन-रात में करता है। चन्द्रमा को भी मेरू की एक प्रदक्षिणा करने में दो दिन-रात लगते हैं। चन्द्रोदय में न्यूनाधिकता इसीलिए आती है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति-

बहिरवस्थिताः !!१५!!

अर्थ- मनुष्य लोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं। उनका गमन नहीं होता।

वैमानिक देवों का वर्णन-

वैमानिकाः !!१६!!

अर्थ- चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक देव कहलाते हैं। जिसमें रहने वाले जीव अपने को विशेष पुण्यात्मा मानते हैं, वे विमान हैं और जो उन विमानों में निवास करते हैं, वे वैमानिक देव हैं।

विशेषार्थ- विमान तीन प्रकार के होते हैं- इन्द्रक विमान, श्रेणी बद्ध विमान और पुष्प प्रकीर्णक विमान। इन्द्रक विमान इन्द्र के समान मध्य में स्थित है। उसकी चारों दिशाओं में कतारबद्ध जो विमान होते हैं, वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं और विदिशाओं में जहां-तहां विखरे हुए फूलों की तरह स्थित विमानों को पुष्प प्रकीर्णक विमान कहते हैं।

चतुर्थ अध्याय

वैमानिक देवों के भेद-

कल्पोपपन्नाःकल्पातीताश्च !!१७!!

अर्थ- वैमानिक देवों के दो भेद हैं- कल्पोपन्न एवं कल्पातीत।

कल्पोपन्न-जिनमें इन्द्र आदि दस भेदों की कल्पना होती है, ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। इन कल्पों से अतीत उपरितन क्षेत्रवर्ती अर्थात् सोलह स्वर्गो से ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तरवासी अहमिन्द्र देव कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पों की स्थिति का क्रम-

उपर्युपरि !!१८!!

अर्थ- सोलह स्वर्गों के आठ युगल, फिर नव ग्रैवेयक, फिर नव अनुदिश, फिर पाँच अनुत्तर विमान ये सब क्रम से ऊपर-ऊपर हैं। नवग्रैवेयक एवं नव अनुदिश आदि के अहमिन्द्रों की लेश्या, आयु तथा शरीर की अवगाहना आदि का विवरण आगे चार्ट में दिया जा रहा है।

चतुर्थ अध्याय

नवग्रैवेयक

नवग्रैवेयक	लेश्या	शरीर	आयु		प्रवीचार
			उत्कृष्ट	जघन्य	
अधोग्रैवेयक सुदर्शन (प्रथम ग्रैवेयक)	शुक्ल	२ १/२हाथ	२३ सागर	२२ सागर	X
सुदर्शन (द्वितीय ग्रैवेयक)	शुक्ल	२ १/२हाथ	२४ सागर	२३ सागर	X
सुदर्शन (तृतीय ग्रैवेयक)	शुक्ल	२ १/२हाथ	२५ सागर	२४ सागर	X

मध्यमग्रैवेयक सुदर्शन (चतुर्थ ग्रैवेयक)	शुक्ल	२ हाथ	२६ सागर	२५ सागर	X
सुदर्शन (पंचम ग्रैवेयक)	शुक्ल	२ हाथ	२७ सागर	२६ सागर	X
सुदर्शन (छठवें ग्रैवेयक)	शुक्ल	२ हाथ	२८ सागर	२७ सागर	X

उर्ध्वग्रैवेयक सुदर्शन (सातवें ग्रैवेयक)	शुक्ल	१ १/२हाथ	२६ सागर	२८ सागर	X
सुदर्शन (आठवें ग्रैवेयक)	शुक्ल	१ १/२हाथ	३० सागर	२६ सागर	X
सुदर्शन (नवम् ग्रैवेयक)	शुक्ल	१ १/२हाथ	३१ सागर	३० सागर	X

नव अनुदिश १. अर्चि विशिष्ट	परमशुक्ल	२ १/२हाथ	३२ सागर	जघन्य	X
२. अर्चि मध्य	,,	,, ,,	,, ,,	पिछले के	X
३. अर्चि प्रभ ४. प्रभास	,,	,, ,,	,, ,,	उत्कृष्ट के	X
५. वैरोचन ६. अर्चिमाली	,,	,, ,,	,, ,,	बराबर	X
७. अर्चि ८. आदित्य, ६. अर्चिरावत	,,	,, ,,	,, ,,		X

अनुत्तर सर्वार्थ सिद्धि १. अपराजित	परमशुक्ल	१ हाथ	३३ सागर	जघन्य	X
२. जयंत	,,	,,	,, ,,	नहीं	X
३. वैजयंत	,,	,,	,, ,,	होती	
४. विजय, ५. सर्वार्थ सिद्धि	,,	,,	,, ,,		X

चतुर्थ अध्याय

<u>वैमानिक देव कितने कल्प विमानों में रहते हैं-</u>

सौधर्मैशान सानत्कुमार-माहेन्द्र ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लांतव-कापिष्ठ शुक्र-महाशुक्र शतार-सहस्त्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु-ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च !!१६!!

अर्थ- सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नवग्रैवेयक, नवअनुदिश एवं विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव निवास करते हैं।

विशेषार्थ- भूमितल से निन्यानवे हजार चालीस (९९०४०) योजन ऊपर जाने पर सौधर्म और ऐशान कल्प प्रारंभ होता है। उसके प्रथम इन्द्रक विमान का नाम **ऋतु** है। वह ऋतु विमान सुमेरू पर्वत के ठीक ऊपर **एक बाल के अन्तराल से** ठहरा हुआ है तथा उसका विस्तार अढ़ाई द्वीप के बराबर ४५ लाख योजन है। इस विमान के चारों ओर चार दिशाओं में चार विमान तथा श्रेणी में अर्थात् पंक्तिबद्ध ६२ विमान हैं। विदिशाओं में चार तथा श्रेणी में पुष्प-प्रकीर्णक विमान हैं। सौधर्म, ऐशान स्वर्ग के ३१ पटल हैं। उसके ऊपर असंख्यात् योजन के अन्तराल से दूसरा पटल है। इसके बीच में भी एक इन्द्रक विमान है। इसकी चारों दिशाओं में ६१-६१ श्रेणीबद्ध विमान हैं और विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। इस तरह असंख्यात् योजन का अन्तराल देकर डेढ़ राजू की ऊँचाई में ३१पटल हैं। अंतिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटल में श्रेणीबद्ध विमानों की संख्या १-१ कम होती गई है। अंतिम प्रभा नामक पटल में प्रत्येक दिशा में ३२ श्रेणीबद्ध विमान हैं। दक्षिण दिशा के १८वें विमान में सौधर्म इन्द्र का निवास और उत्तर दिशा में ऐशान इन्द्र का निवास है। इस

विमान में तीन कोट है, प्रथम कोट में इन्द्र, दूसरे कोट में त्रायस्त्रिंश देव एवं तीसरे बाह्य कोट में पारिषद जाति के देव रहते हैं।

इसके ऊपर सानत्कुमार-माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। इन दोनों के ७ (सात) पटल हैं। ये डेढ़ राजू की ऊँचाई में हैं। यहाँ भी तीन दिशाओं अर्थात् पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम श्रेणी के १५ विमानों का स्वामी सानत्कुमार इन्द्र है और उत्तर दिशा के विमानों का स्वामी माहेन्द्र इन्द्र हैं।

इसी तरह की स्थिति ऊपर के छह कल्प युगलों में भी समझ लेना चाहिए। ये युगल ऊपर-ऊपर आधे-आधे राजू की ऊँचाई में स्थित हैं। इस प्रकार छह राजू की ऊँचाई में सोलह स्वर्ग हैं।

इनके ऊपर एक राजू की ऊँचाई में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान ऊपर-ऊपर हैं। इन सबको मिलाकर कुल ६३ पटल हैं।

सोलह स्वर्गों के १२ इन्द्र हैं। प्रारंभ के चार और अन्त के चार स्वर्गों में प्रत्येक स्वर्ग का एक एक इन्द्र है और बीच के आठ स्वर्गों में दो-दो स्वर्गों का एक एक इन्द्र है। सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत एवं आरण ये छह दक्षिणेन्द्र हैं और ऐशान, माहेन्द्र, लांतव, शतार, प्राणत एवं अच्युत ये छह उत्तरेन्द्र हैं।

प्रथम ऋतु विमान ४५ लाख महायोजन प्रमाण है और अंतिम सर्वार्थ सिद्धि नाम का इन्द्रक विमान एक लाख योजन प्रमाण है। प्रथम सौधर्म स्वर्ग में ३२ लाख विमान, ऐशान स्वर्ग में २८ लाख, सानत्कुमार में १२ लाख, माहेन्द्र में ८ लाख, ब्रह्म एवं ब्रह्मोत्तर में ४ लाख, लांतव एवं कापिष्ठ में ५० हजार, शुक्र और महाशुक्र में ४० हजार, शतार और सहस्रार में ६ हजार,

चतुर्थ अध्याय

आनत+प्राणत, आरण+अच्युत में मात्र ७० विमान हैं। प्रथम तीन ग्रैवेयक में १११ विमान, मध्यम तीन ग्रैवेयक में १०७ विमान और ऊपर के अंतिम तीन ग्रैवेयक में ९१ विमान हैं। अनुदिश में २ एवं पंचोत्तर में ५ विमान हैं।

स्वर्गों में आयु एवं लेश्या					
कल्पवासी (वैमानिक देव) - १२ भेद हैं (इन्द्र २४)					
स्वर्ग/देव	लेश्या	शरीर	आयु		प्रवीचार
			उत्कृष्ट	जघन्य	
सौधर्म-ईशान स्वर्ग	पीत	७ हाथ	२ सागर	१ पल्य	काय से
सानत्कुमार-माहेन्द्र	पीत-पद्म	६ हाथ	७ सागर	२ सागर	स्पर्श से
ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	पद्म	५ हाथ	१० सागर	७ सागर	रूप देखने से
लांतव-कापिष्ठ	पद्म	५ हाथ	१४ सागर	१० सागर	रूप से
शुक्र-महाशुक्र	पद्म-शुक्ल	४ हाथ	१६ सागर	१४ सागर	शब्द से
सतार-सहस्त्रार	पद्म-शुक्ल	४ हाथ	१८ सागर	१६ सागर	शब्द से
आनत-प्राणत	शुक्ल	३ १/२ हाथ	२० सागर	१८ सागर	मन से
आरण-अच्युत	शुक्ल	३ हाथ	२२ सागर	२० सागर	मन से

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर विशेषता-

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धिन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः !!२०!!

अर्थ- वैमानिक देवों की स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियों के विषय तथा अवधिज्ञान का विषय ऊपर-ऊपर अधिक है।

स्थिति- स्वयं उपार्जित देव-आयु कर्म के उदय से उस वैक्रियिक शरीर के साथ रहने की मर्यादा स्थिति कहलाती है।

चतुर्थ अध्याय

प्रभाव- शाप और अनुग्रह अर्थात् दूसरों का बुरा या भला करने की शक्ति को प्रभाव कहते हैं।

सुख- साता वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयों का भोगना सुख है।

द्युति- शरीर, वस्त्र व आभूषण आदि की कांति को द्युति कहते हैं। (दीप्ति, द्युति, कान्ति ये एकार्थवाची शब्द हैं)।

लेश्याविशुद्धि- लेश्या (परिणामों) की निर्मलता लेश्या विशुद्धि है।

इन्द्रिय विषय एवं अवधिज्ञान- 'विषय' शब्द का सम्बंध इन्द्रिय और अवधिज्ञान के साथ है। अतः इन्द्रिय विषय एवं अवधिज्ञान का विषय यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इससे यह फलितार्थ होता है कि प्रत्येक कल्प और उनके प्रत्येक पटल के वैमानिक देव उपर्युक्त सभी बातों में अपने से नीचे के देवों की अपेक्षा अधिक-अधिक हैं।

विशेष- देवों की संख्या (गणना) चारों निकायों में-

१) वैमानिक देवों की संख्या गणना से परे है, अर्थात् असंख्यात् है।

२) भवनवासी देवों की संख्या वैमानिक देवों से बहुत अधिक है।

३) व्यंतर देवों की संख्या भवनवासियों से अधिक है। तथा

४) ज्योतिष देवों की संख्या व्यंतरों से अधिक है।

-सर्ग ६/वरांग चरित्र (आ. जटासिंह नंदी)

चतुर्थ अध्याय

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता-

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः!!२१!!

अर्थ- गति(गमन), शरीर की ऊँचाई, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा से ऊपर-ऊपर के वैमानिक देवों में क्रमशः हीनता पाई जाती है।

विशेषार्थ- जो जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, उसे **गति** यानि गमन कहते हैं।

-लोभ कषाय के उदय से विषयों व मनोहर वस्तुओं में जो ममत्व भाव होता है, उसका नाम **परिग्रह** है।

-मान कषाय के कारण उत्पन्न होने वाले अहंकार का नाम **अभिमान** है।

यद्यपि ऊपर-ऊपर के देवों में गमनागमन शक्ति अधिक-अधिक है, किन्तु देशान्तर में जाकर विषय- क्रीड़ा रति के प्रकर्ष का अभाव है, अतः उनका गमनागमन कम होता जाता है। शरीर की ऊँचाई क्रमशः घटती जाती है। सौधर्म- ऐशान, स्वर्ग के देवों का शरीर ७ हाथ ऊँचा है। सानत्कुमार-माहेन्द्र (३-४) स्वर्ग के देवों का शरीर ६ हाथ ऊँचा है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लांतव-कापिष्ठ (५-६-७-८वें) स्वर्गों में ५ हाथ ऊँचा है। शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्त्रार (९-१०-११-१२वें) स्वर्गों में ४ हाथ ऊँचा है। आनत-प्राणत (१३-१४वें) स्वर्गों में साढ़े तीन हाथ ऊँचा है और आरण- अच्युत (१५-१६वें) स्वर्ग में मात्र ३ हाथ ऊँचा है।

अधो ग्रैवेयकों में ढाई हाथ, मध्य ग्रैवेयक में दो हाथ और उपरिम ग्रैवेयकों में तथा नौ अनुदिशों में डेड़ हाथ ऊँची शरीर की अवगाहना हैं। पाँचों अनुत्तरों में मात्र एक हाथ की ही अवगाहना है।

चतुर्थ अध्याय

विमान, परिवार, लक्षण एवं कषाय की मंदता से अभिमान एवं परिग्रह की अभिलाषा अर्थात् 'मूर्च्छा' भी घटती जाती है, इस कारण परिग्रह न्यून होता है। जिनकी कषायें मंद होती है, वे ही जीव ऊपर-ऊपर के कल्पों में जन्म लेते हैं। इसका संक्षिप्त में विवरण इस प्रकार है-

असैनी पंचेन्द्रिय (पर्याप्तक) तिर्यंच अपने शुभ परिणामों से पुण्य कर्म का बंध करके भवनवासी एवं व्यंतर देवों में उत्पन्न होते हैं।

संज्ञी पर्याप्तक कर्मभूमियाँ तिर्यंच यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हैं, तो भवनत्रिक में जन्मते हैं और यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो प्रथम व द्वितीय स्वर्ग में जन्मते हैं।

कर्मभूमियाँ मनुष्य यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हैं तो वह भवनवासी से लेकर जिनदीक्षा लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक जन्म ले सकते हैं। तथा

अभव्य, मिथ्यादृष्टि भी जिनलिंग धारण करके तप के प्रभाव से उपरिम ग्रैवेयक तक जा सकते हैं किन्तु द्रव्य से जिनलिंग हो और सम्यग्दृष्टि भाव-जिनलिंगधारी सर्वार्थसिद्धि तक जन्म ले सकते हैं।

व्रती श्रावक निर्दोष बारह व्रतों का पालन कर १६वें स्वर्ग तक उत्कृष्ट २२सागर की आयु लेकर उत्पन्न हो सकता है। इस तरह जैसी-जैसी कषाय की मंदता होती है, उसी के अनुसार ऊपर-ऊपर के कल्पों में जन्म होता है।

आजीवक सम्प्रदाय, परम हंस सम्प्रदाय के साधु अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल पर १२वें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं। परिव्राजक तापसी-साधु पाँचवें स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं।

चतुर्थ अध्याय

विशेष- देव गति में (चारों निकायों में) सुख कितना-

१) व्यंतर देव सबसे कम सुखी हैं।

२) ज्योतिष्क देव व्यंतरों से अधिक सुखी हैं।

३) भवनवासी देव ज्योतिष देवों से बहुत अधिक सुखी होते हैं।

४) कल्पवासी देव भवनवासियों से अत्याधिक सुख का अनुभव करते हैं।

५) देवों में ज्यों-ज्यों ऊपर को जाइयेगा, सुख की मात्रा वढती जाती है।

-सर्ग १०/वरांग चारित्र

<u>वैमानिक देवों की लेश्या-</u>

पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि शेषेषु !!२२!!

अर्थ- प्रथम व द्वितीय सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्र (३-४) स्वर्ग के देवों में पीत और पद्म लेश्या है। ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ (५-६-७-८वें) स्वर्ग के देवों में पद्म लेश्या होती है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार (९-१०-११-१२वें) के देवों में पद्म और शुक्ल लेश्या है। शेष आनत, प्राणत, आरण, अच्युत (१३-१४-१५-१६वें) स्वर्ग के देवों में शुक्ल लेश्या होती है। ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर विमानों में परम शुक्ल लेश्या होती है।

देवों की विशेषताएँ-

१) देव स्वर्ण के समान निर्मल कांति वाले तथा मल-मूत्र एवं पसीने से रहित होते हैं।

२) शरीर में माँस-हड्डी आदि सात धातुएँ उनके शरीर में नहीं होती।

३) देवों का शरीर वैक्रियक होता है।

४) देवों का अकाल मरण नहीं होता।

५) देवों में पुरूष व स्त्री दो वेद ही होते हैं।

६) देव कवलाहारी नहीं होते, एक नियत समय के बाद उनके कण्ठ से भूख की इच्छा होते ही अमृत झर जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती है।

७) देवों का आहार होता है, लेकिन नीहार नहीं होता।

८) एक छोटे से छोटे देव की कम से कम ३२ देवियाँ होती है।

९) देवों की परछाईं नहीं पड़ती और न ही पलकें झपकती हैं।

१०) देवों का जन्म उपपाद शय्याओं पर होता है तथा अन्तर्मुहूर्त में वह १६ वर्ष के कुमार की तरह युवा हो जाते हैं। तथा अन्त तक उसी कुमार अवस्था रूप ही बने रहते हैं, उनका बुढ़ापा नहीं आता।

११) वैमानिक देवियाँ प्रथम व द्वितीय स्वर्ग में उपपाद शय्या पर जन्म लेती हैं। जिनके नियोग से उनका जन्म हुआ है, वह देव आकर उन्हें वहाँ से ले जाते हैं।

१२) देवों के गले में पड़ी माला मृत्यु के छःमाह पूर्व से मुरझाने लगती है, तब उन्हें अपनी मृत्यु का बोध होता है।

१३) मरण अपने विमान के अलावा अन्य जगह में भी संभव है।

१४) सभी देवों के विमानों में अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं।

१५) देवों का समचतुस्रंस्थान होता है।

१६) देवों की जघन्य आयु १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट ३३ सागर होती हैं।

१७) वैमानिक देवियों की जघन्य आयु एक पल्य तथा उत्कृष्ट ५५ पल्य होती है।

१८) देवों में एक से चार गुण स्थान होते हैं।

१६) देव संयम धारण नहीं कर सकते।

२०) एक देव दूसरे देव के वैभव को देखकर मानसिक दुःखी होते हैं।

२१) देव चार प्रकार के होते हैं- (क) भवनवासी (ख) व्यंतर (ग) ज्योतिष्क एवं (घ) वैमानिक।

२२) व्रत धारण करने वाला तथा स्वभाव में सरलता रखने वाला जीव देव गति में जन्म लेता है।

२३) देव मरण करके विकलत्रय, नारकी, भोगभूमियाँ (मनुष्य व तिर्यंच) अग्निकायिक, वायुकायिक तथा पुनः देवगति में जन्म नहीं लेते।

२४) देव मरण करके कर्मभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यंच अथवा वनस्पति कायिक में जन्म लेते हैं।

कल्प संज्ञा कहाँ तक-

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः !!२३!!

अर्थ- ग्रैवेयक के पहले-पहले सोलह स्वर्ग कल्प कहलाते हैं क्योंकि इनमें इन्द्र आदिक देवों की कल्पना होती है। इनके आगे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर कल्पातीत कहलाते हैं, क्योंकि इनमें सभी अहमिन्द्र होते हैं। अतः इन्द्र आदि की कल्पना इनमें नहीं होती।

चतुर्थ अध्याय

लोकान्तिक देवों के भेद-

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः !!२४!!

अर्थ- ब्रह्मलोक नाम के पाँचवें स्वर्ग में रहने वाले देव लोकान्तिक कहलाते हैं। उनका लोकान्तिक नाम सार्थक हैं, क्योंकि लोक अर्थात् ब्रह्मलोक, उसके अंत के विमानों में जो रहते हैं, वे लोकान्तिक देव हैं। अथवा लोक (यानि संसार) उसका अन्त जिनके आ गया है, वे लोकान्तिक देव हैं। लोकान्तिक देव आयु पूर्णकर एक मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। वह एक भवावतारी होते हैं।

लोकान्तिक देवों के भेद-

सारस्वतादित्यवह्न्यरूण-गर्दतोय-तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च !!२५!!

अर्थ- सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकार के लोकान्तिक देव होते हैं।

विशेषार्थ- चार दिशाओं और चार विदिशाओं में इन सभी सारस्वत आदि देवों का यथाक्रम से निवास है। जैसे- पूर्वोत्तर कोण (ईशान) दिशा में **सारस्वत** विमान है, पूर्व में **आदित्य** विमान है, पूर्व-दक्षिण में **वह्नि** विमान है। दक्षिण में **अरूण** विमान है, दक्षिण-पश्चिम कोने में **गर्दतोय** के विमान हैं, पश्चिम में **तुषित** विमान है, उत्तर-पश्चिम में **अव्याबाधों** के विमान हैं और उत्तर दिशा में **अरिष्ट** देवों के विमान हैं।

सूत्र में 'च' शब्द से उपरोक्त कथित ४ दिशाओं और ४ विदिशाओं के विमानों के अन्तरालवर्ती स्थानों में स्थित विमानों का संग्रह होता है-

जैसे सारस्वत और आदित्य विमानों के बीच में **अग्नियाभ** व **सूर्याभ** विमान हैं

-आदित्य और वह्नि विमानों के बीच में **चन्द्राभ एवं सत्याभ** विमान हैं

-वह्नि और अरूण विमान के अन्तराल में **श्रेयस्कर एवं क्षेमंकर** विमान
-अरूण और गर्दतोय के अन्तराल में **वृषभेष्ट और कामचार** विमान हैं

-गर्दतोय और तुषित के मध्य में **निर्माणरजस एवं दिगंतरक्षित** विमान हैं
-तुषित और अव्याबाध के अन्तराल में **आत्मरक्षित एवं सर्वरक्षित** विमान हैं
-अव्याबाध और अरिष्ट के अन्तराल में **मरूद और वसु** विमान स्थित हैं
-अरिष्ट और सारस्वत विमानों के अन्तराल में **अश्व एवं विश्व** नाम के विमान स्थित हैं। अन्तरालवर्ती इन सोलह विमानों में रहने वाले उन लोकान्तिक देवों के भी वही २ नाम है।

विशेष- 'अरिष्ट' लोकान्तिक देवों की आयु अन्य लोकान्तिक देवों से कुछ अधिक अर्थात् ९(नौ) सागर बताई है।

सभी लोकांतिक देव स्वतंत्र होते हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है। इनमें न कोई छोटा न कोई बड़ा होता है। ये सभी देव विषयों से पूर्ण विरक्त होते है, अतः देवर्षि कहलाते हैं। ये अन्य सभी देवों से अर्चनीय होते हैं। सभी देव इन लोकान्तिक देवों की बहुत प्रतिष्ठा करते हैं। ये चौदह पूर्व (द्वादशांग) के पाठी होते हैं। जब तीर्थंकरों को वैराग्य होता है, तो उस समय उन्हें प्रतिबोध करने के उद्देश्य से यहाँ पृथ्वी पर उनके पास आते हैं। लोकान्तिक देवों के शरीर का रंग शंख के समान श्वेत होता है। यह विशिष्ट प्रकार के देव होते हैं।

लोकान्तिक देवों की अन्य विशेषताएँ-

१) लोकान्तिक देव पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग के अंत भाग में रहते हैं।

२) ये देव संसार और भोगों से पूर्णतया विरक्त होते हैं।

३) ये देव एक भवावतारी होते हैं।

४) ये देव ब्रह्मर्षि कहलाते हैं।

५) ये बाल ब्रह्मचारी होते हैं, इनकी देवियाँ नहीं होती।

६) लोकान्तिक देव सम्पूर्ण श्रुत अर्थात् द्वादशांग के पाठी होते हैं।

७) सभी लोकान्तिक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

८) ये देव ब्रह्मचारी की वेशभूषा अर्थात् श्वेत-धवल वस्त्र ही धारण करते हैं।

९) लोकान्तिक देव हमेशा धर्म चर्चा-तत्व चर्चा में संलग्न रहते हैं।

१०) सभी देव परस्पर एक दूसरे के हीनाधिक ऐश्वर्य के द्वेष से रहित होते हैं।

११) इन लोकान्तिक देवों की उत्कृष्ट व जघन्य आयु ८ (आठ) सागर की है।

१२) ये देव तीर्थंकर भगवान के दीक्षा कल्याणक के पहले उनके वैराग्य की अनुमोदना करने मात्र को मध्य लोक में आते हैं, अन्य के लिए नहीं।

१३) इनके मुख्य रूप से सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अब्याबाध और अरिष्ट ऐसे मुख्य आठ भेद हैं।

१४) इनक शरीर की ऊँचाई ५ हाथ, और लेश्या शुक्ल होती है।

१५) लोकान्तिक देव कदाचित् तीर्थंकर बालक के जन्माभिषेक देखने भी आ सकते हैं।

चतुर्थ अध्याय

लोकान्तिक देव कौन बनते हैं?

जो मुनि पूर्व भव में स्त्रीजन्य राग-भोग से अत्यंत विरक्त होते हैं। राग-द्वेष से रहित होकर अत्यंत उग्र तप करते हैं। जो मुनि निंदा-स्तुति, सुख-दुःख, बंधु एवं शत्रु में समता दृष्टि रखते हैं, जो शरीर के विषयों में निरपेक्ष रहते हैं तथा संयम और समितियों के पालन में, ध्यान व समाधि की साधना में सदैव सावधान रहते हैं, वे लोकान्तिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करने वाले देव-

विजयादिषु द्विचरमाः !!२६!!

अर्थ- विजय आदि चार विमानों अर्थात् विजय, वैजयंत, जयन्त अपराजित एवं नव अनुदिश विमानों के देव द्विचरमशरीरी होते हैं, अर्थात् मनुष्य के दो भव लेकर मोक्ष अवश्य ही जाते हैं। अर्थात् विजयादिक से चयकर मनुष्य होते हैं तथा संयम धारण करके पुनः विजय आदिक विमानों में जन्म लेते हैं फिर वहाँ से चयकर मनुष्य भव लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ- सर्वार्थसिद्धि के देव, सभी दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्ग के लोकपाल, सौधर्म इन्द्र की सभी इन्द्राणी-शची ये सभी एक भवावतारी होते हैं। -त्रिलोकसार

अनुदिश तथा चार अनुत्तर विमानों के (अहमिन्द्र) देव मनुष्य का एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहाँ अधिकतम दो भव बतलाए हैं।

तीन गतियों का कथन करके अब तिर्यंचों का लक्षण-

औपपादिक मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः !!२७!!

अर्थ- उपपाद जन्म वाले देव एवं नारकी तथा मनुष्यों को छोड़ कर शेष बचे समस्त प्राणी तिर्यंच योनि के जीव हैं। अतः एकेन्द्रिय स्थावर आदि जीव भी

तिर्यंच ही हैं। तिर्यंच जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं, परन्तु त्रस जीव त्रसनाली में ही रहते हैं। तिर्यंच ३४३ राजू प्रमाण समस्त क्षेत्र में अर्थात् लोक में घनांगुल प्रमाण क्षेत्र भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ तिर्यंच गति के जीव नहीं हों।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु-

स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप शेषाणांसागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध हीनमिताः !!२८!!

अर्थ- असुर कुमारों की आयु एक सागर, नागकुमारों की तीन पल्य, सुपर्णकुमारों की अढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य एवं शेष छहों कुमारों की आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है। यह उनकी उत्कृष्ट आयु है।

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु-

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके !!२९!!

अर्थ- सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

विशेषार्थ- वैसे तो सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में दो सागर की ही उत्कृष्ट आयु है, किन्तु घातायुष्क सम्यक्दृष्टि के दो सागर से लगभग आधा सागर आयु अधिक होती है।

आशय यह है कि जो मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्यग्दृष्टि विशुद्ध परिणामों से ऊपर के स्वर्गों की आयु को बांधकर पीछे संक्लेश परिणाम करके बांधी आयु का घात कर लेता है, उसे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जैसे किसी मनुष्य ने १०वें स्वर्ग की १६ सागर की आयु बांधी, पीछे संक्लेश परिणाम हो गए, तब वह बंधी आयु को घटाकर दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो उसकी दूसरे देवों

की अपेक्षा दो सागर से अर्न्तमुहूर्त कम आधा सागर अधिक होगी। घातायुष्क जीव १२वें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते हैं। ऊपर के देवों में शुक्ल लेश्या है, अतः उन स्वर्गों में आयु का घात करने वाले उत्पन्न ही नहीं होते।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु-

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोःसप्त !!३०!!

अर्थ- सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

ब्रह्मलोक से अच्युत स्वर्ग तक देवों की आयु-

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु !!३१!!

अर्थ- सात सागर में क्रम से ३-७-९-११-१३ व १५ सागर जोड़ देने पर आगे के छह कल्पयुगलों में देवों की उत्कृष्ट आयु होती है। यहाँ जो 'तु' शब्द दिया है, उसके अनुसार अधिक आयु की अनुवृत्ति १२वें स्वर्ग तक ही लेना चाहिए।

अतः अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म, बह्मोत्तर स्वर्ग में कुछ अधिक १०सागर, लान्तव व कापिष्ठ में कुछ अधिक १४सागर, शुक्र व महाशुक्र में कुछ अधिक १६सागर, सतार व सहस्त्रार में कुछ अधिक १८सागर आनत व प्राणत में कुछ अधिक २० सागर तथा आरण व अच्युत स्वर्ग में कुछ अधिक २२सागर उत्कृष्ट आयु होती है।

ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुत्तरों में उत्कृष्ट आयु-

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन-नवसुगैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च !!३२!!

अर्थ- आरण और अच्युत स्वर्ग के ऊपर नौ ग्रैवेयकों में, नव अनुदिश में, विजय आदि चार अनुत्तरों में और सर्वार्थसिद्धि विमान में एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है।

अर्थात् प्रथम नव ग्रैवेयक में २३सागर, दूसरे में २४ सागर, तृतीय में २५ सागर, चतुर्थ में २६, पंचम में २७, छठवें में २८, सातवें में २९, आठवें में ३०, नवमें में ३१ सागर, उत्कृष्ट आयु है। नव अनुदिशों में ३२ सागर और अनुत्तरों में ३३ सागर आयु है।

सौधर्म ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु-

अपरा पल्योपममधिकम् !!३३!!

अर्थ- सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में देवों की जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

शेष वैमानिक देवों की जघन्य आयु-

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा !!३४!!

अर्थ- नीचे नीचे के स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है, वही उसके ऊपर के स्वर्गों में जघन्य आयु होती है।

अर्थात् सौधर्म व ऐशान स्वर्ग में जो दो सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयु है, वह सानत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु है। सानत्कुमार व माहेन्द्र स्वर्ग में जो सात सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयु है, वही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु है। इसी क्रम से ऊपर के समस्त कल्पों (स्वर्गों) में और कल्पातीतों में जानना चाहिए। परन्तु सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

<u>द्वितीय आदि नरकों में जघन्य आयु-</u>

नारकाणां च द्वितीयादिषु !!३५!!

अर्थ- दूसरी आदि पृथिवियों में भी जो ऊपर के नारकियों की उत्कृष्ट आयु है, वही उसके नीचे-नीचे के नरकों में जघन्य आयु है।

अर्थात् रत्नप्रभा में एक सागर की उत्कृष्ट आयु है, वही शर्कराप्रभा में जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त पृथिवियों (नरकों) में जानना।

<u>पहली पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु-</u>

दशवर्षसहस्त्राणि प्रथमायाम् !!३६!!

अर्थ- पहली पृथ्वी के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

<u>भवनवासियों की जघन्य आयु-</u>

भवनेषु च !!३७!!

अर्थ- भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

<u>व्यंतरों की जघन्य आयु-</u>

व्यन्तराणां च !!३८!!

अर्थ- व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है।

<u>व्यतरों की उत्कृष्ट आयु-</u>

परा पल्योपममधिकम् !!३९!!

अर्थ- व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम अर्थात् एक पल्य से कुछ अधिक है।

चतुर्थ अध्याय

<u>ज्योतिष देवों की उत्कृष्ट आयु-</u>

ज्योतिष्काणां च !!४०!!

अर्थ- ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति (आयु) एक पल्य से कुछ अधिक है।

<u>ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु-</u>

तदष्ट भागोपरा !!४१!!

अर्थ- ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्य का आठवां भाग है।

<u>लोकान्तिक देवों की आयु-</u>

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् !!४२!!

अर्थ- लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु आठ सागर प्रमाण है। ये भी शुक्ल लेश्या वाले होते हैं तथा इनके शरीर की ऊँचाई ५ हाथ होती है।

!!इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्वे चतुर्थोऽध्यायः!!४!!

-----||०००||-----

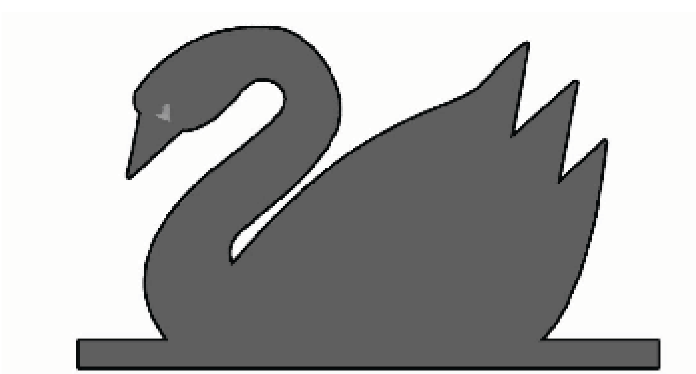

ज्ञानार्थियों/विद्यार्थियों के लिए संबोधन-

सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।
सुखार्थी चेत त्यजेद विद्या, विद्यार्थिचेत त्यजेद सुखम्।।

अर्थ- जो व्यक्ति सुख पूर्वक जीना चाहता है, उसे विद्या (ज्ञान) कहाँ मिल सकता है? और जो विद्या (ज्ञान) को चाहता है उसे सुख कहाँ? अतः जो सुख का इच्छुक है, उसे विद्या का त्याग करना पड़ेगा और जो विद्या पाना चाहता है, उसे सुखों का त्याग करना पड़ेगा।

विद्या/ ज्ञान सीखने वाले के ५ लक्षण-

काक चेष्टा-वको ध्यानं, श्वान निंद्रा तथैव च।
अल्प आहारी-गृहत्यागी विद्या-अर्थी पंच लक्षणं।।

(काक चेष्टा= कौए जैसी सजगता, वको ध्यानं= बगुले जैसी एकाग्रता)

क्षणशः कणश च ऐव, विद्या अर्थं च संचयेत्।
क्षण त्यागे कुतो विद्या, कण त्यागे कुतो धनं।।

अर्थ- विद्यार्थी को एक-एक क्षण का सदुपयोग करके विद्या(ज्ञान) का संचय करना चाहिए। जैसे एक-एक कण का संग्रह करके ही धन का संचय होता है। और जिस प्रकार कण का त्याग करने पर धन का संचय नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक-एक क्षण(बहुमूल्य समय) को छोड़ देने पर विद्या कैसे प्राप्त हो सकती है?

"**दृढ़ विश्वास** तथा **उत्साह शक्ति** आपके ये दो परम मित्र हैं, जो आपके कदमों को अविराम, सफलता की चरम सीमा अर्थात् लक्ष्य की पूर्णता तक ले जायेंगे।

तीन लोक

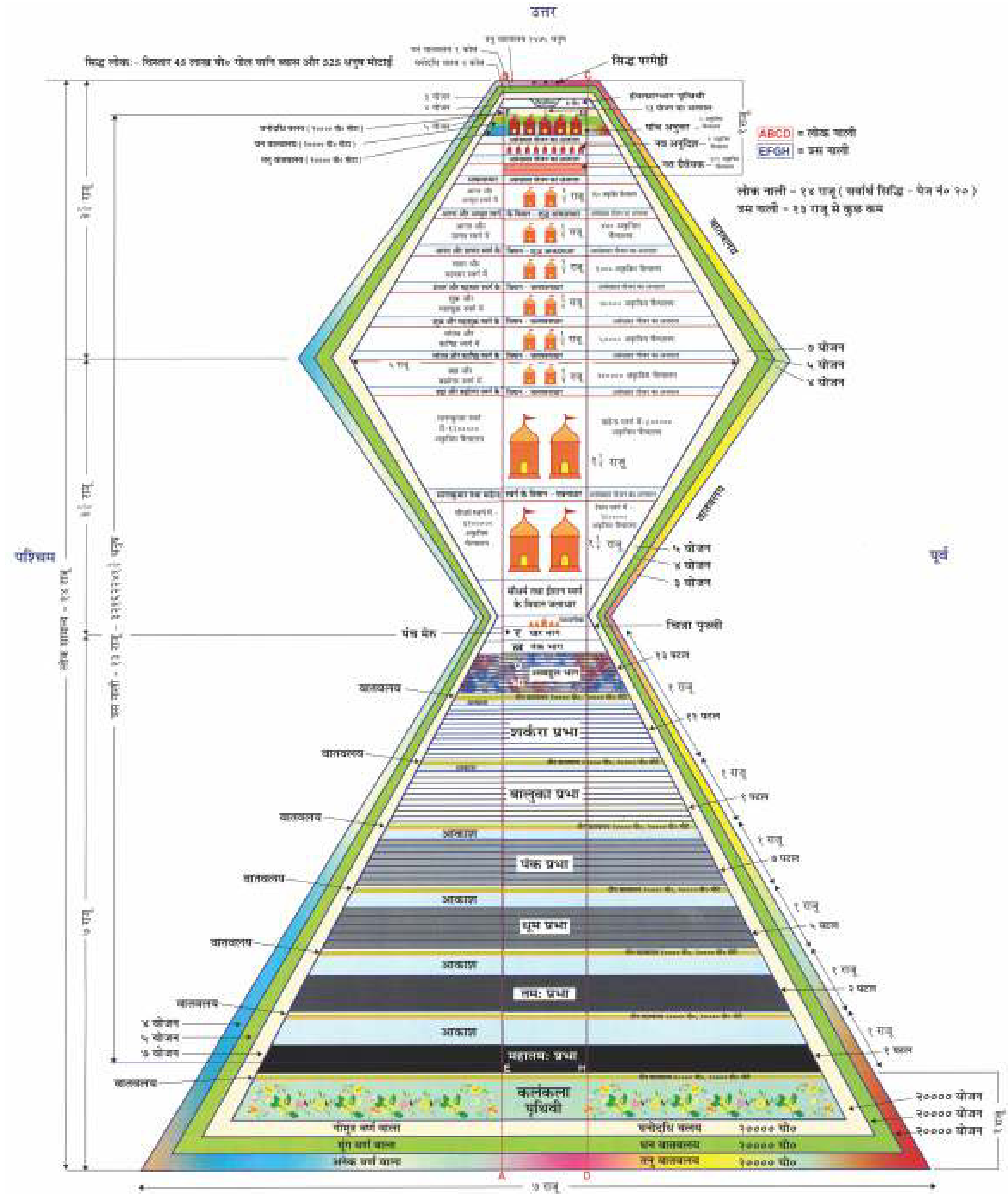
उत्तर
सिद्ध परमेष्ठी
ABCD = लोक नाली
EFGH = त्रस नाली
लोक नाली - १४ राजू (सर्वार्थ सिद्धि - पेज नं० १०)
त्रस नाली - १३ राजू से कुछ कम
पश्चिम
पूर्व
७ योजन
५ योजन
४ योजन
चित्रा पृथ्वी
वातवलय
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
आकाश
पंक प्रभा
धूम प्रभा
तमः प्रभा
महातमः प्रभा
कलंकला पृथ्वी
गोमूत्र वर्ण वाला
मूंग वर्ण वाला
अनेक वर्ण वाला
घनोदधि वलय २०००० यो०
घन वातवलय २०००० यो०
तनु वातवलय २०००० यो०
२०००० योजन
७ राजू

अथ पञ्चमोऽध्यायः

(अजीव तत्त्व का वर्णन)

अजीव तत्त्व के भेद-

अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः !!१!!

अर्थ- धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार अजीव हैं तथा काय हैं और बहुप्रदेशी द्रव्य हैं।

विशेषार्थ- वैसे द्रव्य छह हैं, उनमें पाँच द्रव्य अजीव है, मात्र एक द्रव्य जीव है। छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं तथा एक काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। अतः जीव द्रव्य कायरूप तो है, किन्तु अजीव नहीं है और काल द्रव्य अजीव है, परन्तु कायरूप नहीं है। इसलिए जीव और काल के अलावा शेष चार द्रव्य ही ऐसे हैं, जो अजीव भी हैं और कायवान भी हैं (जो बहुप्रदेशी होता है, उसे काय कहते हैं।)

द्रव्य की संज्ञा-

द्रव्याणि !!२!!

अर्थ- धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ द्रव्य हैं।

क्या जीव भी द्रव्य हैं?-

जीवाश्च !!३!!

अर्थ- जीव भी द्रव्य है और बहुप्रदेशी (कायवान) है। यहाँ 'जीवा' बहुवचन दिया है, अतः द्रव्य बहुत से हैं, ऐसा जानना।

पञ्चम अध्याय

अब द्रव्यों की विशेषता बताते हैं-

नित्यावस्थितान्यरूपाणि !!४!!

अर्थ- उपरोक्त कहे गए द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।

विशषार्थ- प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं- विशेष और सामान्य। जैसे धर्म द्रव्य का विशेष गुण तो गति में सहायक होना है और सामान्य गुण अस्तित्व है। इसी तरह सभी द्रव्यों में सामान्य व विशेष गुण पाये जाते हैं। द्रव्यों के इन गुणों का कभी नाश नहीं होता । जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, वह उसमें सदैव विद्यमान रहता है, अतः सभी द्रव्य नित्य(धौव्य) हैं। इनकी संख्या भी निश्चित है, ये छह द्रव्य बढ़कर न सात होते हैं, न घटकर पाँच होते हैं, इसलिए इन्हें अवस्थित कहा है। तथा (पुद्गल को छोड़कर) इनमें रूप, रस, गंध वर्ण आदि नहीं पाया जाता, इससे ये अरूपी अर्थात् अमूर्तिक हैं।

पुद्गल द्रव्य के रूपित्व का वर्णन-

रूपिणः पुद्गलाः !!५!!

अर्थ- पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

विशेषार्थ- यहाँ रूपी कहने से, रूप के साथ रहने वाले स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भी लेना चाहिए। क्योंकि चारों गुण साथ ही रहते हैं। ''पुद्गलाः'' शब्द बहुवचन है, तात्पर्य यह कि पुद्गल द्रव्य बहुत हैं।

धर्मादि द्रव्य बहुत नहीं-

आ आकाशादेक द्रव्याणि !!६!!

अर्थ- धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं।

विशेषार्थ- ये तीन द्रव्य एक-एक हैं पर जीव द्रव्य अनंत हैं, पुद्गल द्रव्य अनंतानंत है तथा काल द्रव्य (अणुरूप) असंख्यात् हैं।

धर्म आदि तीन द्रव्यों की निष्क्रियता-

निष्क्रियाणि च !!७!!

अर्थ- धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित हैं। द्रव्य के स्थानान्तर होने को क्रिया कहते हैं।

विशेषार्थ- धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है तथा आकाश द्रव्य लोक व अलोक दोनों में व्याप्त है। इसलिए अन्य क्षेत्र का अभाव होने से इनमें हलन-चलन रूप क्रिया नहीं होती। अर्थात् धर्मादि द्रव्य जीव व पुद्गल के चलने में उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक निमित्त नहीं। धर्म, अधर्म और आकाश निष्क्रिय हैं। लोकाकाश में अखण्ड व्यापी होने से इनका क्षेत्र से क्षेत्रांतर नहीं होता, किन्तु जीव और पुद्गल क्षेत्र से क्षेत्रांतर होते हैं, अतः ये सक्रिय द्रव्य हैं।

किस द्रव्य के कितने प्रदेश-

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम् !!८!!

अर्थ- धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य इनमें प्रत्येक के असंख्यात्, असंख्यात् प्रदेश होते हैं।

विशेषार्थ- जितने आकाश को पुद्गल का एक परमाणु रोकता है, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य तो निष्क्रिय हैं और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं, अतः लोकाकाश के असंख्यात् प्रदेशों में व्याप्त होने से असंख्यात्

प्रदेशी हैं। जीव भी असंख्यात् प्रदेशी है, किंतु उसका स्वभाव संकुचित होने व फैलने का है, इससे प्राप्त शरीर के अनुसार फैलकर रह जाता है। किन्तु लोकपूरण आदि समुदघात के समय समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है, अतः वह भी असंख्यात् प्रदेशी है। जिसकी संख्या गिनने में नहीं आती, वह असंख्यात् है।

आकाश द्रव्य के प्रदेश-

आकाशस्यानन्ताः ॥६॥

अर्थ- आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात् ही हैं।

जिज्ञासा- आकाश किसे कहते हैं?

समाधान- जो लोक और अलोक में चारों दिशाओं में व्याप्त है, वह आकाश है। और ऊपर दिखाई देने वाला नीला पिण्ड, वह आकाश नहीं है (छाया रूप) पुद्गल महास्कन्ध है।

आकाश के दो भेद हैं- (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

आकाश के जितने क्षेत्र में ६ द्रव्य रहते हैं, वह लोकाकाश कहलाता है और जहाँ कोई द्रव्य नहीं पाया जाता/नहीं होता और केवल आकाश मात्र होता है, वह अलोकाकाश कहलाता है।

जिज्ञासा- अनंत किसे कहते हैं?

समाधान- जिसके प्रदेशों का (या संख्या आदि का) अन्त, अवसान वा समाप्ति नहीं है, वह अनन्त है और वह अनंत केवलज्ञान का विषय है। छदमस्थ (अल्प ज्ञानी) का नहीं।

पञ्चम अध्याय

जिज्ञासा- लोक तो असंख्यात् प्रदेशी है, उसमें अनंत प्रदेशी पुद्‌गल द्रव्य कैसे रह सकता है?

समाधान- पहली बात तो यह कि पुद्‌गलों में सूक्ष्म रूप परिणमन करने की शक्ति है और दूसरी ओर आकाश में अवगाहन शक्ति है। अतः सूक्ष्मरूप पुद्‌गल परमाणु आकाश के एक-एक प्रदेश में बहुत से रह सकते हैं। देखिए, चम्पा की कली खिलती छोटे स्थान में है, किन्तु उसकी सुगन्ध बहुत बड़े प्रदेश में फैल जाती है। अगरबत्ती बहुत थोड़े स्थान में स्थित होती है, परन्तु पूरे घर/मंदिर क्या सम्पूर्ण मोहल्ले में उसकी सुगंध फैल जाती है। इसी प्रकार वहाँ पर भी जानना।

पुद्‌गल द्रव्य के प्रदेश-

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्‌गलानाम् !!१०!!

अर्थ- पुद्‌गलों के संख्यात, असंख्यात् और अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात् किसी पुद्‌गल द्रव्य के संख्यात प्रदेश हैं, किसी के असंख्यात् हैं और किसी के अनन्त हैं।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध पुद्‌गल द्रव्य तो एक अविभागी परमाणु है, किन्तु परमाणुओं में बंधने व बिछुडने की शक्ति है। अतः परमाणुओं के मेल से स्कन्ध बनता है, सो कोई स्कन्ध दो, तीन, चार से कोई संख्यात से कोई असंख्यात् से और कोई अनन्त परमाणुओं से बनता है।

परमाणु के प्रदेश-

नाणोः !!११!!

अर्थ- परमाणु के प्रदेश नहीं होते , वह एक प्रदेशी ही है।

विशेषार्थ- जैसे आकाश के एक प्रदेश के और विभाग नहीं हो सकने से वह अप्रदेशी है, वैसे ही परमाणु भी एक प्रदेशी ही है। पुद्गल के सबसे छोटे अंश को जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता, परमाणु कहते हैं।

अन्य द्रव्यों के रहने का स्थान-

लोकाकाशेऽवगाहः !!१२!!

अर्थ- इन धर्म आदि द्रव्यों का अवगाह (अवस्थान) लोकाकाश में है। आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य रहते हैं, उतने हिस्से को लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं, शेष भाग को अलोक अथवा अलोकाकाश कहते हैं।

जिज्ञासा- यदि धर्मादिक द्रव्यों का आधार लोकाकाश है, तो आकाश का आधार क्या है?

समाधान- आकाश का आधार अन्य कोई नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठ है।

जिज्ञासा- यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है, तो धर्म आदि द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ होने चाहिए? और यदि धर्म आदिक द्रव्यों का आधार अन्य कोई द्रव्य है तो, आकाश का भी कोई आधार होना चाहिए?

समाधान- आकाश से अधिक परिमाण वाला कोई द्रव्य नहीं है, जिसके आधार से आकाश रह सके। आकाश तो सब ओर अनंत है। निश्चयनय से सभी द्रव्य अपने आधार हैं, किन्तु व्यवहारनय से धर्म आदि द्रव्यों का आधार आकाश को कहा जाता है, क्योंकि धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं पाए जाते।

जिज्ञासा- लोक में जो पूर्व-उत्तर कालभावी होते हैं, उन्हीं का आधार आधेयपना देखा जाता है। जैसे मकान पहले बनता है, पीछे मनुष्य आकर

वसते हैं। उसी प्रकार आकाश पूर्वकालभावी है और धर्मादिक द्रव्य पीछे उत्पन्न हुए हों, सो ऐसा तो आप मानते नहीं। ऐसी स्थिति में व्यवहारनय से भी आधार-आधेयपना नहीं वन सकता?

<u>**समाधान**</u>- आपकी आपत्ति ठीक नहीं है। जो एक साथ होते हैं, उनमें भी आधार-आधेयपना देखा जाता है। जैसे शरीर और हाथ एक साथ ही बनते हैं फिर भी ''शरीर में हाथ है'' ऐसा कहा जाता है। अथवा घट में रूप आदि हैं।

इसी तरह यद्यपि सभी द्रव्य अनादि हैं, फिर भी आकाश में धर्म आदिक द्रव्य हैं, ऐसा व्यवहार होने में कोई आपति नहीं है।

<u>धर्म-अधर्म द्रव्य कितने लोकाकाश में-</u>

धर्माधर्मयोः कृत्सने !!१३!!

अर्थ- धर्म व अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। अर्थात् जिस प्रकार मकान के किसी एक कोने में घड़ा रखा रहता है, उसी तरह धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं रहते, बल्कि जैसे तिलों में तेल सर्वत्र (अंशों में) पाया जाता है, उसी प्रकार ये दोनों द्रव्य सर्वत्र लोकाकाश में व्याप्त हैं।

<u>पुद्गल द्रव्य की अवगाहना-</u>

एक प्रदेशादिषुभाज्यः पुद्गलानाम् !!१४!!

अर्थ- पुद्गलों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश से लगाकर असंख्यात् प्रदेशों में है।

अर्थात् एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश में रहता है, दो परमाणु यदि जुदे-जुदे हैं, तो दो प्रदेशों में रहते हैं। इसी तरह संख्यात, असंख्यात् और

अनन्त परमाणु के स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में अथवा संख्यात या असंख्यात् प्रदेशों में रहते हैं।

जिज्ञासा- धर्म-अधर्म द्रव्य तो अमूर्तिक है, अतः वे एक स्थान पर बिना किसी बाधा के रह सकते हैं, किन्तु पुद्रगल द्रव्य तो मूर्तिक है अतः एक प्रदेश में अनेक मूर्तिक पुद्गल कैसे रह सकते हैं?

समाधान- पहले कहा जा चुका है कि प्रचय विशेष, सूक्ष्म परिणमन और आकाश की अवगाहन शक्ति के कारण मूर्त्तमान द्रव्यों का एकत्र अवस्थान हो जाता है। जैसे- प्रकाश मूर्तिक है, फिर भी एक कमरे में अनेक दीपकों का प्रकाश एक साथ रह जाता है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।

जीव द्रव्य की अवगाहना-

असंख्येय भागादिषु जीवानाम् !!१५!!

अर्थ- जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्याते भाग से लेकर समस्त लोकाकाश में है।

विशेषार्थ- अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात भाग करने पर जो एक असंख्यातवाँ भाग होता है, उस एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है, क्योंकि सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया जीव की होती है। सो वह जीव लोक के असंख्यातवें भाग स्थान को रोकता है। यदि जीव की अवगाहना बड़ी होती है, तो वह लोक के दो, तीन, चार अथवा असंख्यातवें भागों में रहता है। यहाँ तक कि लोक पूरण की अपेक्षा सारे लोकाकाश में एक जीव फैल जाता है। नाना जीवों की अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। ऐसा जानना।

पञ्चम अध्याय

असंख्यात् प्रदेशी एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में कैसे?-

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् !!१६!!

अर्थ- आत्म प्रदेशों के संकोच-विस्तार के कारण जीव दीपक के प्रकाश की तरह लोक के असंख्यात् आदि भागों में रहता है।

विशेषार्थ- यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है फिर भी अनादिकाल से कर्मों के साथ एकमेक होने के कारण कथंचित मूर्तिक हो रहा है। अतः कर्मानुसार जैसा छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, उसके अनुसार ही उसके आत्म प्रदेशों का संकोच अथवा फैलाव हो जाता है।

जैसे- दीपक को छोटे या बड़े जैसे स्थान में रखा जाता है, उसी रूप में उसका प्रकाश फैल जाता है अथवा संकुचित हो जाता है। अर्थात् घड़े में दीपक रखने पर उसका प्रकाश घड़े की सीमा में फैलेगा और कमरे में रखने पर प्रकाश सम्पूर्ण कमरे में फैल जायेगा। वैसे ही आत्मा के विषय में जानना चाहिए।

धर्म-अधर्म द्रव्य का कार्य/उपकार-

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः !!१७!!

अर्थ- स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गल को चलने में सहायता देना धर्म द्रव्य का एवं इनके ठहरने में सहायता देना अधर्म द्रव्य का उपकार या कार्य है।

विशेषार्थ- जीव और पुद्गल द्रव्यों में गमन करने की शक्ति तो इन्हीं द्रव्यों में ही है। अतः गमन करने में अंतरंग कारण तो वे स्वयं ही हैं, किन्तु बाह्य सहायक निमित्त के बिना कोई कार्य नहीं होता। अतः बाह्य सहायक निमित्त धर्म व अधर्म द्रव्य हैं।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं- **(१) उदासीन निमित्त (२) प्रेरक निमित्त।**

(१) उदासीन निमित्त- जैसे रेल की पटरी रेल के चलने में सहायक है। रेल की पटरी जबरदस्ती रेल को नहीं चलाती है। पानी मछली को तैरने में सहयोगी है, किन्तु पानी जबरदस्ती नहीं तैराता है, उसे। वृक्ष पथिक को विश्राम/ठहरने में सहायक है, किन्तु वृक्ष उसे जबरदस्ती नहीं ठहराता। ये उदासीन निमित्त हैं।

(२) प्रेरक निमित्त- जैसे रेल का इंजन रेल के डिब्बों को जबरदस्ती खींचता है, यह प्रेरक निमित्त है।

अतः धर्म-अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल को चलने व ठहरने में उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक निमित्त नहीं, ऐसा जानना।

<u>आकाश द्रव्य का उपकार-</u>

आकाशस्यावगाहः !!१८!!

अर्थ- समस्त द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देना आकाश द्रव्य का कार्य है।

जो किसी द्रव्य विशेष को नहीं, बल्कि सभी द्रव्यों को ठहरने के लिए स्थान (अवकाश) देता है, उसे आकाश कहते हैं।

<u>पुद्गल द्रव्य का उपकार-</u>

शरीर-वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् !!१९!!

अर्थ- शरीर, वचन, मन और प्राणापान (श्वास-उच्छवास) ये सब पुद्गल के उपकार हैं।

विशेषार्थ- शरीर- हमारा शरीर पुद्गलों का बना (पिण्ड) है। कार्मण शरीर अर्थात् कर्म पिण्ड जो आत्मा से बद्ध हैं, वह भी पौदगलिक ही हैं, क्योंकि मूर्तिक

पदार्थों के निमित्त से ही कर्म अपना फल देते हैं। जैसे पैर में काँटा चुभने से असाता कर्म का उदय होता है और मीठे, रूचिकर पदार्थ खाने को मिलने से साता कर्म का उदय होता है।

वचन- वचन दो प्रकार होता है- **(१) भाव वचन और (२) द्रव्य वचन**

मति, श्रुत ज्ञानावरण कर्म एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोंपांग नामकर्म से आत्मा में जो बोलने की शक्ति होती है, उसे भाव वचन कहते हैं। पुद्‌गल के निमित्त से होने के कारण यह भी पौदगलिक है। तथा

बोलने की शक्ति से युक्त जीव के कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि के संयोग से जो पुद्‌गल शब्दरूप बनते हैं, वह द्रव्यवचन हैं। वह भी पौदगलिक हैं, क्योंकि कानों के द्वारा ही सुनाई देता है। अन्य मत वाले शब्द को अमूर्तिक मानते हैं, और आकाश का धर्म मानते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द, मूर्तिमान श्रोत्रेन्द्रिय (कानों) से जाना जाता है, मूर्तिमान वायु के द्वारा शब्द को यहाँ-वहाँ दिशाओं में ले जाया जाता है। शब्द की टक्कर से प्रति ध्वनि होती है, शब्द मूर्तिक के द्वारा रूक भी जाता है, अतः शब्द मूर्तिक ही है।

मन- मन भी दो प्रकार का होता है- **(१) भाव मन और (२) द्रव्य मन**

गुण व दोषों के विचार की शक्ति को भाव मन कहते हैं और वह शक्ति पुद्‌गल कर्मों के क्षयोपशम से ही प्राप्त होती है। अतः वह भी पौद्‌गलिक है।

वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय से हृदय स्थान में जो पुद्‌गल मन रूप से परिणमन करते हैं, उन्हें द्रव्य मन कहते हैं। अतः यह भी पौद्‌गलिक है।

प्राणापान (श्वास-उच्छवास)-

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से यह जीव कोष्ठगत वायु को बाहर निकालता है, यह उच्छवास या प्राण है और बाहर की वायु को अन्दर ले जाता है यह निश्वास या अपान है। ये आत्मा के उपकारी हैं, क्योंकि उच्छवास और निश्वास (प्राण और अपान) ये दोनों वायु जीवित रहने का हेतु होने से आत्मा का अनुग्रह करने वाली हैं। क्योंकि आत्मा का अस्तित्व इन्हीं से मालूम होता है।

अतः मन, प्राण और अपान इन तीनों को मूर्तिक जानना चाहिए। क्योंकि दूसरे मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा इनका प्रतिघात होता है। जैसे- भय का कारणभूत बिजलीपात आदि के द्वारा मन का प्रतिघात देखा जाता है। और सुरा (मद्यपान) के द्वारा मन का अभिभव (उनमत्तपना) भी देखा जाता है। हथेली अथवा वस्त्र के द्वारा मुख को ढ़कने से प्राण और अपान वायु का स्पष्ट ही प्रतिघात होता है।

पुद्गल द्रव्य के अन्य उपकार-

सुखदुःख जीवित-मरणोपग्रहाश्च !!२०!!

अर्थ- सुख, दुःख, जीवन और मरण ये भी जीव के प्रति पुद्गलों के उपकार हैं।

सुख- साता वेदनीय के उदय से तथा बाह्य कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से आत्मा को जो प्रसन्नता होती है, वह सुख है। और

दुःख- असाता वेदनीय के उदय से जो संक्लेश रूप भाव होता है, वह दुःख है।

जीवन- आयु कर्म के उदय से किसी एक भव में स्थित जीव के श्वासोच्छवास का जारी रहना जीवन है। और

मरण- श्वास का उच्छेद हो जाना मरण है तथा ये सब पुद्गल के निमित्त से होते हैं, इसलिए पौदगलिक हैं।

यहाँ उपकार का प्रकरण होने पर भी सूत्र में जो 'उपग्रह' पद दिया है। वह यह बतलाने के लिये दिया है कि पुद्गल जीव का ही उपकार नहीं करता, बल्कि पुद्गल पुद्गल का भी उपकार करता है। जैसें राख से कांसे आदि के वर्त्तन साफ किए जाते हैं या निर्मली (फिटकरी) डालने से मैला पानी स्वच्छ हो जाता है। यहाँ उपकार से तात्पर्य मात्र भलाई करने से ही नहीं लेना चाहिए, बल्कि किसी भी कार्य में सहायक होना उपकार ही है।

जीव कृत उपकार-

परस्परोपग्रहो जीवानाम् !!२१!!

अर्थ- आपस में एक दूसरे की सहायता करना जीवों का उपकार है। जैसे धन आदि देकर स्वामी अपने सेवक का उपकार करता है और सेवक अनुकूल एवं हितकर कार्यों को कहकर और अहितकर कार्यो से बचाकर स्वामी का उपकार करता है। इसी प्रकार गुरु शिष्य को इहलोक-परलोक दोनों के लिए सुखदायी उपदेश देकर शिष्यों का अनुग्रह करते हैं तथा शिष्य गुरु की आज्ञानुसार आचरण करके गुरु का उपकार करते हैं।

पहले सूत्र में बताए गए सुख-दुःख आदि भी जीव कृत उपकार हैं। अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को सुख भी देता है और दुःख भी देता है और जीवन में तथा मरण में भी सहायक होता है। यही ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' है।

पञ्चम अध्याय

काल द्रव्य का उपकार-

वर्तना-परिणाम-क्रियाःपरत्वापरत्वे च कालस्य !!२२!!

अर्थ- वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना- सर्व द्रव्य अपने आप वर्तते हैं, तथापि उनके वर्तने में जो बाह्य सहकारी कारण होता है, उसे वर्तना कहते हैं। अर्थात् प्रतिसमय छहों द्रव्यों में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है, उसमें बाह्य निमित्त काल है। अतः वर्तना को काल का उपकार कहा जाता है।

परिणाम- अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे- जीवों के परिणाम क्रोधादि हैं और पुद्गल के परिणाम रूप, रस आदि तथा अणु आदि हैं।

क्रिया- एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने का नाम क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गलों में ही पायी जाती है।

परत्व और अपरत्व- छोटे-बड़ों के व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं जो बहुत दिनों का होता है, उसे पर कहते हैं और जो थोड़े दिनों का होता है, उसे अपर कहते हैं। जैसे- २५वर्ष के मनुष्य को बड़ा कहना और १८वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहना। ये सब काल द्रव्य की सहायता (उपकार) से होते हैं।

काल द्रव्य दो प्रकार का है- निश्चय काल और व्यवहार काल।

निश्चय काल का लक्षण वर्तना है और व्यवहार काल का लक्षण परिणाम वगैरह है। जीव, पुद्गलों में होने वाले परिणमन में ही व्यवहार काल घड़ी,

मुहूर्त, दिन, रात आदि जाने जाते हैं। इसके तीन भेद हैं- भूत, वर्तमान और भविष्य। इस घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात आदि में होने वाले काल व्यवहार से मुख्य निश्चयकाल का अस्तित्व जाना जाता है। क्योंकि मुख्य के होने से ही गौण व्यवहार (काल) होता है। अतः लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो एक-एक कालाणु स्थित है, वही निश्चय काल है। उसी के निमित्त से वर्तना आदि उपकार होते हैं।

पुद्गल द्रव्य का लक्षण-

स्पर्श-रस-गन्ध वर्णवन्तः पुद्गलाः !!२३!!

अर्थ- स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

विशेषार्थ- उपरोक्त चारों गुण प्रत्येक पुद्गल में एक साथ और अवश्य रहते हैं।

स्पर्श- जो स्पर्श किया जाता है अथवा स्पर्शन मात्र को स्पर्श कहते हैं। यह ८ भेद रूप होता है- हल्का-भारी, कड़ा-नरम, रूक्ष-चिकना, ठंडा-गरम।

रस- जो स्वाद रूप होता है या स्वाद मात्र को रस कहते हैं। यह ५भेद रूप है- खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला, चरपरा। कहीं-कहीं रस को ६ भेद रूप भी कहा गया है- दूध, दही, घी, नमक, मीठा, तेल।

गंध- जो सूंघा जाता है या सूंघने मात्र को गंध कहते हैं गंध दो भेद रूप हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण- जिसका कोई वर्ण (रंग) है, वह वर्ण है। इसके ५ भेद हैं- काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इस प्रकार स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण इन सबके मिलाकर ये मुख्यता से २० भेद हैं। इनके अवान्तर भेद अनेक हैं। ये सभी गुण पुद्गलों में पाये जाते हैं।

पञ्चम अध्याय

पुद्गल द्रव्य की अन्य पर्यायें-

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्यस्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया तपोद्योतवन्तश्च !!२४!!

अर्थ- शब्द, बन्ध, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत ये सभी पुद्गल की पर्याये हैं।

विशेषार्थ- शब्द दो प्रकार का है- भाषा रूप और अभाषा रूप ।भाषा रूप शब्द दो प्रकार का है- **अक्षर रूप** और **अनक्षर रूप** । मनुष्यों की बोलियाँ अक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं एवं पशु-पक्षियों आदि की में-में, टें-टे अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। अभाषा रूप शब्द दो प्रकार का है- एक जो पुरूष के द्वारा पैदा होता है, उसे प्रायोगिक कहते हैं और जो पुरूष के बिना मेघ आदि की गर्जना से होता है, वह स्वाभाविक अभाषा शब्द हैं।

बन्ध- बन्ध भी दो प्रकार का है- वैस्रसिक और प्रायोगिक।

जो बन्ध पुरूष के प्रयत्न के बिना ही होता है, उसे वैस्रसिक बंध कहते हैं। जैसे- पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से स्वयं ही बादल, बिजली एवं इन्द्रधनुष आदि वन जाते हैं।

पुरूष के प्रयत्न से होने वाला बंध प्रायोगिक है। इसके भी दो भेद हैं- एक अजीव-अजीव का बंध। जैसे- लकड़ी और लाख का बंध। दूसरा जीव और अजीव का बंध। जैसे आत्मा से कर्म और नो कर्म का बन्ध।

सूक्ष्मपना- यह दो प्रकार का है-एक सबसे सूक्ष्म, जैसे परमाणु। दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्म, जैसे बेल से सूक्ष्म आवंला, और आंवले से सूक्ष्म बेर आदि।

स्थूलपना- यह भी दो प्रकार का है- एक अत्यधिक स्थूल, जैसे समस्त जगत में व्याप्त महास्कन्ध। दूसरा सापेक्षिक स्थूल जैसे नीबू से स्थूल आम, बेर से स्थूल आंवला आदि।

पञ्चम अध्याय

संस्थान- संस्थान यानि आकार। यह भी दो तरह का है- गोल, चौकोर, चौड़ा, लम्बा आदि आकारों को 'इत्थं लक्षण' कहते हैं। क्योंकि इन्हें कहा जा सकता है तथा जिस आकार को कहना शक्य न हो, उन्हें 'अनित्थं लक्षण' कहते हैं। जैसे- बादलों के अनेक आकार बनते बिगड़ते रहते हैं।

भेद- भेद छह प्रकार का है- आरा मशीन से लकड़ी चीरने पर जो बुरादा निकलता है, उसे ' उत्कर' भेद कहते हैं। जौ, गेहूँ, चना आदि का आटा, सत्तू को 'चूर्ण' कहते हैं। घड़े आदि का फूटकर कपाल हो जाना 'खण्ड' कहलाता है। जो न अति सूक्ष्म हो न अति स्थूल हो , ऐसे मूँग, मोंठ, उड़द, चना के दलन को 'चूर्णिका' कहते हैं। मेघ पटल के बिघटन को 'प्रतर' कहते हैं तथा तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो स्फुलिंग निकलते है, उन्हें 'अणुचटन' कहते हैं। यह छह प्रकार के भेद हैं।

तम (अंधकार)- जो प्रकाश का विरोधी है, वह अंधकार है।

छाया- छाया दो प्रकार की है- एक तो जिस वस्तु की छाया हो, उसका रूप, रंग ज्यों का त्यों आ जाये। जैसे- दर्पण में या कैमरे में मुख का रूप, रंग जैसा का तैसा आ जाता है। तथा दूसरा प्रतिबिम्ब मात्र। जैसे- धूप में खडे होने पर शरीर आदि की छाया मात्र दिखती है ।

आतप- सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है, उसे आतप या घाम कहते हैं।

उद्योत- चन्द्रमा, जुगनू, मणि, विद्युत आदि से उत्पन्न प्रकाश को उद्योत कहते हैं। ये सभी पुद्‌गल की ही पर्यायें हैं।

पञ्चम अध्याय

पुद्गल के भेद-

अणवः स्कन्धाश्च !!२५!!

अर्थ- पुद्गल के दो भेद हैं- अणु और स्कन्ध।

विशेषार्थ- जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उस अविभागी एक प्रदेशी पुद्गल द्रव्य को अणु या परमाणु कहते हैं। स्कन्ध-जो स्थूल हो या जिसे उठा सकें, रख सकें, ऐसे दो, तीन, संख्यात, असंख्यात् तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड(समूह) को स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है? यह कहते हैं-

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते !!२६!!

अर्थ- भेद से, संघात से तथा भेद-संघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ- अंतरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणों से संघात-रूप स्कन्ध के विदारण को भेद कहते हैं और पृथग्भूत स्कन्धों के एक रूप हो जाने को संघात कहते हैं। जैसे- २० परमाणुओं वाला स्कन्ध है, उसके १० परमाणु बिखर जाने से १० परमाणु वाला स्कन्ध वन जाता है और उस २० परमाणु वाले स्कन्ध में १० परमाणु मिल जाने से ३० परमाणु वाला स्कन्ध वन जाता है। तथा उसी में से एकसाथ १० परमाणु के बिछुड़ने और १५ परमाणुओं के मिल जाने से वह २५ परमाणुओं वाला स्कन्ध वन जाता है।

सूत्र में ''भेद संघाताभ्यां'' द्विवचन के स्थान पर जो बहुवचन''संघातेभ्यः'' का प्रयोग हुआ है, वह तृतीय भेद के संग्रह करने के लिये किया है। अर्थात् भेद से, संघात से तथा भेदसंघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

पञ्चम अध्याय

परमाणु की उत्पत्ति का कारण-

भेदादणुः !!२७!!

अर्थ- अणु की उत्पति स्कन्धों के भेद से (अर्थात् टूटने या बिखरने से) होती है।

चाक्षुष स्कन्ध की उत्पति का कारण-

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः !!२८!!

अर्थ- चक्षु इन्द्रिय से दिखने योग्य स्कन्ध, भेद और संघात दोनों से उत्पन्न होता है। मात्र भेद से उत्पन्न नहीं हो सकता।

विशेषार्थ- चाक्षुष स्कन्ध, भेद मात्र से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु भेद और संघात से ही उत्पन्न होता है। जैसे- एक सूक्ष्म स्कन्ध है, वह टूट जाता है, दो टुकड़े होने पर भी वह सूक्ष्म ही रहता है, चक्षु इंद्रिय से नहीं देखा जा सकता। जब वह सूक्ष्म स्कन्ध दूसरे स्कन्ध में मिलकर अपने सूक्ष्मपने को छोड़कर स्थूल रूप वन जाता है, तो चक्षु इन्द्रिय का विषय होने लगता है, अर्थात् उसे आँखों से देखा जा सकता है। इसीलिए 'भेद संघाताभ्यां' इस प्रकार उक्त सूत्र की रचना हुई है। क्योंकि अकेले भेद से स्कंध चाक्षुष नहीं होता।

द्रव्य का लक्षण-

सद्द्रव्य-लक्षणम् !!२९!!

अर्थ- द्रव्य का लक्षण सत् अर्थात् अस्तित्व है। यानि जो सत् है, वही द्रव्य है।

सत् का लक्षण-

उत्पाद-व्यय-धौव्ययुक्तं सत् !!३०!!

अर्थ- जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है, वह सत् है।

विशेषार्थ- उत्पाद- अपनी जाति को न छोड़कर चेतन अथवा अचेतन द्रव्य में नई पर्याय के उत्पन्न होने को उत्पाद कहते हैं। जैसे- मिटटी की पिण्ड पर्याय- उस मिट्टी के लौंद से घट पर्याय का उत्पन्न होना।

व्यय- पूर्व पर्याय के बिनाश को व्यय कहते हैं। जैसे- घट पर्याय के उत्पन्न होने पर मिट्टी का पिण्ड रूप आकार नष्ट हो जाता है।

ध्रौव्य- पूर्व पर्याय का बिनाश एवं नवीन पर्याय के उत्पाद होने पर भी अपने अनादि स्वभाव को नहीं छोड़ना, धौव्य है। जैसे- मिट्टी का पिण्ड तथा मिट्टी का घट दोनों पर्यायों में मिट्टी का रहना। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों धर्म एक साथ पाये जाते हैं।

ध्रौव्य (नित्य) का लक्षण-

तद्भावाव्ययं नित्यम् !!३१!!

अर्थ- वस्तु के स्वभाव को तद्भाव कहते हैं और उसका बिनाश नहीं होना नित्य है।

विशेषार्थ- जैन धर्म में प्रत्येक वस्तु को प्रतिसमय परिवर्तनशील बताया है, तब यह प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है तो फिर नित्य कैसे?

समाधान- सूत्रकार कहते हैं कि नित्य का तात्पर्य यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूप में हैं, उसी रूप में बनी रहे, परिणमन होते हुए भी उस वस्तु में अर्थात् मूल स्वभाव में ऐसी एक रूपता का बना रहना ही नित्यता है, जिसे देखकर हम उसे कालान्तर में पहिचान लेते हैं कि यह वही वस्तु है, जिसे पहले देखा था।

पदार्थ में यह नित्यता स्वरूप-सामान्य की अपेक्षा से कही जाती है, पर्याय विशेष की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य हैं। इसलिए जगत के सभी पदार्थ नित्य

भी हैं और अनित्य भी हैं। अर्थात् नित्यानित्य हैं। आचार्य भगवन् इसका समाधान आगे कहते हैं।

एक वस्तु में दो विरूद्ध धर्म कैसे? यह बताते हैं-

अर्पितानर्पितसिद्धेः !!३२!!

अर्थ- मुख्य को अर्पित कहते हैं और गौण को अनर्पित कहते हैं। मुख्यता एवं गौणता की प्रधानता या विवक्षा से ही अनेक धर्मात्मक वस्तु का कथन होता है।

विशेषार्थ- वस्तु में अनेक धर्म हैं, किन्तु वक्ता का अभिप्राय जिस धर्म से होता है, वह धर्म मुख्य हो जाता है। और जिस धर्म से प्रयोजन नहीं है, वह गौण हो जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस वस्तु में अन्य धर्म हैं ही नहीं । अस्तु विवक्षा की अपेक्षा से किसी धर्म की प्रधानता और किसी धर्म की अप्रधानता (गौणता) से ही वस्तु की सिद्धि होती है।

जैसे राम में पुत्र, पिता, भाई, पति आदि अनेक धर्म हैं। दशरथ की अपेक्षा से पुत्र हैं, लवकुश की अपेक्षा से पिता हैं, लक्ष्मण की अपेक्षा से भाई हैं और सीता की अपेक्षा पति हैं। किन्तु जब दशरथ की अपेक्षा कथन होगा तब राम को पुत्र कहा जायेगा। उस समय राम पिता भी हैं, भाई भी हैं, पति भी हैं परन्तु कथन दशरथ की अपेक्षा से किया जा रहा है अतः प्रधानता पुत्र कहने की रहेगी। जब सीता की चर्चा करेंगे, तब राम को पति कहा जायेगा, शेष सब धर्म गौण रहेंगे।

इसलिए एक वस्तु अनेक धर्मात्मक होने पर भी कथन एक-एक धर्म का क्रमशः ही होगा। अनेक धर्मों का कथन एक साथ नहीं होगा। परन्तु अनेक धर्म एक साथ रहने में बाधा नहीं है।

जैसे यदि वक्ता द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का कथन करेगा, तब वस्तु की नित्यता विवक्षित कहलायेगी और जब वक्ता पर्यायार्थिक नय से वस्तु का कथन करेगा, तब वस्तु की अनित्यता विवक्षित होगी।

जिस समय किसी वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य कहा जा रहा है, उसी समय वस्तु पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है, किन्तु वहाँ अनित्यता नहीं कही जा रही है। क्योंकि दो धर्मों का कथन एक साथ नहीं किया जा सकता है। लेकिन दोनों धर्म एक साथ रह सकते हैं, इसमे कोई विरोध नहीं है। वस्तु सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है। ऐसा समझना।

परमाणुओं के बंध होने में कारण-

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः !!३३!!

अर्थ- स्निग्ध अर्थात् चिकनाई और रूक्षत्व अर्थात् रूखापन इन दोनों के कारण से पुद्गल परमाणुओं का बन्ध होता है।

विशेषार्थ- पुद्गलों में स्नेह व रूक्ष गुण पाये जाते हैं। किन्हीं परमाणुओं में स्नेह (चिक्कणपना) गुण होता है और किन्हीं परमाणुओं में रूक्ष गुण होता है। स्नेह गुण के अविभागी प्रतिच्छेद बहुत से होते हैं और रूक्ष गुण के अविभागी प्रतिच्छेद भी बहुत से होते हैं। शक्ति के सबसे जघन्य अंश को अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। एक-एक परमाणु में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं और वे घटते बढ़ते रहते हैं। इस तरह परमाणुओं में स्निग्धता और रूक्षता हीन या अधिक पायी जाती है, जिसका अनुमान हम स्कन्धों को देखकर कर सकते है। जैसे- जल से बकरी के दूध में, बकरी के दूध-घी से गाय के दूध-घी में, गाय के दूध-घी से भैंस के दूध-घी में और उससे अधिक चिकनाई

ऊँटनी के दूध-घी में पायी जाती है। इसी तरह धूल से रेत में और रेत से बजरी(कंकड़) में रूखापन अधिक पाया जाता हैं। इसी तरह परमाणुओं में भी चिकनाई और रूक्षपना हीनाधिक होने से वही पुद्गलों के बन्ध में कारण है।

एक गुण वाले परमाणु में बंध नहीं होता-

न जघन्य गुणानाम् !!३४!!

अर्थ- जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ- जिन परमाणुओं में स्निग्धता अथवा रूक्षता का एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है, उसका बन्ध नहीं होता। स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेदों (जिनका-और विभाग नहीं हो सकता) ऐसे अंश को गुण कहते हैं।

इस तरह जघन्य गुण वाले परमाणुओं के अलावा शेष सभी परमाणुओं का बन्ध प्राप्त हुआ कहलाया।

बन्ध का अभाव कहाँ होता है-

गुण-साम्ये सदृशानाम् !!३५!!

अर्थ- गुणों में समानता होने पर सजातीय परमाणुओं का बंध नहीं होता।

विशेषार्थ- यदि बंधने वाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर-बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हों, तो उनका भी बंध नहीं होता।

जैसे- दो गुण वाले स्नेह परमाणु का अन्य दो गुण वाले स्नेह परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता। दो गुण रूक्षता वाले परमाणु का दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह दो गुण रूक्षता वाले परमाणु के साथ दो गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।

सूत्र में दिये ''सदृशानाम्'' पद से सूचित होता है कि गुणों की विषमता हो तो समान जाति वाले अथवा भिन्न जाति वाले पुद्गलों का बंध हो जाता है।

बन्ध किनका होता है-

द्वयधिकादि गुणानां तु !!३६!!

अर्थ- जिनमें दो गुण अधिक होते हैं, उन्हीं परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

विशेषार्थ- जैसे- दो गुण वाले परमाणु का बन्ध चार गुण वाले परामाणु के साथ होता है। तीन गुण वाले परमाणु का बन्ध पाँच गुण वाले परमाणु के साथ होता है।

किन्तु इससे अधिक या कम गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। यह बन्ध स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ और रूक्ष स्निग्ध के साथ होता है।

बन्ध के बाद की अवस्था-

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च !!३७!!

अर्थ- बन्ध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है।

विशेषार्थ- बन्ध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु अपने से कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है, इससे वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रस, रूप आदि गुणों में भी परिवर्तन होकर स्कन्ध बन जाता है। जैसे- गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त हुई रज को गुड़ रूप परिणमा लेता है। अर्थात् रज भी गुड़ रूप मीठी लगने लगती है।

इसी से बंधने वाले परमाणुओं में दो गुणों का अन्तर होना आवश्यक है। इससे अधिक अन्तर होने से एक परमाणु दूसरे में मिल तो सकता है, किन्तु फिर तीसरी अवस्था प्रगट नहीं हो सकती, क्योंकि अल्प गुणवाला अपने से अधिक गुण वाले पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता।

इसी प्रकार गुणों में अन्तर न रहने पर दोनों समान बलशाली होने से एक दूसरे को अपने रूप नहीं परिणमा कर, अलग-अलग ही रह जाते हैं।

द्रव्य का दूसरा लक्षण-

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् !! ३८!!

अर्थ- जिसमें गुण व पर्याय पाई जाती है, उसे द्रव्य कहते हैं।

विशेषार्थ- द्रव्य में अनेक परिणाम होने पर भी जो द्रव्य से पृथक नहीं होता, सदैव द्रव्य के साथ ही रहता है, वह गुण है। इसी से गुण को अन्वयी कहा है। जैसे ज्ञान आदि जीव के गुण हैं। और जो द्रव्य में आती जाती रहती है, उत्पन्न-नष्ट होती रहती है अथवा जो अवस्था बदलती रहती है, वह पर्याय है। इसी से पर्याय को व्यतिरेकी कहा है। गुण-पर्याय रूप ही द्रव्य है। जैसे- जीव की मनुष्य, नारकी आदि पर्याय हैं।

जैसे ज्ञान आदि जीव के गुण हैं, उसी तरह रूप, रस आदि पुद्‍गल के गुण हैं। ज्ञान जीव को छोड़कर नहीं रह सकता और न ही रूप, रस आदि गुण पुद्‍गल को छोड़कर रह सकते हैं। ज्ञान गुण में भी परिणमन होता रहता है। जैसे- घट का ज्ञान, पट(वस्त्र) आदि का ज्ञान। और रस रूपादि में भी परिणमन होता है। जैसे कच्चा आम हरा व खट्टा होता है, वही पक जाने पर पीला एवं मीठा हो जाता है। यह परिणमन ही पर्याय है।

विशेष- पहले द्रव्य का लक्षण सत् कहा था तथा सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है, ऐसा कहा था किंतु यहाँ पर गुण पर्यायवान को द्रव्य कहा जा रहा है। इन दोनों के लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है। गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद व बिनाशीक होती हैं। अतः जब हम कहते हैं कि द्रव्य ध्रौव्य युक्त है, तो उसका अर्थ होता है कि द्रव्य गुणवान है और जब उसे उत्पाद-बिनाशवाला कहते हैं, तो उसका मतलब होता है कि वह पर्यायवान है। इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय की सत्ता अलग-अलग नहीं है, बल्कि सबका अस्तित्व कहो या सत्ता, एक ही है। इसी सत् को द्रव्य कहा है, ऐसा समझना।

काल भी द्रव्य है-

कालश्च !!३९!!

अर्थ- काल भी द्रव्य है। क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है।

विशेषार्थ- जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही काल द्रव्य हैं। रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक रहते हुए लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। काल द्रव्य असंख्यात् हैं। काल द्रव्य अमूर्तिक, सूक्ष्म और अचेतन होता है। काल द्रव्य में रूप, रस, गंधादि नहीं पाये जाते। काल द्रव्य एक प्रदेशी है, जो कालाणु जहाँ स्थित है, वहीं स्थित रहता है। 'च' शब्द का संबंध 'द्रव्याणि' सूत्र के साथ है।

काल द्रव्य की विशेषता-

सोऽनन्त समयः !!४०!!

अर्थ- वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है अर्थात् काल के समयों का अन्त नहीं है।

विशेषार्थ- भूत, भविष्यत् और वर्तमान- ये व्यवहार काल के भेद हैं। वर्तमान काल का प्रमाण तो एक समय मात्र है, क्योंकि एक समय के समाप्त होने पर वह भूत हो जाता है और जो दूसरा समय उसका स्थान लेता है, वह वर्तमान कहलाता है।

किन्तु भूत और भविष्यत् काल अनन्त समय वाला है, इसी से व्यवहार काल को अनन्त समय वाला कहा है। यह सूत्र मुख्य काल का ही प्रमाण बतलाता है। क्योंकि एक कालाणु अनन्त पर्यायों की वर्तना में कारण है। इसलिए उपचार से कालाणु को अनन्त कह सकते हैं। काल के सबसे सूक्ष्म अंश का नाम समय है और समयों के समूह का नाम आवली, घड़ी आदि है। यह सब व्यवहार काल है, जो मुख्य काल द्रव्य की ही पर्याय रूप है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह एक-एक कालाणु स्थित है, उसे निश्चयकाल द्रव्य कहते हैं। वर्तना उसका कार्य है।

गुण का लक्षण-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः !!४१!!

अर्थ- जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं तथा जिनमें अन्य गुण नहीं रहते, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे जीव का ज्ञान आदि। ज्ञान जीव द्रव्य के आश्रित रहता है, तथा इसमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता, इसलिए ज्ञान को जीव का गुण जानना।

पञ्चम अध्याय

पर्याय का लक्षण-

तदभावा परिणामः !!४२!!

अर्थ- जीव, पुद्गल, धर्म आदि द्रव्य जिस स्वरूप से होते हैं, उसके उसी रूप रहने का नाम तद्भाव है, वही परिणाम है। अर्थात् तद्भाव का नाम ही परिणाम है।

विशेषार्थ- जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, वही परिणाम है। जैसे धर्म द्रव्य का स्वभाव जीव, पुद्गलों की गति में निमित्त होना है, वही तद्भाव है। धर्म द्रव्य का परिणमन सदा उसी रूप में होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी समझ लेना चाहिए।

!!इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पंचमोऽध्यायः!!

------- ...o... -------

णमोकार महामंत्र में

(व्यक्ति विशेष की महिमा नहीं)

–श्रमण मनोज्ञसागर

णमोकार महामंत्र में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु उन सभी महान आत्माओं का स्मरण किया गया है, जिन्होंने निज भगवान आत्मा की आराधना कर पंच परमेष्ठी पद प्राप्त किया है, कर रहे हैं अथवा भविष्य में करेंगे।

व्यक्ति विशेष की महिमा गाने से सम्प्रदाय बनते हैं और गुणों की महिमा गाने से धर्म की वृद्धि होती है।

व्यक्ति विशेष की आराधना करने वाला धर्म सर्वकालिक नहीं हो सकता, न सार्वभौमिक हो सकता है और सार्वजनिक भी नहीं हो सकता।

क्योंकि व्यक्ति विशेष अनादि-अनंत नहीं होते, इससे सर्वकालिक नहीं होते और जाति विशेष से सम्बंधित होने से सार्वजनिक नहीं हो सकते। किंतु पंच परमेष्ठी अनादि से होते आये हैं और अनंतकाल तक होते रहेंगे, अतः सार्वभौमिक हैं और जाति विशेष से सम्बंधित नहीं होने से 'सार्वजनिक' भी हैं।

दूसरी मुख्य बात इस महामंत्र में भिखारीपना नहीं है। कोई याचना नहीं की गई है। पूर्ण निस्वार्थ भाव से पंचपरमेष्ठी की भक्ति की गई है।। तीसरी बात यह नमस्कार महामंत्र अपराजित है, सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में पहला मंगल है। इसलिए जैन दर्शन में व्यक्ति नहीं पंच परमेष्ठी ही मंगल हैं, पंच परमेष्ठी ही सर्वोत्तम हैं और पंच परमेष्ठी ही संसारी प्राणियों के लिए शरणभूत हैं, अन्य कोई नहीं।

{ऐसो पंच णमोक्कारो सव्व पापप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढ़मं हवइ मंगलम्।।}

।।-------------o-------------।।

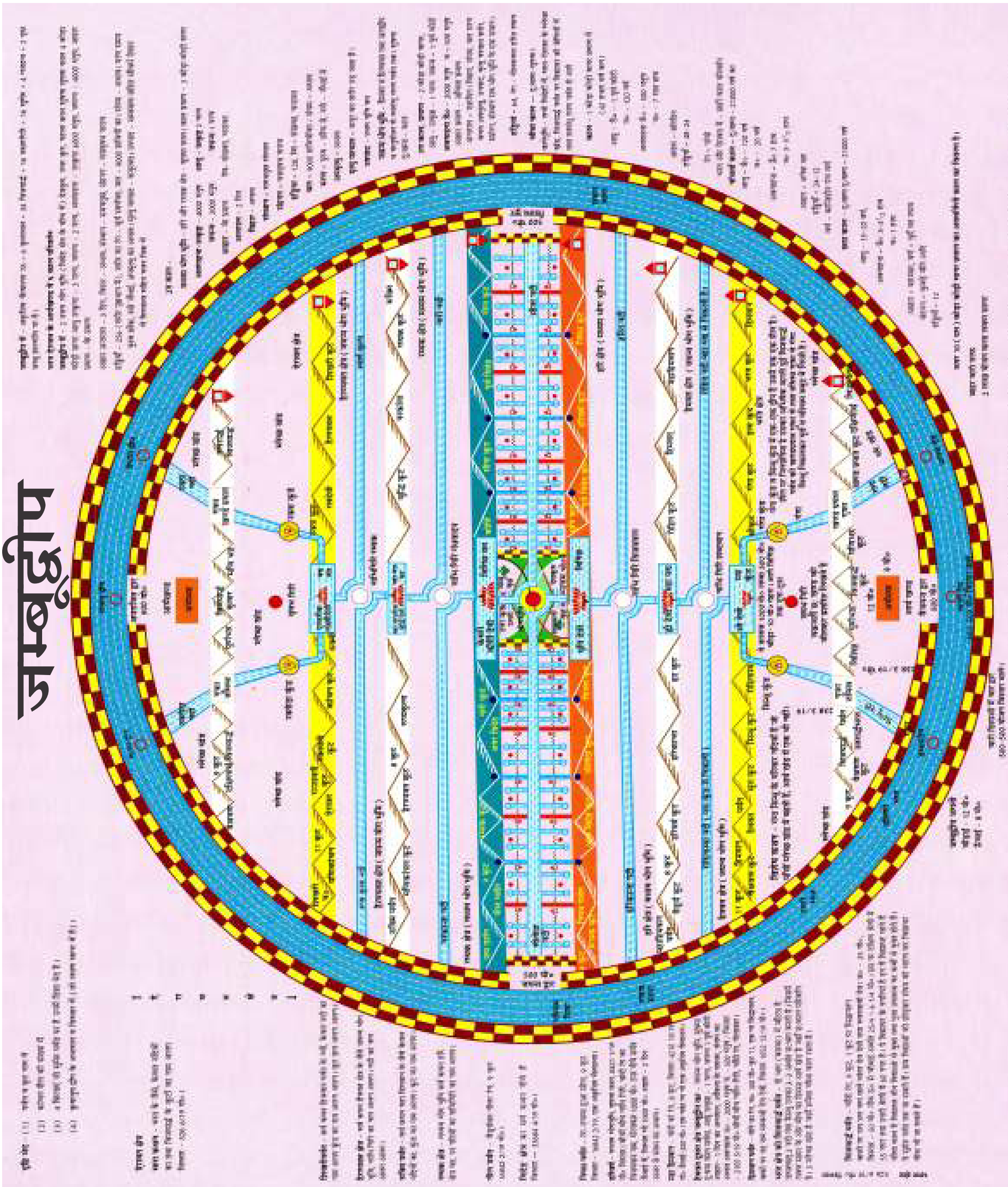
जम्बूद्वीप

अथ षष्ठोऽध्यायः

(आस्रव तत्त्व का वर्णन)

अजीव तत्व का व्याख्यान करके अब आस्रव तत्व का कथन करते हैं-

सर्वप्रथम योग का स्वरूप कहते हैं-

कायवाङ्मनः कर्म योगः !!१!!

अर्थ- काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। अर्थात् मन, वचन और काय के द्वारा आत्म प्रदेशों में जो परिस्पंदन (हलन-चलन) होता है, वह योग है।

विशेषार्थ- योग के तीन भेद हैं- काययोग, वचनयोग, मनोयोग। प्रत्येक योग के होने में दो कारण होते हैं- एक अंतरंग और दूसरा बहिरंग कारण। अल्पज्ञानियों में अंतरंग कारण कर्मों का क्षयोपशम है और केवल ज्ञानियों में अंतरंग कारण कर्मों का क्षय है। तथा बाह्य कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्माण ये नोकर्म वर्गणायें है, जिनसे शरीर, वचन और मन की रचना होती है तथा जिन्हें जीव हर समय ग्रहण करता रहता है।

काययोग- वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होने पर उपरोक्त ७ प्रकार की काय वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा की सहायता से जो हलन-चलन आत्मप्रदेशों में होता है, उसे काय योग कहते हैं।

वचनयोग- वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम होने से जब जीव में वाग्लब्धि प्रकट होती है और वह बोलने के लिए तत्पर होता है,

तब वचन वर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंदन(हलन-चलन) होता है, उसे वचन योग कहते हैं।

मनोयोग- वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा मनोवर्गणा का आलम्बन पाकर चिन्तन के लिये तत्पर हुए आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।

उपरोक्त कर्मों का क्षय होने पर तीनों वर्गणाओं की अपेक्षा से सयोग केवली के आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंदन होता है, वह कर्म क्षय निमित्तक योग है। इस तरह योग तेरहवें गुण स्थान तक ही है। चौदहवें गुण स्थान का नाम अयोग केवली है। अयोग केवली के तीनों प्रकार की कर्म वर्गणाओं का आना रूक जाता है, अतः वहाँ योग का पूर्णतः अभाव है।

आस्रव का स्वरूप-

स आस्रवः !!२!!

अर्थ- वह (उपर्युक्त) तीन प्रकार का योग ही आस्रव है।

विशेषार्थ- जिस प्रकार कुएँ के भीतर पानी आने में झिरें कारण होती हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा में कर्मों के आने में योग कारण है, इसलिए योग ही आस्रव है। आस्रव का अर्थ आगमन है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

आस्रव के भेद-

शुभः पुण्यास्याशुभः पापस्य !!३!!

अर्थ- शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप कर्म का आस्रव होता है।

षष्ठम् अध्याय

विशेषार्थ- योग के द्वारा जो कर्म आता है, वह दो प्रकार का है पुण्य कर्म और पाप कर्म। शुभ योग से पुण्यास्रव होता है और अशुभ योग से पापास्रव होता है। शुभ योग क्या है? व अशुभयोग क्या है?-

शुभ योग- अरहंत आदि पंच परमेष्ठी की भक्ति करना, प्राणियों की रक्षा करना, दूसरों का उपकार करना, हित-मित प्रिय वचन बोलना आदि शुभ योग है।

अशुभ योग- किसी जीव का घात करना, किसी जीव को सताना, चोरी करना, मेथुन सेवन करना तथा सप्त व्यसन आदि अशुभ काययोग है।

झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, कठोर, असभ्य वचन बोलना, चुगली करना आदि अशुभ वचनयोग है।

किसी के मारने, सताने का विचार करना, मन ही मन में किसी से ईर्ष्या भाव रखना इत्यादि दुष्चिन्तन करना अशुभ मनोयोग है।

जिज्ञासा- जो शुभ कर्मों का कारण है, वह शुभ योग है और जो पाप कर्मों के आने में कारण है, वह अशुभ योग है। यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो क्या हानि है?

समाधान- यदि ऐसा लक्षण किया जायेगा तो शुभ योग का अभाव ही हो जायेगा। क्योंकि आगम में लिखा है कि जीवों के आयु कर्म के अलावा शेष सात कर्मों का आस्रव सदैव होता रहता है। अतः सपष्ट है कि शुभ योग से भी ज्ञानावरणादि पाप कर्मों का आस्रव, बंध होता है।

जिज्ञासा- जब शुभ योग से भी घाति कर्मों का बंध होता है, तो सूत्रकार ने ऐसा क्यों कहा कि शुभ योग से पुण्य कर्म का बंध होता है?

समाधान- यह कथन घातिया कर्मों की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु अघातिया कर्मों की अपेक्षा से है। अघातिया कर्म के दो भेद हैं- पुण्य और पाप, सो उनमें से शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है एवं अशुभ योग से पाप कर्म का आस्रव होता है। ध्यान रखिए शुभ योग के होते हुए भी घातिया कर्मों का अस्तित्व रहता है तथा उनका उदय भी होता है और उसी कारण से घातिया कर्मों का बन्ध होता है।

पुण्य- जो आत्मा को पवित्र-पावन करता है, वह पुण्य है।

पाप- जो आत्मा को शुभ में जाने से बचाता है, वह पाप है।

स्वामी अपेक्षा आस्रव के भेद-

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः !!४!!

अर्थ- कषाय सहित (कषायवान) जीवों के साम्परायिक आस्रव होता है और कषायरहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है। (सम्पराय-यानि संसार)

विशेषार्थ- कषाय- जो आत्मा को कसता है, दुःख देता है या पराधीन करता हो, उसे कषाय कहते हैं। स्वामी के भेद से आस्रव में भी भेद हैं। आस्रव के स्वामी दो हैं- एक कषाय जीव, दूसरे कषाय रहित जीव। जैसे- वट वृक्ष, पलाश आदि वृक्षों की गोंद वगैरह चिपकाने में कारण होती है, उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषायें भी कर्मों को आत्मा से चिपटा देती हैं, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं तथा जो आस्रव संसार का कारण होता है, उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

ईर्यापथ आस्रव- जो आस्रव केवल योग से ही होता है, उस आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं अर्थात् स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। क्योंकि कषाय न होने से कर्म जैसे आते हैं, वैसे

ही चले जाते हैं। यह आस्रव ११ वें गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान तक होता है।

सामपरायिक आस्रव के भेद-

इन्द्रिय-कषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्च-पञ्चविंशति संख्याः पूर्वस्य भेदा!!५!!

अर्थ- इन्द्रियाँ पाँच, कषाय चार, अव्रत पाँच, क्रिया पच्चीस, ये सब साम्परायिक आस्रव के भेद हैं। इन ३९ भेदों के द्वारा साम्परायिक कर्मों का आस्रव होता है।

विशेषार्थ- पाँच इन्द्रियाँ पूर्व में बता दी हैं। चार कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। हिंसा, असत्य आदि ५ अव्रत आगे कहेगें। यहाँ २५ क्रियायें बतलाते हैं-

१. **सम्यक्त्व क्रिया-** सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली देव-शास्त्र-गुरु की पूजा-भक्ति, आहार दान आदि करना सम्यक्त्व क्रिया है।
२. **मिथ्यात्व क्रिया-** कुदेवों आदि की पूजा-वंदना आदि करने रूप जिन क्रियाओं से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है, वह मिथ्यात्व क्रिया है।
३. **प्रयोग क्रिया-** शरीरादि से गमन-आगमन रूप प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है।
४. **समादान क्रिया-** संयमी होते हुए असंयम की ओर अभिमुख होना समादान क्रिया है।
५. **ईर्यापथ क्रिया-** जो क्रिया ईर्यापथ आस्रव में कारणभूत है, वह ईर्यापथ क्रिया है।
६. **प्रादोषिकी क्रिया-** क्रोध के आवेश में द्वेष आदि रूप जो क्रिया होती है, वह प्रादोषिकी क्रिया है

७. **कायिकी क्रिया-** मारना, गाली देना आदि दुष्टतापूर्ण उद्यम करना कायिकी क्रिया है।

८. **आधिकारणिकी क्रिया-** हिंसा के उपकरण ग्रहण करना अधिकरण की क्रिया है।

९. **पारितापिकी क्रिया-** जो क्रिया दूसरे प्राणियों को दुःख का कारण हो अथवा दुःख उत्पन्न करे वह पारितापिकी क्रिया है।

१०. **प्राणातिपातिकी क्रिया-** स्व अथवा दूसरे जीवों के आयु, बल, इन्द्रिय श्वासोच्छवास रूप प्राणों का वियोग करना प्राणों का घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है।

११. **दर्शन क्रिया-** प्रमादी पुरूष का रागाविष्ट होकर स्त्रियों आदि के मनोहर रूपादि देखना तथा स्त्रियों द्वारा पुरूषों के प्रति राग सहित देखना दर्शन क्रिया है।

१२. **स्पर्शन क्रिया-** प्रमाद के वश स्त्री अथवा पुरूष के परस्पर स्पर्श करने की अभिलाषा एवं स्पर्श करना स्पर्शन क्रिया है।

१३. **प्रात्ययिकी क्रिया-** विषयों की पूर्ति के लिए नई-नई सामग्री अधिकरणों को जुटाना, उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

१४. **समन्तानुपात क्रिया-** स्त्री-पुरूष अथवा पशुओं के बैठने, सोने आदि के स्थान पर मल-मूत्रादि क्षेपण करना समन्तानुपात क्रिया है।

१५. **अनाभोग क्रिया-** बिना देखी, बिना शोधी भूमि पर शरीर अथवा उपकरण आदि रखना अनाभोग क्रिया है।

१६. **स्वहस्त क्रिया-** दूसरे के द्वारा करने योग्य कार्य को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है।

१७. **निसर्ग क्रिया-** जो प्रवृत्ति पाप बंध का कारण है, उसको भला समझना और उसकी सम्मति देना निसर्ग क्रिया है।

१८. **विदारण क्रिया-** दूसरों के पाप कार्यों को प्रकट करना, यह विदारण क्रिया है।

१९. **आज्ञाव्यापादिकी क्रिया-** चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से शास्त्र में कही गई आवश्यक आदि क्रियाओं के करने में असमर्थ होने पर शास्त्राज्ञा का अन्यथा कथन करना।

२०. **अनाकांक्षा क्रिया-** मूढ़ता अथवा आलस्य के वशीभूत होकर शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानों एवं कर्तव्य के प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है।

२१. **आरंभिक क्रिया-** छेदन-भेदन-हिंसा आदिक क्रियाओं में स्वयं प्रवृत होना, अथवा अन्य को प्रवृत्त देखकर हर्षित होना आरंभादिक क्रिया है।

२२. **पारिग्राहिकी क्रिया-** परिग्रह की रक्षा व संभाल में निरंतर लगे रहना पारिग्राहिकी क्रिया है।

२३. **माया क्रिया-** ज्ञान, दर्शन आदि में कपट रूप प्रवृति करना, जो शास्त्र ज्ञान अपने को है, वह दूसरों को नहीं बताना माया क्रिया है।

२४. **मिथ्यादर्शन क्रिया-** मिथ्यात्व क्रिया की अथवा जो कोई मिथ्यात्व क्रिया में संलग्न है, उस मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा, अनुमोदना आदि करके उसे मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

२५. **अप्रत्याख्यान क्रिया-** चारित्र मोहनीय, संयम घाती कर्मोदय से इन्द्रिय विषयों का त्याग अर्थात् प्रत्याख्यान नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

आस्रव में विशेषता के कारण-

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः !!६!!

अर्थ- तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष से और वीर्य विशेष से आस्रव में विशेषता (हीनाधिकता) होती है।

विशेषार्थ- तीव्रभाव- क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों की तीव्रता होने पर जो तीव्र क्रोधादि भाव होता है, उसे तीव्र भाव कहते हैं।

मन्दभाव- कषायों की मंदता से जो भाव होता है, वह मंद भाव है।

ज्ञातभाव- बुद्धि पूर्वक किए भाव को अर्थात् संकल्प पूर्वक किए हुए भाव को ज्ञात भाव कहते हैं।

अज्ञातभाव- बिना जाने अथवा असावधानी से, प्रमादवश किसी जीव का घात हो जाना अथवा गमनागमन क्रियाओं में प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है।

अधिकरण- आस्रव के आधारभूत द्रव्य को अधिकरण कहते हैं।

वीर्य- द्रव्य की शक्ति विशेष अथवा सामर्थ्य विशेष को वीर्य कहते हैं। तीव्र, मंद आदि भावों के कारण ही कर्म प्रकृतियों के अनुभाग और स्थिति के बंध में अंतर पड़ता है। एकेन्द्रिय जीवों के भी कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति से लेश्या रूप परिणाम होते हैं। अतः परिणामों से मुख्यतः लेश्या ग्रहण करना चाहिए और गौण रूप से मन भी ले सकते हैं।

<u>अधिकरण के भेद-</u>

अधिकरणं जीवाजीवाः !!७!!

अर्थ- आस्रव के आधार जीव और अजीव हैं। यद्यपि जीव और अजीव दो ही हैं फिर भी जिस-जिस पर्याय से युक्त जीव व अजीव ही अधिकरण होते हैं तथा पर्याय बहुत हैं। इसलिए सूत्र में 'जीवाजीवाः' बहुवचन का प्रयोग किया है।

<u>जीवाधिकरण के भेद-</u>

आद्यंसंरम्भसमारम्भारम्भ-योग-कृतकारितानुमत-कषायविशेषै-
स्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः !!८!!

अर्थ- समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ ये- ३, मन-वचन-काय ये योग- ३ कृत-कारित-अनुमोदना ये- ३, क्रोध-मान-माया-लोभ ये- ४ कषाय इन सबको

परस्पर में गुणा करने से ३×३×३×४ = १०८ जीवाधिकरण के भेद होते हैं। ये जीव के साम्परायिक (भाव) आस्रव के भेद हैं।

विशेषार्थ- समरम्भ- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापों को करने का मन में संकल्प (विचार) मात्र करना समरम्भ है।

समारम्भ- हिंसादि पापों की सामग्री जुटाना समारम्भ है।

आरम्भ- हिंसादि पापों को करने का प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

कृत- स्वयं कार्य करना कृत है।

कारित- दूसरों से कराना कारित है।

अनुमोदना- दूसरे के द्वारा किए गए कार्य की सराहना करना, अनुमत या अनुमोदना है।

यहां मूल वस्तु समरंभ-समारंभ-आरम्भ हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के काय-वचन और मन के भेद से तीन प्रकार हैं। फिर इन तीन-तीन प्रकारों में से भी प्रत्येक भेद के कृत-कारित व अनुमोदना की अपेक्षा से पुनः तीन-तीन भेद हैं।

इस प्रकार समरंभ-समारंभ-आरंभ के ९-९ प्रकार हुए। इन नौ-नौ प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार चार कषायों की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है। अतः प्रत्येक के ३६+३६+३६ भेद होने से मिलकर १०८ भेद होते हैं। ये ही जीवाधिकरण के भेद हैं।

उपरिकथित साम्परायिक आस्रव के जो भेद कहे हैं, वे जीव के परिणाम कृत हैं। क्योंकि जीव के कषाय आदि परिणाम के बिना समरंभ आदि नहीं हो

सकते। अतः ये भावास्रव के ही भेद हैं, ऐसा जानना तथा इन्हें भोजन-पान-व्यापार आदि समस्त आरंभादिक क्रियायों में लगाना।

अजीवाधिकरण के भेद-

निवर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा-द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् !!९!!

अर्थ- निवर्तना के- २ भेद, निक्षेप के- ४ भेद, संयोग के- २ भेद और निसर्ग के- ३ भेद। इस तरह अजीवाधिकरण के ११ भेद होते हैं।

विशेषार्थ- निवर्तना- रचना करने को निवर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं- मूलगुण निवर्तना और उत्तर गुण निवर्तना। शरीर, मन तथा श्वासोच्छवास की रचना मूल गुण निर्वतना है तथा काष्ठ, पाषाण, वस्त्रादि के चित्राम बनाना, खिलौने बनाना, लिखना आदि उत्तरगुण निर्वर्तना हैं।

निक्षेप- वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं- अप्रत्यवेक्षिता-निक्षेपाधिकरण, दुःप्रभृष्ट-निक्षेपाधिकरण, सहसा-निक्षेपाधिकरण और अनाभोग-निक्षेपाधिकरण।

(१) बिना देखे हुए किसी वस्तु का रख देना **अप्रत्यवेक्षित-निक्षेप** है।

(२) दुष्टतावश बिना शोधी हुई भूमि पर किसी वस्तु को रखना **दुःप्रभृष्ट-निक्षेप** है।

(३) किसी भय से या अन्य कार्य की शीघ्रता से वस्तु को जमीन पर जल्दी में पटक देना **सहसा-निक्षेप** है।

(४) किसी वस्तु को योग्य स्थान में न रखकर बिना देखे ही चाहे जहाँ रखना **अनाभोग-निक्षेप** है।

षष्ठम् अध्याय

संयोग- अनेक वस्तुओं के मिलाने को संयांग कहते हैं। यह दो प्रकार का है- भक्तपान संयोगाधिकरण एवं उपकरण संयोगाधिकरण ।

(१) किसी अन्न-पान अर्थात् सचित्त और अचित्त खान-पान आदि को मिला देना **भक्तपान संयोग** है।

(२) शीत और उष्ण उपकरणों को अथवा शुद्ध एवं अशुद्ध उपकरणों को मिलाना **उपकरण संयोग** है।

निसर्ग- प्रवृति करने को निसर्ग कहते हैं। यह तीन प्रकार है- काय निसर्गअधिकरण, वाक् निसर्गअधिकरण और मनोनिसर्ग अधिकरण।

(१) **काय निसर्ग-** दुष्टतापूर्ण /स्वेच्छापूर्ण काय की प्रवृति करना अर्थात् किसी जीव को मारना, सताना अथवा निष्कारण कष्ट देना।

(२) **वाक् निसर्ग-** वचनों की स्वेच्छानुसार/ दुष्टतापूर्ण प्रवृति करना अर्थात् बोलने में अभद्र, अपशब्दों आदि का प्रयोग करना।

(३) **मनो निसर्ग-** मन की दुष्टतापूर्ण प्रवृति करना अर्थात् मन में दुष्चिन्तन करते रहना।

इस प्रकार जीव एवं अजीव द्रव्य के आश्रय से ही कर्मास्रव होता है।

<u>ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण-</u>

तत्प्रदोष- निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता-ज्ञानदर्शनावरणयोः !!१०!!

अर्थ- प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात के करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ- (१) **प्रदोष-** दूसरों के गुणों को देखकर भीतर-भीतर जलना। जैसे कोई पुरूष तत्वज्ञान का समीचीन, उपदेश करता हो तो उससे मुख से कुछ न कहकर हृदय में ईर्ष्या आदि रखना प्रदोष है।

(२) **निह्नव-** शास्त्रज्ञान के होने पर भी किसी के पूछने पर कह देना, मैं नहीं जानता या अन्य किसी बहाने से ज्ञान छिपाना निह्नव है।

(३) **मात्सर्य-** अपने को शास्त्र ज्ञान होते हुए भी दूसरों को इसलिए नहीं बताना कि वह हमारे बराबर हो जायेगा, मात्सर्य है।

(४) **अन्तराय-** किसी के ज्ञानाभ्यास में अन्तराय डालना, कलुषता से शास्त्र छुपा देना, अंधकार कर देना आदि अन्तराय है।

(५) **आसादन-** दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान को रोक देना, सम्यग्ज्ञान का समादर न करना आसादना है।

(६) **उपघात-** किसी के प्रशस्त व समीचान ज्ञान में भी दोष लगाना, उसे झूठा कह देना उपघात है। इन सभी उपर्युक्त कारणों से ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है। इन कारणों से बुद्धिपूर्वक बचना चाहिए, क्योंकि ये आस्रव केवलज्ञान (क्षायिक ज्ञान) व क्षायिक दर्शन होने में बाधक हैं। इन दोषों को दूर किए बिना अनंतज्ञान-अनंतदर्शन नहीं हो सकते।

असातावेदनीय कर्मास्रव के कारण-

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-बध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य !!११!!

अर्थ- दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, बध और परिदेवन इन्हें स्वयं करने से, दूसरों में करने से या उभय अर्थात् दोनों में करने से असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

षष्ठम् अध्याय

(१) **दुःख-** पीड़ा रूप आत्म परिणाम को दुःख कहते हैं।

(२) **शोक-** अपने उपकारी के वियोग होने पर मन में जो विकलता होती है, वह शोक है।

(३) **ताप-** लोक में अपनी निंदा आदि के होने पर आत्मा में जो संताप होता है, वह ताप है।

(४) **आक्रंदन-** पश्चाताप से आँसू बहाते हुए रोना, प्रचुर विलाप करना आक्रंदन है।

(५) **बध-** किसी के प्राणों का घात करना बध है।

(६) **परिदेवन-** अपने किसी प्रिय स्वजन के वियोग हो जाने पर अथवा अभिलषित विषय के प्रति उसके गुणों का स्मरण करते हुए अति संक्लेश परिणामों से ऐसा रूदन करना, जिससे दूसरे का हृदय भी द्रवित हो जावे परिदेवन है।

इस प्रकार के परिणाम जो स्वयं करता है अथवा दूसरों को दुःखी करता है, रूलाता है अथवा स्वयं भी दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है उसे असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

<u>जिज्ञासा</u>- यदि स्वयं को दुःखी करने और दूसरों को दुःख में डालने से असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है तो अर्हत्(जैन) मत में साधुओं के द्वारा केशों को उखाड़ना, उपवास, आतापन योग आदि दुःख के कारणों को स्वयं भी क्यों किया जाता है? और दूसरों को भी ऐसा करने का क्यों उपदेश दिया जाता है?

समाधान- अन्तरंग में क्रोध मान, माया या लोभ इन कषायों के आवेश में आकर जो दुःख स्वयं उठाया जाता है अथवा दूसरों को दिया जाता है, उससे असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है, किन्तु अन्तरंग में जिनके कषायों का अभाव है, उन्हें असाता वेदनीय का आस्रव नहीं होता।

जैसे एक करूणाशील वैद्य, डॉक्टर किसी संयत के फोड़े का शस्त्र आदि से चीर-फाड़ करता है, मुनिराज आदि को कष्ट भी होता है, फिर भी डॉक्टर को पाप बंध नहीं होता। क्योंकि उसका प्रयत्न तो रोगी के कष्ट को मिटाना है। इसी प्रकार तीर्थंकर आदि संसार के दुःखों से त्रस्त स्वयं एवं जगत के प्राणियों के कल्याण की भावना से उन्हें मुक्ति का मार्ग बताते हैं। इसलिए उनको किंचित भी असाता का आस्रव नहीं होता।

सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण-

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादि-योगःक्षान्तिःशौचमिति सद्वेद्यस्य !!१२!!

अर्थ- भूत(प्राणी)-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दानदेना, सरागसंयम, योग, क्षांति(क्षमा), शौच (लोभ रहित प्रवृति) तथा संयमासंयम एवं अकाम निर्जरा, अर्हद भक्ति, वैयावृति आदि सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

(१) **भूत- व्रती-अनुकम्पा,** भूत अर्थात् संसार के सभी प्राणियों पर दया करना तथा व्रती यानि अणुव्रती व महाव्रत धारियों पर प्रधानता से दया करना भूत-व्रती अनुकम्पा है।

(२) **दान-** निज एवं पर के उपकार की भावना से वस्तु का दान अर्थात् आहारदान, अभयदान(वसतिका दान), शास्त्र(ज्ञान) दान एवं औषधिदान ये चार प्रकार का दान देने को दान कहते हैं।

(३) **सराग संयम-** पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं। राग सहित संयम का पालना सराग संयम है। यह संयम पाँचवें, छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है। आदि शब्द से संयमासंयम (एक देश संयम-मात्र ५ वें गुण स्थानवर्ती), अकाम निर्जरा (इच्छा न होते हुए भी परवश होकर जो कष्ट उठाना पड़े, उसे शान्ति से सहन करना) तथा बालतप (आत्म ज्ञान से रहित तपस्या) भी ग्रहण करना।

(४) **योग-** इन सभी को मनोयोग पूर्वक भली प्रकार से धारण करना योग अर्थात् सम्यक् प्रणिधान (चिंतन) है।

(५) **क्षान्ति-** क्रोध, मान, माया कषाय की निवृति (अभाव) क्षान्ति (क्षमा) है।

(६) **शौच-** लोभ (परिणामों) के सभी प्रकारों का त्याग करना।

उपरोक्त प्रकार की क्रियायें या परिणाम करना साता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण जानने चाहिए।

दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण-

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य !!१३!!

अर्थ- केवली, श्रुत(शास्त्र), संघ (चर्तुविध मुनिसंघ), धर्म और देव को झूठा दोष लगाने से दर्शनमोह कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ- अवर्णवाद- जिसमें जो दोष नहीं होता, उसे वह दोष लगाना अवर्णवाद कहलाता है।

(१) **केवली अवर्णवाद-** १८ दोषों से रहित केवली कवलाहार (ग्रासाहार) से जीते हैं, उनके रोगादि होता है, भूख-प्यास की बाधा सताती है, ऐसे झूठे दोष लगाना केवली-अवर्णवाद है।

(२) श्रुत अवर्णवाद- जिनेन्द्र कथित शास्त्रों में मांस भक्षण या मांस, रक्त आदि के दान करने का विधान है, इत्यादि रूप झूठा दोष लागाना श्रुत अवर्णवाद है।

(३) संघ अवर्णवाद- जैन साधु शूद्र हैं, निर्लज्ज हैं, स्नान नहीं करते इत्यादि दोष लगाना, रत्नत्रय के धारी ऐसे महान जैन श्रमण एवं उनके समुदाय रूप चतुर्विध संघ का अवर्णवाद है।

(४) धर्म अवर्णवाद- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित अहिंसामयी जैन धर्म को गुणों से रहित कहना, अन्य-अन्य तरह हो उसकी निंदा करना, जिन धर्म को मानने वाले मरकर असुर होवेंगे इत्यादि झूठे-२ दोष लगाना धर्म का अवर्णवाद है।

(५) देव अवर्णवाद- भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी एवं कल्पवासी ये चतुर्निकाय के जो देव हैं, वे मदिरा प्रेमी, मांस भक्षी, पर स्त्रीगामी होते हैं, बलि देने से प्रसन्न होते हैं, इत्यादि झूठे दोष लगाना देवों का अवर्णवाद है। देव लोग मानसिक आहार करते हैं, अन्य कोई आहार नहीं।

इन महानगुण वालों में न होते हुए भी झूठे दोषारोपण करना अवर्णवाद है। इनमें दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। यह असत्य-दोषारोपण मिथ्यादर्शन के उदय से होता है तथा मिथ्यादृष्टि के ही दर्शन मोहकर्म का आस्रव, बंध होता है।

चारित्र मोहकर्म के आस्रव के कारण-

कषायोदया तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य !!१४!!

अर्थ- कषाय के उदय से तीव्र, अति उत्कट जो आत्म परिणाम होते हैं, उन कालुष्य परिणामों से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

षष्ठम् अध्याय

विशेषार्थ- स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों व्रतियों के चारित्र में दूषण लगाना आदि कषाय वेदनीय आस्रव के कारण हैं।

(१) **हास्य वेदनीय-** समीचीन धर्म की हंसी करना, दीन-दुखियों को देखकर उन पर हँसना, काम के उद्रेक से मिश्रित उपहास, अधिक बोलना, अधिक हंसी मजाक करने का स्वभाव आदि क्रियाओं से हास्य वेदनीय कषाय का आस्रव होता है।

(२) **रति वेदनीय-** कौतुहल पूर्ण विचित्र क्रीड़ाओं में तत्पर रहना, व्रत-शील धारण में रूचि नहीं होना, रति वेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

(३) **अरति वेदनीय-** दूसरों के, धार्मिकजनों के परस्पर होने वाले प्रेम का नाश करना, उनमें द्वेष भाव को उत्पन्न कराना तथा पापीजनों की संगति करना आदि अरति वेदनीय आस्रव के कारण हैं।

(४) **शोक वेदनीय-** स्व में शोक करना तथा दूसरों को दुःख(शोक) से सन्तप्त करना एवं दुःखी करके आनंदित होना शोकवेदनीय कषाय के आस्रव के कारण हैं।

(५) **भय कषाय वेदनीय-** स्व में निरंतर भयभीत रहना भययुक्त परिणामों से क्रियायें करना तथा दूसरों को डराते-धमकाते रहना आदि परिणामों से भय कषाय वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

(६) **जुगुप्सा कषाय वेदनीय-** सुखकर अर्थात् कुशल क्रियाओं और सुखकर धर्माचरण से घृणा करना तथा दूसरों का अपवाद करने में रूचि रखना आदि जुगुप्सा रूप परिणामों से जुगुप्सा वेदनीय कषाय का आस्रव होता है।

(७) **स्त्रीवेद कषाय-** असत्य बोलने का स्वभाव होना, अतिसंधान-क्षिद्रान्वेषी स्वभाव का होना और अत्यन्त तीव्र राग भाव आदि परिणामों व क्रियाओं से स्त्रीवेद कषाय का आस्रव होता है।

(८) **पुरूषवेद कषाय-** क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या भाव नहीं रखना, अपनी स्त्री में संतोष रखना आदि रूप परिणाम पुरूष वेद के आस्रव के कारण हैं।

(९) **नपुंसक वेदनीय आस्रव-** प्रचुर मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रियों का बिनाश करना तथा पराई स्त्री से भोग करना, बलात्कार करना आदि परिणामों एवं क्रियाओं से नपुंसक वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

नरकायु के आस्रव के कारण

वह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः !!१५!!

अर्थ- बहुलता से आरंभ और बहुत परिग्रह के भाव नरकायु के बंध के कारण हैं।

विशेषार्थ- प्राणियों को कष्ट पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना **आरंभ** है। यह वस्तु मेरी है, ऐसा भाव, साथ ही परिग्रह के संग्रह का भाव **वह्वारम्भ परिग्रहत्व** है।

असत्य बोलना, दूसरे की वस्तु- धन आदि का अपहरण करना, विषयों में अति आसक्ति होना, कृष्ण लेश्याजन्य रौद्र परिणाम, हिंसादि क्रूर कार्यों में निरंतर प्रवृत्ति तथा बालक, वृद्ध, स्त्री आदि के प्रति हिंसा रूप अशुभ तीव्र परिणामों से भी नरकायु का आस्रव होता है।

तिर्यंच आयु के आस्रव के कारण-

माया तैर्यग्योनस्य !!१६!!

अर्थ- मायाचार (छल-कपट) के परिणाम तिर्यंच आयु के आस्रव का कारण है।

षष्ठम् अध्याय

विशेषार्थ- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में कुटिल परिणामों का होना माया निकृति कहलाती है। धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना, शील रहित जीवन बिताना, अति संधानप्रियता, मरण के समय नील अथवा कापोत लेश्या जनित आर्तध्यान का होना आदि परिणाम तिर्यंच आयु आस्रव के कारण है।

"आत्मनः कुटिल भाव माया-निकृतिः"- आत्मा का कुटिल भाव माया है। इसका दूसरा नाम निकृति या वञ्चना है। -स.सि. ६/१६/३३४/२

"राग के उदय से परस्त्री आदि की वाञ्छा रूप परिणाम तथा द्वेष से अन्य जीवों को मारने अथवा बांधने अथवा छेदने रूप जो मेरा दुर्ध्यान है, बुरा परिणाम है, उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर जो लोक को प्रसन्न करने रूप कार्य करता है, वह मायाशल्य है।" - (द्र.सं.टी. ४२/१८३/१०)

माया के ५ प्रकार हैं- (१) निकृति (२) उपधि (३) सातिप्रयोग (४) प्रणिधि और (५) प्रति कुंचन।

(१) **निकृतिमाया-** धन के विषय में अथवा किसी कार्य की सिद्धि के निमित्त से किसी व्यक्ति को फँसाने का जो चातुर्य है, उसे निकृति कहते हैं।

(२) **उपधिमाया-** अच्छे परिणामों को ढ़ककर अर्थात् अच्छे परिणामों को न करके धर्म के निमित्त से भी चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति करना उपधिसंज्ञक माया है।

(३) **सातिप्रयोग-** धन या किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए असत्य बोलना अथवा किसी की धरोहर का कुछ भाग हरण कर लेना सातिप्रयोग माया है।

(४) **<u>प्रणिधि माया-</u>** हीनाधिक कीमत की सदृश (एक जैसी लगने वाली) वस्तुएँ आपस में मिलाकर बेचना, तौलने व माप के सेर, पसेरी(वाँट) तराजू आदि कम याज्यादा रखकर उनसे लेन-देन करना अथवा सच्चे-झूठे पदार्थ आपस में मिलाकर वेचना प्रणिधिमाया है।

(५) **<u>प्रति कुंचन माया-</u>** दोषों की आलोचना करते समय (कुछ) दोष छिपा लेना प्रतिकुंचन माया है। - भग. आरा.वि. २५/६०/३

किन दुष्ट भावों से कुत्ता-बिल्ली, शूकर आदि तिर्यंच पर्याय में जन्म होता है-

मायाचार करने वाला कुत्ता हाता है, महामायाचारी खरगोश, क्रोधी बाघ, महाक्रोधी सिंह होता है। मानी व्यक्ति मछली, महामानी सर्प होता है। रौद्रध्यानी भैरूण्ड(पक्षी), महारौद्र परिणामी ऊँट, गुणीं की निंदा करने वाला शूकर, कुमार्गी मुर्गी-मुर्गा और सद्धर्म विद्वैषी हिरण होता है। जाति का मद करने वाला बिलाव, विद्या मद वाले घुग्घू, तपमद वाले कुत्ता, ऐश्वर्य के मद वाले मगर, रूप के मद वाले गधा, ऋद्धि के मद वाले घोड़ा, कुत्ता या जंगली कुत्ता होते हैं। -"धर्मा. उप. कथा"

<u>मनुष्यायु आस्रव के कारण-</u>

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य !!१७!!

अर्थ- अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह के भाव से मनुष्य आयु का आस्रव होता है।

विशेषार्थ- नरकायु के कारणों से विपरीत कारण मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह यह तो संक्षेप से कथन है। स्वभाव

का विनम्र होना, भद्र परिणामों की प्रकृति होना, व्यवहार में सरलता का होना, कषायों का अल्प होना, मरण समय संक्लेश परिणाम नहीं होना आदि सब कारण व परिणाम मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं।

मनुष्य आयु के आस्रव के अन्य कारण-

स्वभाव मार्दवं च !!१८!!

अर्थ- स्वभाव में मृदुता- परिणामों का कोमल होना भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

जिज्ञासा- इस सूत्र को अलग से क्यों बनाया गया है?

समाधान- स्वभाव की मृदुता देवायु के आस्रव का भी कारण है। इसलिए इस बात को बतलाने के लिए इस सूत्र को अलग से कहा गया है।

चारों आयु के आस्रव का कारण-

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम् !!१६!!

अर्थ- शील रहित एवं व्रत रहित होना सब आयुओं के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ- सात शीलों और अहिंसा आदि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं के आस्रव में कारण है। किन्तु जब कषाय परिणामों में क्रमशः अत्यन्त तीव्रता और अत्यंत मंदता होती है, तभी वे चारों आयुओं के आस्रव का कारण होते हैं।

'च' शब्द से थोड़ा आरम्भ और अल्प परिग्रह का होना लेना चाहिए। तथा यहाँ भोग भूमियाँ प्राणियों की अपेक्षा लगाना चाहिए, क्योंकि शील एवं व्रतों से

रहितपना होने पर भी मंद कषाय से देवायु का ही आस्रव उनके होता है। अर्थात् भोग भूमियाँ मनुष्य एवं तिर्यंचों के अन्य किसी आयु का बंध नहीं होता।

देवायु के आस्रव के कारण-

सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य !!२०!!

अर्थ- सरागसंयम, संयमअसंयम, अकामनिर्जरा एवं बाल तप, ये देवायु के आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- राग सहित संयम का पालन **सराग संयम** है तथा त्रस हिंसा का त्याग करने एवं स्थावर हिंसा के त्याग न करने को **संयमासंयम** कहते हैं, यह कथन पूर्व सूत्र १२ में क्रिया जा चुका है। पराधीनतावश बंधन आदि में रहने पर इच्छा न होते हुए भी भूख-प्यास आदि कष्ट को शांति पूर्वक सहन करना **अकाम निर्जरा** है। और आत्मज्ञान से रहित तप **बाल तप** कहलाता है। इनसे देवायु का आस्रव होता है।

देवायु के आस्रव का अन्य कारण-

सम्यक्त्वं च !!२१!!

अर्थ- और सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है।

विशेषार्थ- यदि सम्यक्दर्शन होने के पूर्व जीव ने अन्य किसी गति का बंध नहीं किया है, तो सम्यकत्व सहित जीव मरण करके नियम से वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। यदि पूर्व मं नरकायु का बंध कर लिया है, तो सम्यग्दर्शन सहित वह जीव प्रथम नरक में जायेगा। यदि किसी मनुष्य ने सम्यग्दर्शन

उत्पति के पूर्व मनुष्य या तिर्यंचायु का बंध कर लिया है, तो सम्यग्दर्शन सहित मरकर भोग भूमि में मनुष्य या तिर्यंच उत्पन्न होगा।

सरागसंयम एवं संयमासंयम भी सौधर्म आदि देव आयु के आस्रव के कारण है, क्योंकि ये सम्यग्दर्शन के होने पर ही होते हैं।

अशुभनाम कर्म के आस्रव के कारण-

योगवक्रता-विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः !!२२!!

अर्थ- योगों की वक्रता और विसंवाद अर्थात् अन्यथा प्रवृति करना अशुभ नाम कर्म आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- मन-वचन-काय की कुटिलता-दुष्प्रवृति करने से तथा विसंवाद यानि किसी को धर्म से छुड़ाकर अधर्म के मार्ग पर लगाने अथवा उपदेश या प्रेरणा देने से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

जिज्ञासा- योग वक्रता और अन्यथा प्रवृति एक ही बात तो है अर्थात् योगों की कुटिलता ही अन्यथा प्रवृति है?

समाधान- हाँ, किन्तु अर्थ कि दृष्टि से थोड़ा सा फर्क है- स्वगत क्रिया योग-वक्रता है और परगत क्रिया विसंवादन। जैसे कोई मनुष्य किसी को धोखा देता है, तो यह तो उसकी योग वक्रता है और दूसरे को धोखा दिया यह परगत विसंवादन है अर्थात् एक कारण है और दूसरा कार्य ऐसा समझना।

शुभनाम कर्म आस्रव के कारण-

तद्विपरीतं शुभस्य !!२३!!

अर्थ- योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव शुभ नाम आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- मन-वचन-काय की सरल समीचीन प्रवृति करने से एवं किसी को धोखा आदि नहीं देने से शुभ नामकर्म का आस्रव होता है। पूर्व सूत्र में 'च' शब्द से जिनका समुच्चय किया है, उनके विपरीत शुभ आस्रवों को यहाँ ग्रहण करना। जैसे- धर्म क्षेत्रों एवं धर्मात्मा पुरूषों का दर्शन करना, उनका यथायोग्य सम्मान करना, उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार करना) संसार भीरू होना तथा प्रमाद का त्याग करना आदि ये सब शुभ नाम कर्म आस्रव के कारण जानने चाहिए।

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता-शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ-शक्तितस्त्याग- तपसी- साधुसमाधि-वैयावृत्यकरण- मर्हदाचार्य- बहुश्रुत- प्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणि- मार्ग प्रभावना- प्रवचनवत्सलत्व-मितितीर्थंकरत्वस्य !!२४!!

अर्थ- दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रत अनतिचार पालन, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्ति अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप, साधु समाधि, वैयावृति करना, अरहंत भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत (उपाध्याय) भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यक क्रियायें करना, जिन धर्म की प्रभावना करना, प्रवचन वत्सलत्व ये सोलह भावनायें तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

विशेषार्थ- (१) **दर्शन विशुद्धि-** जिनेन्द्रदेव अर्हन्त परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्ग में रूचि रखना दर्शन विशुद्धि है। उसके निःशंकित, निकांक्षित आदि आठ अंग है। इनके निरतिचार पालन करने पर ही दर्शन विशुद्धि होती है।

(२) **विनय सम्पन्नता-** मोक्ष के साधन भूत सम्यग्ज्ञान आदि का और सम्यग्ज्ञान के साधन गुरु आदि का समादर करना विनय सम्पन्नता है।

(३) **शील व्रतानतिचार-** अहिंसा आदि पाँच व्रतों का और व्रतों के पालन के लिए बताए गए (तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत रूप) सात शीलों का अतिचार रहित पालन करना शील व्रतानतिचार है।

(४) **अभीक्षण ज्ञानोपयोग-** निरंतर सम्यग्ज्ञान के पठन पाठन में लगे रहना, ज्ञानाभ्यास में लगे रहना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है।

(५) **संवेग भाव-** चतुर्गति रूप संसार परिभ्रमण के दुःखों से सदैव भयभीत रहना संवेग भाव है।

(६) **शक्तितस्त्याग-** यथाशक्ति दान देना। वह तीन प्रकार का है- आहार दान, अभयदान और ज्ञान दान। इनको शक्ति अनुसार विधिपूर्वक पात्र को देना यथाशक्ति दान है।

(७) **यथाशक्ति तप-** अपनी शक्ति को न छुपाकर मोक्षमार्ग के साधन में शरीर को कष्ट देना, उपवास आदि करना, तपश्चरण करना यथा शक्ति तप है।

(८) **साधु समाधि-** तपश्चरण में रत दिगम्बर मुनिराज के तप में किसी कारण से कोई विघ्न उपस्थित हो जावे, उसे शांत करके, दूर करके उनके संयम की रक्षा करना/ सल्लेखना- समाधि के समय मुनिराज के अनुकूल वातावरण आदि में सहयोग करना साधु समाधि है।

(९) **वैय्यावृत्यकरण-** गुणी पुरूष, साधुजनों पर कोई विपति आ जाने पर तथा रोगी, वृद्ध एवं अशक्त साधुओं की निदोर्ष विधि से यथायोग्य विपत्ति दूर करना सेवा सुश्रषा करना वैयावृत्यकरण है।

(१०) **अर्हद्भक्ति-** अरिहंत भगवान की भक्ति तथा उनके गुणों का कीर्तन भावों की विशुद्धि के साथ करना अर्हद् भक्ति है।

(११) आचार्य भक्ति- आचार्य परमेष्ठी की भक्ति करना आचार्य भक्ति है।

(१२) बहुश्रुत भक्ति- उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

(१३) प्रवचन भक्ति- जिनवाणी की भक्ति करना अर्थात् आगम के विषय में शंकादि दोषों से रहित विशुद्ध भाव पूर्वक अनुराग करना प्रवचन भक्ति है।

(१४) आवश्यक परिहाणि- सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान एवं कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक कार्यों आदि में कभी हानि (त्रुटि) नहीं आने देना। प्रतिदिन नियत समय पर उन्हें हर हालत में बराबर करना आवश्यक परिहाणि भावना है।

(१५) मार्ग प्रभावना- सम्यग्ज्ञान, निश्छल तप, अभय-दानादि एवं जिन पूजा आदि के द्वारा जिन धर्म का उद्योतन (प्रकाशन) करना जैन धर्म की महत्ता जगत में फैलाना मार्ग प्रभावना है।

(१६) प्रवचन वत्सलत्व- जैसे गाय अपने बछड़े पर प्रत्याशा से रहित सहज स्नेह रखती है, वैसे ही अपने साधर्मीजनों के प्रति स्नेह रखना, उनको देखकर प्रफुल्लित होना प्रवचन वत्सलत्व है।

ये सोलह भावनाएँ इन सबका अथवा इनमें से कुछ का चिंतन व पालन करने से तीर्थंकर नाम कर्म का आस्रव होता है।किन्तु उपरोक्त सोलह भावना में प्रथम दर्शन विशुद्धि भावना का होना आवश्यक है। दर्शन विशुद्धि भावना के अभाव में अन्य भावनायें निष्फल हैं।

भावना दो प्रकार की होती हैं- (१) कुत्सित भावना (२) उत्तम भावना (संक्लेश रहित भावना)

-(१८१-१८६/भगवती आराधना)

षष्ठम् अध्याय

(१) <u>कुत्सित भावना(संक्लेश भावना)</u>- जिस भावना से आत्मा का पतन होता है, दुर्गति में जाना पड़ता है, वह कुत्सित भावना है। यह ५ प्रकार की है-

(क) **कन्दर्पी भावना-** जिनके निरंतर कामोद्रेक की भावना, कौत्कुच्य भावना बनी रहती है तथा ऐसे भाव बने रहते हैं जिससे सदा हास्य कथा करना, दूसरों को विस्मय में डालना, यह सब कंदर्पी भावना है।

(ख) **किल्विषी भावना-** जो ज्ञान के विषय में, केवलियों एवं धर्म के बिषय में आचार्यों व साधुओं के विषय में मायाचार करता है, झूठा दोष लगाता है, वह किल्विष भावना को करता है।

(ग) **अभियोग्य भावना-** जो द्रव्य के लाभ के लिए, मिष्ठरस, भोजनादि और सुख के लिए मंत्राभियोग करता है, बच्चों की रोगादि से रक्षा के लिए भभूत आदि देता है, वह अभियोग्य भावना को करता है।

(घ) **आसुरी भावना-** उत्कट, अनुबद्ध- क्रोध व कलह से जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदि से आजीविका करता है, निर्दय है तथा दूसरे को कष्ट देकर पश्चाताप भी नहीं करता, वह आसुरी भावना से संयुक्त है।

(ङ) **सम्मोही भावना-** जो मिथ्यात्व का व असंयम का उपदेशक है, जिन मार्ग में दूषण लगाने वाला है, रत्नत्रय का विरोधी है, ज्ञान से ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्र से क्या लाभ? ऐसा कहता है तथा कुटुम्बादि में अत्यधिक रागी है, वह सम्मोह भावना करता है, ये पाँच भावनाएँ कुत्सित हैं, संक्लेशता से सहित हैं और दुर्गति में ले जाने वाली हैं। इनका त्याग करना।

(२) <u>उत्तम भावनायें पाँच प्रकार की हैं</u>- तपो भावना, श्रुत भावना, सत्व भावना, एकत्व भावना और धृतबल भावना।

(क) तपो भावना- जिसके चिंतन से इन्द्रियों का मद नष्ट हो जाता है, रत्नत्रय में स्थिरता आती है अर्थात् निरंतर तप का अभ्यास करना तप भावना है।

(ख) श्रुत भावना- जिनेन्द्र उपदिष्ट तत्त्वों का निरंतर चिंतन करना अर्थात् ज्ञानाभ्यास की भावना श्रुत भावना है। श्रुत ज्ञान की भावना से रत्नत्रय में विशुद्धता, सम्यक् तप व संयम आदि गुणों का विकास होता है तथा अंत में स्वसंवेदन ज्ञान के बल पर शुक्ल ध्यान के द्वारा केवल ज्ञान को प्राप्त करा देता है, ऐसे आगम कथित वचनों के चिंतन करने को श्रुत भावना कहते हैं।

(ग) सत्व भावना- उपसर्गों अथवा किसी के द्वारा पीड़ा देने या स्वयं होने पर भी दुःख सहन करके, निडर होकर संयम में दृढ़ वने रहना, सत्व भावना हैं।

(घ) एकत्व भावना- काम भोगों में, संघ अर्थात् शिष्य आदि में, परिवारजनों में और शरीर आदि में आसक्ति नहीं करना। वैराग्य भावना के द्वारा उत्कृष्ट चारित्र को अपनाना, पालना एकत्व भावना है।

(ङ़) धृतिबल भावना- धृति का अर्थ है धैर्य अर्थात् धैर्य का बल दुःख के आने पर कातर (दीन-दुःखी जैसा) नहीं होना, शूर-वीर योद्धा की तरह युद्ध भूमि में अर्थात् समाधि-साधना में दृढ़ता पूर्वक उतरना। यह धृति बल भावना है। पाँच प्रकार की कुत्सित भावनाओं को दूर करने के लिए इन तप आदि भावनाओं का मुनिराज व सभी संयमीजन निरंतर चिंतन करते हैं।

अनित्य, अशरण आदि १२ भावनायें भी वैराग्य के कारण हैं। अहिंसादि ५ व्रतों का निरतिचार पालन करने के लिए एक-एक व्रत की ५-५ भावनायें कहीं हैं। किन्तु इन सब से विलक्षण १६ कारण भावनाएँ हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि ही इनका पात्र है। ऊपर कथित अन्य भावना तो मिथ्यादृष्टि के भी हो सकती है, परन्तु षोड़शकारण भावनाएँ सम्यग्दृष्टि के ही होती हैं। वह भी अतिचार रहित सम्यग्दृष्टि के।

षष्ठम् अध्याय

नाम कर्म के आस्रवों का कथन करने के पश्चात् अब गोत्र कर्म के आस्रवों का कथन करते हैं।

नीच गोत्र के आस्रव के कारण-

परात्म-निंदा-प्रशंसेसदसद्‌गुणोच्छादनोदभावने च नीचैर्गोत्रस्य ।।२५।।

अर्थ- पर निंदा, आत्म प्रशंसा, सदगुणों का उच्छादन और असद्‌गुणों की उदभावना ये नीच गोत्र बंध के कारण हैं।

विशंषार्थ- दूसरे की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरे के सद्‌गुणों का आच्छादन करना-छुपाना एवं स्वकीय असद्‌गुणों (नहीं होते हुए भी) का उद्‌भावन (प्रकट) करने से नीच गोत्र का आस्रव होता है। और नीच गोत्र का बंध मिथ्यादृष्टि एवं सासादन गुण स्थान में होता है। अतः स्वयं के भावों का निरंतर निरीक्षण करते हुए पर निंदा आदि से अर्थात् मिथ्यात्व से दूर रहना चाहिए।

उच्चगोत्र कर्मास्रव के कारण-

तद्‌विपर्ययो-नीचैवृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।।२६।।

अर्थ- नीच गोत्र के आस्रव से विपरीत अर्थात् पर की प्रशंसा, आत्मनिंदा, सदगुणों का उद्‌भावन, असद गुणों का आच्छादन, नम्रवृत्ति और अनुत्सेक अर्थात् मद-अहंकार से रहित होना उच्च गोत्र के आस्रव हैं।

विशेषार्थ- दूसरों की प्रशंसा करना, अपनी निंदा- गर्हा करना, दूसरे गुणवान पुरूषों के (अच्छे) गुणों को प्रकट करना और असमीचीन गुणों को ढांकना, किन्तु अपने समीचीन गुणों को भी प्रकट नहीं करना, गुणीजनों के सामने नम्रता से रहना तथा उत्कृष्ट तपस्वी अथवा ज्ञानादि की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद(घमंड) नहीं करना। ये उच्च गोत्र के आस्रव के कारण जानने चाहिए।

षष्ठम् अध्याय

<u>अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण-</u>

विघ्नकरणमन्तरायस्य ।।२७।।

अर्थ- दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य(शक्ति-सामर्थ्य) में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। ''दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणि च।'' इस सूत्र की व्याख्या करते समय दान आदि का व्याख्यान कर आए हैं। उनका नाश करना 'विघ्न' है और इन में से किसी भी कार्य में विघ्न उत्पन्न करना ''अंतराय'' कर्म के आस्रव का कारण है।

जिज्ञासा- आगम में कहा है कि जीव के आयु कर्म के अलावा शेष सात कर्मों का आस्रव सदैव होता रहता है, तब प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण आदि कर्म का ही आस्रव कैसे संभव है?

समाधान- यद्यपि प्रदोष आदि से ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों का प्रदेश बंध होता है। अर्थात् प्रदोष आदि से एक समय में जिस समय-प्रबद्ध कर्म का आस्रव होता है, उसके परमाणु आयु के अतिरिक्त शेष सातों कर्मों में बट जाते हैं। तथापि यह कथन अनुभाग की अपेक्षा से है, किन्तु स्थिति व अनुभाग बंध समान नहीं है। अर्थात् प्रदोष आदि करने से ज्ञानावरण कर्म की फल दान शक्ति अधिक पड़ती है तथा दुःख देने से असाता वेदनीय कर्म की फलदान शक्ति अधिक पड़ती है। वैसे बंध सातों ही कर्मों का होता है।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमें मोक्ष शास्त्रे षष्ठोध्यायः ।।६।।

-----।।०......०।।-----

षष्ठम् अध्याय

कर्मास्रव के कारण एक दृष्टि में

कर्म का नाम	आस्रव के कारण
ज्ञानावरण, दर्शनावरण	- प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन, उपघात आदि करना।
असाता वेदनीय	- स्व अथवा पर तथा उभय जीवों में दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन आदि करना।
साता वेदनीय	- भूत (समस्त प्राणियों पर) अनुकंपा, व्रती जनों पर विशेष अनुकम्पा, दान, सराग संयम, योग, क्षांति (क्षमा), शौच (लोभ रहित प्रवृत्ति), संयामासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप, अर्हद्भक्ति, वैय्यावृत्य आदि करना।
दर्शन मोहनीय	- केवली का अवर्णवाद, श्रुत का अवर्णवाद, संघ का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, देवों का अवर्णवाद करना।
चारित्र मोहनीय	- २५ कषायों के उदय से हुये तीव्र कलुषित परिणाम होना।
नरकायु	- बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह संचय के भाव होना।

तिर्यंचायु	- मायाचारी, छल-कपट के भाव तथा दूसरों को ठगने के भाव होना।
मनुष्य आयु	- अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के भाव तथा मृदुस्वभाव होना।
चारों आयु	- सात शील व्रतों से रहित, मंद कषाय अथवा कषायों की तारतम्यता।
देवआयु	- सरागसंयम, संयमासंयम, बालतप, अकामनिर्जरा, मृदुस्वभाव, सम्यक्दर्शन आदि।
अशुभनामकर्म	- योग (मन, वचन, काय) की कुटिलता, विसंवादन तथा अन्यथा प्रवृत्ति आदि करना।
शुभ नाम कर्म	- योग (मन, वचन, काय) की सरलता, योग्य अच्छी प्रवृत्ति, अविसंवादन
तीर्थंकर	- १६ कारण भावनायें
नीच गोत्र	- दूसरे की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करते रहना, दूसरे के सदगुण छिपाना, अपने अविद्यमान गुण प्रकट करना।

षष्ठम् अध्याय

उच्चगोत्र	– आत्मनिंदा करना, परप्रशंसा करना, अपने गुण छिपाना, दूसरे के गुण प्रकट करना, नम्रवृति (विनयवान) होना, अष्ट मदों का अभाव होना।
अन्तराय	– दूसरे के दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य में विघ्न करना।

-----...-----

आत्म सुख कहाँ? खोजिए?

श्रमण मनोज्ञ सागर

हे मित्र!

यह जीव जितना परिश्रम आजीविका के लिए करता है, उसका दशांश भी अपने आत्मा के लिए करे, तो शीघ्र सुलट जाए, तब संसार छूटने में ज्यादा देर नहीं लगेगी।

इस जीव को स्वयं अपनी आत्मा पर प्रेम है ही कहाँ? अन्यथा उसके उपकार का पुरूषार्थ अवश्य ही करेगा। मित्र! आत्म सुख चाहते हो तो इन्द्रिय सुख छोड़ दो, मोक्ष का पाथेय धर्माचरण ही है।

भैया! बंधन की चाह तो मूर्ख क्या पशु भी नहीं करता, किन्तु फिर भी आप शरीर, परिवार आदि का बंधन उसी में जुड़ाव, उसी की साज-संभाल आदि करते आए हैं, और अभी तब आत्म सुख से रहित बहिरात्मा(मिथ्यादृष्टि) ही रहे हैं। आगे......।

यह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव पुद्गल में ही रचा-पचा है। इसे तो शरीर का भी सुख चाहिए तथा आत्मिक सुख भी, किन्तु ऐसा तो तीन काल में भी संभव नहीं। हे भव्य! इस अति दुर्लभ नर देह एवं धर्म को पाकर एक पल भी व्यर्थ न गवाँ।

पापात् दुःखं धर्मात्सुखं, इति सर्वजन सुप्रशिद्धं।
तस्माद् विहाय पापं, चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्।।

-आत्मानुशासन

अथ सप्तमोऽध्यायः

(शुभास्रव का वर्णन)

व्रत का लक्षण-

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो-विरतिर्व्रतम् ।।१।।

अर्थ- हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से विरत होना व्रत है।

विशेषार्थ- हिंसा आदि उपरोक्त पाँचो पापों का बुद्धिपुर्वक प्रतिज्ञा करके इनका त्याग करना व्रत कहलाता है। इन पाँच पापों का स्वरूप आगे कहेंगें। इन सबमें प्रधान अहिंसा व्रत है, इसी से उसे सब व्रतों के पहले रखा है। शेष चारों व्रत सत्यव्रत, अचोर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत तथा परिग्रह त्याग(परिमाण) व्रत, ये अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए हैं। जैसे खेत में खड़े अनाज की रक्षा के लिए चारों ओर बाड़ लगा देते है, वैसे ही यह चारों अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए बाड़ रूप हैं।

जिज्ञासा- इन व्रतों को आस्रव का हेतु कहना उचित नहीं है, क्योंकि आगे नवें अध्याय में संवर के कारणों में जो दस धर्मो का कथन है, उनमें संयम धर्म में व्रतों का अन्तर्भाव होता है? अतः व्रत संवर के कारण हैं, आस्रव के कारण नहीं हैं?

समाधान- यह कहना ठीक नहीं है, देखिये संवर तो निवृति रूप है और व्रत प्रवृति रूप होते हैं। क्योंकि हिंसा (करने), असत्य (बोलने), चोरी (करने) आदि पापों का त्याग करके अहिंसा पालने का, सच बोलने का, दी हुई वस्तु ही लेने

का, ब्रह्मचर्य पालने तथा अपरिग्रह रूप व्रत स्वीकार किए जाते हैं और ये सब क्रिया रूप हैं। अतः प्रवृति रूप होने से आस्रव का कारण मानना ठीक है।

दूसरी बात यह कि ये जो व्रत हैं, समिति, गुप्ति आदि संवर के परिकर्म हैं और जिस साधु ने व्रतों का अनुष्ठान अच्छी तरह से कर लिया है, वही संवर को सुखपूर्वक कर पाता है। इसीलिए व्रतों का उपदेश अलग से दिया जाता है।

व्रतों के भेद

देश सर्वतोऽणु-महती ।।२।।

अर्थ- व्रत के दो भेद हैं- अणुव्रत और महाव्रत। हिंसादिक से एक देश विरत होना अणुव्रत है एवं सर्वप्रकार से विरत होना महाव्रत है।

अर्थात् इस सूत्र में श्रावकाचार और यति आचार दोनों को सूचित किया है। अतः पूर्व व आगे के सूत्रों का व्याख्यान यथायोग्य दोनों में लगा लेना चाहिए।

व्रतों की स्थिरता के हेतु-

तत्स्थैयार्थं भावनाः पञ्चपञ्च ।।३।।

अर्थ- इन व्रतों को स्थिर करने के लिए एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। भावना अर्थात् किसी वस्तु का बार-बार चिन्तवन करने को भावना कहते हैं। इस प्रकार पाँच व्रतों की कुल पच्चीस भावनाएँ हैं। उन भावनाओं का निरंतर चिन्तन करते रहने से व्रतों के पालन में दृढ़ता आती है। उन भावनाओं का आगे क्रम से कथन करते हैं।

सप्तम् अध्याय

अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ-

वाङ्-मनो-गुप्तीर्यादान-निक्षेपण-समित्यालोकित पान-भोजनानिपञ्च ।।४।।

अर्थ- वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ- (क) वचन की प्रवृत्ति को वश में रखना वचन गुप्ति है,

(ख) मन को वश में रखना मनोगुप्ति है।

(ग) चार हाथ भूमि को देखकर गमनागमन करना ईर्यासमिति है।

(घ) भूमि को देख-शोधकर किसी वस्तु को रखना-उठाना- आदान निक्षेपण समिति है। और

(ड़) सूर्य के प्रकाश में, अर्थात् दिन में भली प्रकार देखकर भोजन-पान करना आलोकित पान भोजन है। इस प्रकार अहिंसा व्रतकी रक्षा व दृढ़ता से पालन के लिए ये ५ भावनाएं हैं।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ-

क्रोध-लोभ-भीरूत्व-हास्य-प्रत्याख्याना-न्यनुवीचि भाषणं च पञ्च ।।५।।

अर्थ- क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, भीरूत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान और अनुवीचि भाषण ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ- (क) क्रोध प्रत्याख्यान- क्रोध(कषाय) का त्याग करना।

(ख) लोभ प्रत्याख्यान- लोभ(कषाय) का त्याग करना।

(ग) भीरूत्व प्रत्याख्यान- भय का त्याग करना।

(घ) **हास्य प्रत्याख्यान-** हंसी-मजाक-ठिठोली का त्याग करना।

(ङ) **अनुवीचि भाषण-** शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना। यह जीव क्रोध में, लोभवश, हंसी-मजाक में और भयभीत होकर असत्य बोलता है। अतः आचार्य देव ने असत्य बोलने के कारणों का निषेध किया है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना, ये चार निषेध रूप-त्याग रूप हैं और अनुवीचि भाषण विधिरूप हैं। इस प्रकार सत्यव्रत की रक्षा व दृढ़ता के लिए ये ५ भावनाएँ हैं।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ-

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि सधर्माविसंवादा पञ्च ।।६।।

अर्थ- शून्यागार आवास, विमोचिता आवास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और साधर्मीविसंवाद ये अचोर्यव्रत की पॉच भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ- (क) **शून्यागार-** पर्वत की गुफा, वृक्ष की कोटर(पोल), जिसका कोई स्वामी नहीं, ऐसा शून्य स्थान शून्यागार कहलाता है। ऐसे शून्य स्थानों पर रहना।

(ख) **विमोचितावास-** दूसरे के द्वारा छोड़े गए उदवासित (ऊजड़) स्थान में निवास करना विमोचितावास है।

(ग) **परोपरोधाकरण-** जहाँ आप ठहरे हुए हैं, वहाँ आए दूसरे साधर्मी को ठहरने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है।

(घ) **भैक्ष्य शुद्धि-** शास्त्रोक्त विधि से ४६दोष टालकर आहार ग्रहण करना भैक्ष्य शुद्धि है।

(ङ़) **सधर्माविसंवाद-** साधर्मीजनों से ''यह हमारा है यह आपका है'' इत्यादि रूप कलह नहीं करना सधर्मा विसंवाद है। ये अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाएँ है।

<u>ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें-</u>

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्व रतानुस्मरण-वृष्येष्ट रस स्वशरीरसंस्कार त्यागाः पञ्च ।।७।।

अर्थ- स्त्रीराग कथा-श्रवण त्याग, तन्मनोहरांग निरीक्षण त्याग, पूर्वरतानुस्मरण त्याग, वृष्येष्ट रसत्याग और स्वशरीर संस्कार त्याग ये ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ- (क) **स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग-** स्त्रियों में राग वढाने वाली कथाएँ सुनने व करने का त्याग करना।

(ख) **तन्मनोहरांग निरीक्षण त्याग** - उन स्त्रियों के मनोहर ह्रदयरंजक आंगोपांग मुख, स्तन, जंघा आदि अंगों को ताकने का त्याग करना।

(ग) **पूर्वरतानुस्मरण त्याग-** पूर्व अव्रत अवस्था में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना।

(घ) **वृष्येष्ट रस त्याग** - जिन रसों के सेवन करने पर पुमान बैल के समान उन्मत कामी हो जाता है, वे रस वृष्यरस कहलाते हैं। उपलक्षण होने से जिन रसों के सेवन करने से मानव घोड़े के समान उन्मत कामी हो जाता है, वे वाजीकरण रस(भोजन) हैं। तथा इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले रस(भोजन) उत्कट रस हैं। अतः कामवर्धक, गरिष्ठ रसों के सेवन का त्याग करना।

(ड़) **स्वशरीर संस्कार त्याग-** अपने शरीर को कामोद्दीपक संस्कारों अर्थात् केश, नख, दन्त आदि को चमकाने, इत्र-सेन्ट, चन्दन आदि द्रव्यों से सुगंधित-सुवासित करने का त्याग करना। ये ब्रह्मचर्य की रक्षा की ५ भावनाएँ हैं।

परिग्रह त्याग व्रत की पॉच भावनाएँ-

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय राग-द्वेष वर्जनानि पञ्च ।।८।।

अर्थ- पॉचों इन्द्रियों के मनोज्ञ (इष्ट) विषयों पदार्थों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना, ये पॉच परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएँ हैं।

विशेषार्थ- मनोज्ञ- जो चित्त(मन) के अनुरंजक पदार्थ हैं, वे मनोज्ञ हैं अथवा जो मन को इष्ट लगते हैं, चित को लुभाते हैं, वे मनोज्ञ कहलाते हैं।

अमोनज्ञ- मनोज्ञ से विपरीत अर्थात् जो विषय अथवा पदार्थ चित के अनुरंजक न हों, मन को इष्ट, अच्छे नहीं लगें, वे अमनोज्ञ हैं।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत इन पाँच इन्द्रियों के विषय **स्पर्श, रस, गंध, वर्ण** और **शब्द** इनमें राग और द्वेष का त्याग करना अर्थात् इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना ये परिग्रह त्याग व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। इनका चिन्तन करने से परिग्रह त्यागव्रत में स्थिरता आती है एवं परिग्रह से आसक्ति छूट जाती है।

हिंसादि पापों से विरक्त होने की भावना-

हिंसादिष्विहा-मुत्रापाया वद्यदर्शनम् ।।६।।

अर्थ- हिंसा आदि पाँचों पाप इस लोक और परलोक दोनों के लिए बिनाशकारी एवं निंदनीय हैं। ऐसी भावना करनी चाहिए।

सप्तम् अध्याय

अमुत्र- परलोक में, जन्मान्तर में।

अपाय- अभ्युदय(स्वर्ग) और निःश्रेयस (मोक्ष) क्रिया के विध्वंसक।

अवद्य- योग्य नहीं है, निंदनीय है।

अर्थात् हिंसा के विषय में विचार करना चाहिए कि जो हिंसक होता है, अन्य लोग उसके सदैव बैरी रहते हैं। इस लोक में सभी उसकी निंदा करते हैं एवं जेल व फांसी आदि भी होती है तथा मरकर वह नरक आदि में जन्म लेता है। अतः हिंसा से सदैव बचना चाहिए।

असत्य बोलने वाले का कोई विश्वास नहीं करता इस लोक में राजा उसकी जीभ कटा लेता है। झूठ बोलकर जिनको वह कष्ट पहुँचाता है वह भी उसके दुश्मन हो जाते है तथा मरकर खोटी गति प्राप्त करता है। लोक निंदा एवं दुर्गति से बचने के लिए झूठ बोलने से बचना ही श्रेष्ठ है।

चोरी करने वाला, पर- द्रव्यादि का हरण करने वाला, इस जगत में सर्वत्र उद्वेजनीय (तिरस्कृत) होता है। वध, बंधन, मारन-तारण, जेल आदि के दुर्धर कष्टों को इस लोक में झेलता है तथा मरकर निश्चित ही अशुभगति को प्राप्त होता है। अतः चोरी करना श्रेयष्कर नहीं है, ऐसी भावना भानी चाहिए।

अब्रह्मचारी, व्यभिचारी मनुष्य, मद विभ्रम से उदभ्रान्त चित्तवाला-कामी पुरूष, नकली हथिनी से ठगाए गए जंगली हाथी के समान अवश होकर वध-बंधन को प्राप्त होता है, भारी कष्ट उठाता है। इसी प्रकार अब्रह्म का सेवन करने वाला, पर स्त्रीगामी, दुराचारी मनुष्य पहले तो लोगों के द्वारा, फिर पुलिस के द्वारा भारी कष्ट को पाता है। पूर्व में तो राजा व्यभिचारी का लिंग छेदन करवा देते थे, आज भी कठोर दंड- आजीवन कारावास,

मृत्युदंड आदि को इस लोक में भुगतता है तथा मरकर निश्चित ही नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है। अतः अब्रह्म सेवन से सदैव दूर रहना ही हितकर है, ऐसी भावना निरंतर माना चाहिए।

परिग्रही मनुष्य को धन कमाने, जोड़ने और उसका रक्षण करने में तथा उसके क्षय होने पर भारी कष्ट उठाना पड़ते हैं। जैसे कोई पक्षी मॉस का टुकड़ा लिए हो, तो अन्य पक्षी उसके पीछे झपटने, छुड़ाने में उसे भारी कष्ट पहुॅचाते हैं, वैसे ही परिग्रही मनुष्य के पीछे चोर आदि लग जाते हैं। परिग्रही मनुष्य की परिग्रह संचय की तीव्र तृष्णा, अग्नि में ईंधन डालते रहने के सदृश कभी तृप्त नहीं होती। तृष्णा के वश वह न्याय-अन्याय का विचार भी नहीं करता। इसलिए परिग्रह के त्याग करने में ही कल्याण है, ऐसी भावना भानी चाहिए।

इस प्रकार हिंसा आदि पाँचों पापों में अपाय, अवद्य देखा जाता है। अतः इनका त्याग करने से लोक-परलोक में कष्टों व दुर्गति से वचेंगे तथा परमार्थ की साधना सधेगी। ऐसा चिंतन करना चाहिए।

पापों से विरक्ति की भावना-

दुःखमेव वा ।।१०।।

अर्थ- ये हिंसादिक पाप दुःख रूप ही हैं ऐसा विचार करना चाहिए। क्योंकि हिंसादि पाँचों पाप तो दुःख के कारण ही हैं, इसलिए वह दुःख रूप ही हैं, ऐसा सूत्र में कहा गया है। यहाँ कार्य में कारण का उपचार है।

सप्तम् अध्याय

सम्यग्दृष्टि जीव की भावनाएँ-

मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थानि च सत्व गुणाधिक- क्लिस्य-मानाऽविनयेषु।।११।।

अर्थ- प्राणी मात्र में मैत्री, गुणवानों में प्रमोदभाव, क्लिस्य(दुःखी) जीवों के प्रति करूणा भाव और अविनयी जीवों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

विशेषार्थ- (क) **मैत्री भाव-** जगत के किसी भी प्राणी को दुःख न हो, ऐसी भावना रखने को मैत्री भाव कहते हैं।

(ख) **प्रमोद भाव-** गुणवान पुरूषों के प्रति मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा, हृदय में अन्तरंग से भक्ति का भाव और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद भाव है।

(ग) **कारूण्य भाव-** दीन-हीन-दुःखी प्राणियों पर अनुग्रह भाव, दया-करूणा का भाव होना कारूण्य भाव है।

(घ) **माध्यस्थ भाव-** राग-द्वेष पूर्वक किसी के भी प्रति पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ भाव कहलाता है।

सत्व- पाप कर्म के उदय से जीव जो नाना योनियों में दुःखों को भोगते हैं, जन्म-मरण करते हैं, वे प्राणी सत्व कहलाते हैं। सत्व का अर्थ है ‘‘प्राणी सीदन्ति इति सत्वाः’’।

गुणाधिक- जो ज्ञान, तप, संयम आदि गुणों में प्रकृष्ट(श्रेष्ठ) हैं, वे गुणाधिक कहलाते हैं।

क्लिश्यमान- असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो दुःखी हैं, वे जीव क्लिश्यमान कहलाते हैं।

अविनेय- जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने एवं ग्रहण करने का गुण नहीं है। जो सम्यक्त्व आदि गुणों से रहित हैं। जिनको समझाना शक्य नहीं हैं। अर्थात् जो धर्म की बात, स्वयं के हित की बात भी नहीं समझना चाहते, वे अविनेय कहलाते हैं।

संसार और शरीर का स्वभाव-

जगत्काय-स्वभावौ-वा-संवेग वैराग्यार्थं ।।१२।।

अर्थ- संवेग और वैराग्य के लिए संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन निरंतर करना चाहिए।

विशेषार्थ- (क) जगत के स्वभाव का चिन्तन- यह जगत(तीन लोक) अनादिनिधन है। वेंत के आसन पर एक गोल झांझ रखो और उसके ऊपर एक मृदंग खड़ा करो, ऐसा ही लोक का आकार है। इस ३४३ राजू घन क्षेत्र के इस लोक में भटकते हुए जीव अनन्तकाल से नाना योनियों में शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक आदि अनेक दुःखों को भोग रहे हैं। यहां धन, यौवन आदि कुछ भी शाश्वत नहीं है। जीवन पानी के बुलबुले समान और भोग-सम्पदा विजली की तरह चंचल है। इस प्रकार जगत के स्वभाव का विचार करने से संसार से भय व अरूचि उत्पन्न होती है एवं वैराग्य बढ़ता है।

(ख) शरीर के स्वभाव का चिन्तन- यह शरीर अनित्य है, दुःख का कारण है, निस्सार है, अपवित्र है, इस प्रकार शरीर के ऐसे अशुचि स्वभाव का चिंतन करने से विषय भोगों से विरक्ति होकर, वैराग्य वृद्धिंगत होता है एवं व्रतों में स्थिरता आती है। अतः शरीर के स्वभाव का चिंतन करना चाहिए।

सप्तम् अध्याय

<u>हिंसा पाप का लक्षण-</u>

प्रमत्त-योगात्प्राण-व्यपरोपण-हिंसा ।।१३।।

अर्थ- प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणों का घात करना हिंसा है।

विशेषार्थ- कषाय सहित आत्म परिणाम प्रमाद है। और कषाय सहित योग को प्रमत्तयोग कहते हैं। उस प्रमत्त योग से ५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दस प्राणों का यथासंभव वियोग करना, व्यपरोपण करना हिंसा कहलाती है।

"प्रवचनसार" जी में कहा है "ईर्यासमिति से युक्त साधु के चलने के स्थान में यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैरों से दब जाये और उसके सम्बंध से प्राण रहित हो जाय तो भी उस निमित्त से स्वल्प बन्ध भी आगम में नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टि से मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है। वैसे यहाँ भी रागादि परिणामों को हिंसा कहा है।"

अन्य आगम ग्रंथों में भी ऐसा ही कथन प्राप्त होता है कि जीव का घात होवे या न होवे तथापि यत्नाचार से रहित पुरूष के नियम से हिंसा होती है और जो यत्नाचार पूर्वक प्रवृति करता है, वहाँ जीव का घात हो जाने पर भी बंध नहीं कहा है। अतः हिंसा रूप परिणाम ही वास्तव में हिंसा है।

द्रव्य-हिंसा को तो इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव-हिंसा के साथ सम्बंध है। किन्तु द्रव्य हिंसा के होने पर भाव -हिंसा का होना आवश्यक नहीं है।

<u>जिज्ञासा-</u> जैनेतर धर्मों में द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा को पृथक-पृथक ना मानकर दोनों को एक मानने से निम्न प्रकार शंका की गई है कि "जल में जन्तु हैं, थल में जन्तु हैं, पहाड़ की चोटी पर चले जाओ तो वहाँ भी जन्तु हैं। इस

तरह समस्त लोक जन्तुओं से भरा हुआ है, तो कोई अहिंसक कैसे हो सकता है?''

समाधान- जैन धर्म में इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है-

जीव दो प्रकार के हैं- सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म तो न किसी से रूकते हैं और न किसी को रोकते हैं। अतः उनका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। रहे स्थूल सो जिनकी रक्षा करना संभव है, उनकी यत्नाचार पूर्वक रक्षा की जाती है। अतः संयमी पुरूष को हिंसा का पाप नहीं लग सकता है। किन्तु प्रमाद से युक्त आत्मा प्रमादपूर्ण प्रवृति के कारण स्वयं अपने द्वारा अपना ही घात करता है, बाद में दूसरे का घात होबे अथवा नहीं होबे, अतः वह हिंसक ही है।

असत्य पाप का लक्षण-

असदभिधानमनृतम् ।।१४।।

अर्थ- प्रमाद के वशीभूत होकर असत्य का कथन अनृत है।

विशेषार्थ- जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो, वह बात सत्य हो अथवा असत्य, उसे कहना अनृत अर्थात् असत्य है। जैसे काने मनुष्य को काना कहना झूठ नहीं है, फिर भी ऐसा कहने से उसे पीड़ा पहुँचती है, इसलिए ऐसा कहना असत्य ही है। जैसा पहले कथन कर आए हैं कि प्रधानव्रत अहिंसा है, शेष चार व्रत अहिंसा के रक्षण व पोषण के लिए हैं। अतः जो वचन पर-पीड़ाकारक हैं, वह हिंसाकारक वचन हैं, अप्रशस्त हैं, इसलिए असत्य हैं।

स्तेय(चोरी) पाप का लक्षण-

अदत्तादानं स्तेयम् ।।१५।।

अर्थ- बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय (चोरी) है।

विशेषार्थ- आदान शब्द का अर्थ ग्रहण करना है। बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण अदत्तादान है और यही चोरी कहलाती है। यहाँ भी 'प्रमत्तयोग' पद की अनुवृत्ति होती है। इस सब कथन का अभिप्राय यह है कि बाह्य वस्तु ली जाय या न भी ली जाय, किन्तु जहाँ संक्लेश रूप परिणामों के साथ अथवा माया परिणामों के साथ वस्तु ग्रहण करने की जो प्रवृत्ति है, वहीं स्तेय है। संक्लेश परिणाम के अभाव में स्तेय (चोरी) नहीं है।

अब्रह्म (कुशील) पाप का लक्षण-

मैथुनमब्रह्म ।।१६।।

अर्थ- मैथुन को अब्रह्म कहते हैं।

विशेषार्थ- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने पर, राग परिणामों से प्रेरित होकर स्त्री और पुरूष को परस्पर में स्पर्श करने की या रति सुख की चेष्टा अथवा इच्छा का भी होना या उसके उपाय का चिंतन करना मैथुन कहलाता है। मैथुन को ही अब्रह्म कहते हैं। कभी-कभी दो पुरूषों में परस्पर में या स्त्रियों में भी इस प्रकार की कुचेष्टा देखी जाती है और कभी-कभी अकेला पुरूष भी काम से पीड़ित होकर कुचेष्टा कर बैठता है। वह सब अब्रह्म है।

जिसके पालन करने से अहिंसा धर्म की वृद्धि होती है, उसे ब्रह्म कहते हैं और अब्रह्म से हिंसादि दोष पुष्ट होते हैं। क्योंकि जो मैथुन में प्रवृत्ति करता है वह चर-अचर (त्रस-स्थावर) सर्व प्रकार के प्राणियों का घात करता है अर्थात् मैथुन क्रिया में स्त्री के योनि रन्ध्र में समुत्पन्न करोड़ों जीव (सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय) पुरूष के लिंग के संघट्टन से पीड़ित होकर मर जाते हैं। उसके लिए वह झूठ बोलता है, चोरी भी करता है और चेतन-अचेतन परिग्रह का

संचय अर्थात् विवाह आदि करके गृहस्थी वसाता है। इससे हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति होती ही है और जीव तीव्र पापार्जन करके अनंत संसार चक्र का निर्माण करता है।

परिग्रह पाप का लक्षण-

मूर्च्छा परिग्रहः ।।१७।।

अर्थ- मूर्च्छा अर्थात् पदार्थों के ममत्व को परिग्रह कहते हैं।

विशेषार्थ- मूर्च्छा- बाह्य में धन-धान्य-स्वर्णादि अचेतन पदार्थों में एवं स्त्री-पुत्र, गाय-भैंस आदि चेतन पदार्थों में, तथा अंतरंग में राग-द्वेष-क्रोध आदि कषायों में ये मेरे हैं, ऐसा ममत्व भाव (परिणाम) मूर्च्छा कहलाता है।

परिग्रह-उपरोक्त प्रकार बाह्य-चेतन एवं अचेतन पदार्थो में तथा अंतरंग के रागादि परिणामों में 'यह मेरा है' इस प्रकार संकल्प करना, मूर्च्छा भाव का होना ही परिग्रह है। जिसका प्रमत्त योग होता है, वही परिग्रह सहित है, किन्तु प्रमत्त योग जिसके नहीं है, वह अपरिग्रही है। ज्ञान-दर्शन आदि आत्मा के स्वभाव हैं। रत्नत्रय से युक्त प्राणी, तपादि में अनुरक्त प्राणी प्रमाद और मोह से रहित होता है, अतः ये परिग्रही नहीं हैं।

वास्तव में अभ्यन्तर का ममत्व परिणाम ही परिग्रह है। क्योंकि पास में एक रूपया न होने पर भी जिसे दुनिया भर की तृष्णा है, वह परिग्रही ही है। बाह्य वस्तुओं को तो इसलिए परिग्रह कहा है कि वे वस्तुएँ ममत्व भाव के होने में कारण होती हैं।

अनादिकाल से यह प्राणी परिग्रह में तीव्र आसक्ति के कारण ही संसार में चतुर्गतियों में भ्रमण करता आ रहा है और ८४ लाख योनियों में जन्म मरण

करता हुआ अनेकानेक दुःखों को भोग रहा है। अतः परिग्रह की आसक्ति व संचय से विरक्त रहना चाहिए।

<u>व्रती का लक्षण-</u>

निःशल्यो व्रती ।।१८।।

अर्थ- शल्य (माया, मिथ्या, निदान) रहित जीव ही व्रती कहलाता है। जब तक एक भी शल्य अंतरंग में रहेगी, तब तक जीव व्रती नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ- जो आत्मा को काँटे की तरह कष्ट देता है, उसे शल्य कहते हैं। जैसे कील, काँटा आदि चुभने पर जीव को कष्ट देता है, वैसे ही कर्म के उदय से होने वाला मानसिक विकार भी जीव को कष्टदायक होता है। इसीलिए उसे शल्य नाम दिया गया है। शल्य तीन प्रकार का है- माया शल्य, मिथ्यात्व शल्य, निदान शल्य।

(क) माया शल्य- छल-कपट, मायाचार, धूर्तता, निकृति, वंचना ये सब एकार्थवाची हैं, इनको करना माया शल्य है।

(ख) मिथ्यात्व शल्य- जीवादि तत्वों पर श्रद्धान का अभाव होना तथा कुदेवों, कुगुरुओं को पूजना उनकी स्तुति, प्रशंसा करना मिथ्यात्व है।

(ग) निदान शल्य- आगामी काल में इष्ट विषय-भोगों की तथा चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों अथवा ऐश्वर्य आदि की आकांक्षा निरंतर करते रहना निदान शल्य है।

इस प्रकार जो इन तीनों शल्यों को हृदय से निकालकर व्रतों का पालन करता है, वही व्रती है। इसे ही "निःशल्यो व्रती" कहा है। निःशल्यत्व एवं

व्रतित्व में अंग-अंगि भाव विवक्षित है। क्योंकि मात्र हिंसादि से विरक्ति रूप व्रत के सम्बंध से व्रती नहीं होता है, जब तक उसके शल्यों का अभाव न हो। शल्यों का अभाव होने पर ही व्रत के संबंध से व्रती होता है। किन्तु जो दुनिया को ठगने के लिये व्रत लेता है अथवा व्रत लेकर यह सोचता है कि आगामी काल में देवांगनाएँ आदि दृष्टभोग सामग्री प्राप्त होगी अथवा जो व्रतों को धारण करके भी मिथ्यात्व के आचरण में पड़ा है, वह कभी भी व्रती नहीं हो सकता है।

व्रती के भेद-

अगार्यनगारश्च ।।१६।।

अर्थ- अगारी यानि गृहस्थ एवं अनगारी अर्थात् मुनि के भेद से व्रती दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ- व्रती के दो भेद है- एक गृहस्थ श्रावक और दूसरे गृहत्यागी साधु। गृहस्थ श्रावक को **अगारी** कहा है और गृहत्यागी साधु को **अनगारी** कहा है।

जिज्ञासा- कोई साधु किसी देवालाय मे या खाली पड़े घर आदि में आकर ठहर जावें तो क्या वे अगारी कहे जायेगें? अथवा कोई गृहस्थ अपनी स्त्री आदि से झगड़कर वन में जा बसे, तो क्या वह अनगारी कहा जायेगा?

समाधान- अगार यद्यपि मकान(घर) को कहते हैं। किन्तु यहाँ बाहरी मकान से तात्पर्य नहीं है, मानसिक मकान ग्रहण करना चाहिए। अतः जिस मनुष्य के मन में घर बसाकर रहने की भावना है, वह भले ही जंगल में चला जावे पर उसे अगारी ही कहा जायेगा। और जिसके मन में घर के प्रति राग भावना

नहीं वह कुछ समय के लिए किसी मकान में ठहर जाने पर भी उसे अगारी नहीं कहा जायेगा। यहां अन्तरंग वांछा रूप अभिप्राय से तात्पर्य ग्रहण करना।

अगारी का लक्षण-

अणुव्रतोऽगारी ।।२०।।

अर्थ- अणुव्रत अर्थात् एक देश पांच पापों का त्याग करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अगारी (सागार) कहलाता है।

विशेषार्थ- अणुव्रत के पॉच भेद हैं- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत।

(१) **अहिंसाणुव्रत-** संकल्पपूर्वक त्रस जीवों अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों के व्यपरोपण अर्थात् हिंसा से मन, वचन, काय से परित्याग करना प्रथम अहिंसाणुव्रत है।

अहिंसाणु व्रत- हिंसा चार प्रकार की होती है-

(क) संकल्पी हिस्सा- बुद्धि पूर्वक किसी भी प्राणी के प्राणहरण करने अथवा दुःख देने का अथवा किसी भी प्रकार उसे कष्ट में डालने का संकल्प करना, विचार करना, चूहों आदि के लिए पिंजरा लगाना संकल्पी हिंसा है।

(ख) आरंभी हिंसा- घर, गृहस्थी जन्य विवेक पूर्वक किए गए भोजन आदि बनाने के आरंभादिक कार्यों में जो अबुद्धि पूर्वक अल्प हिंसा हो जाती है या होती है, वह आरंभी हिंसा है।

(ग) विरोधी हिंसा- अपने घर, परिवार आदि की सुरक्षा करने में एवं धन-सम्पत्ति आदि की अन्याय एवं अनीति से तथा चोर- बदमाशों से अपने जन-धन की रक्षा करने में जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है।

(घ) उद्योगी हिंसा- अपने परिवार के पालन पोषण के निमित्त कृषि, व्यापारिक आदि में विवेक पूर्वक किए गए कार्यों में भी जो अति अल्प हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है।

इस प्रकार उपरोक्त चारों प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ संकल्पी हिंसा का कृत-कारित, अनुमोदना एवं मन-वचन काय से त्यागी तो होता ही हैं एवं संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा के त्याग के साथ व्यर्थ में स्थावर जीवों की हिंसा आदि भी नहीं करता, यह अहिंसाणु व्रत कहलाता है।

(२) **सत्याणुव्रत-** राग, द्वेष, मोह, भय आदि के वश हो कर स्थूल असत्य बोलने का त्याग सत्याणुव्रत है। अर्थात् ऐसा वचन नहीं बोलना जिससे किसी का घर बरवाद हो जाये या पूरे गांव पर ही विपत्ति खड़ी हो जाये।

(३) **अचौर्याणुव्रत-** जिससे दूसरे को कष्ट हो अथवा जिसमें राजदण्ड आदि का भय हो ऐसी बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने का त्याग तीसरा अचौर्याणुव्रत है।

(४) **ब्रह्मचर्याणुव्रत-** विवाहित, अविवाहित, कन्या आदि परस्त्रीसेवन का त्याग चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

(५) **परिग्रह परिमाणाणुव्रत-** (१) क्षेत्र(खेत) (२) वास्तु(मकान) (३) धन यानि (रूपये-स्वर्ण-रजत आदि) (४) धान्य, गेहूँ, चना आदि अन्न (५) कुप्य अर्थात् वस्त्र (६) भाण्ड(वर्त्तन) (७) दुपद (दास-दासी) (८) चौपाया- हाथी, घोड़ा, गाय, बैल आदि (९) यान- पालकी, विमान आदि वर्तमान में मोटर-गाड़ी, वाहन (१०) शयन- आसन, चटाई आदि रूप परिग्रह का प्रमाण कर लेना पाँचवा परिग्रह परिमाण व्रत है।

वाहिर संगा खेत्तं-वत्थुं, धण-धण्ण-कुप्प-भंडाणि ।

दुपय-चउप्पय जाणाणि च ऐव सयणा-सणे य तहा ।।

-१११३/ भगवती अराधना

सप्तम् अध्याय

क्षेत्रं-वास्तु-धनं-धान्यं, द्विपद च चतुष्पदम् ।

आसनं-शयनं-कुप्यं-भाण्डं, चेति वहिर दश ।।

-१६/उमा स्वामी श्रावकाचार

अर्थ- (१) पृथ्वी, खेत, गाँव आदि को **क्षेत्र** कहते हैं।

(२) महल, मकान आदि को **वास्तु** कहते हैं।

(३) स्वर्ण, रजत, हीरे, जवाहरात आदि को **धन** कहते हैं।

(४) गेहूँ, जौ, चावल आदि को **धान्य** कहते हैं।

(५) स्त्री, दास-दासी आदि **द्विपद** कहलाते हैं।

(६) घोड़ा, गाय, बैल, भैंस आदि **चतुस्पद** कहलाते हैं।

(७) सिंहासन, गद्दी, पाटा आदि **आसन** कहलाते हैं।

(८) तखत, पलंग, बिछौना, चटाई आदि **शयन** कहलाते हैं।

(९) वस्त्र, नेपकिन आदि को **कुप्य** कहते हैं।

(१०) वर्तनों का भाण्ड कहते हैं। ये १० प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं।

परिग्रह के २४ भेदों में अंतरंग परिग्रह भी १४ प्रकार के आगम में कहे हैं, उन्हें भी कहते हैं-

मिथ्यात्व-वेद-रागश्च, द्वेषो-हास्यादयोस्तथा ।

क्रोधादयश्च विज्ञेया, आभ्यन्तर परिग्रहाः ।।

-१७/उमा स्वामी श्रवणाचार

अर्थ- (१) मिथ्यात्व (२) वेद-३(स्त्री वेद, पुरूष वेद, नपुंसक वेद) (३) राग (४) द्वेष (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) मायाचार (१४) लोभ प्रवृत्ति। ये १४ अंतरंग परिग्रह हैं।

इस प्रकार आगम में ये २४ भेद परिग्रह के कहे हैं।

-१११२/भगवती आराधना

उपरोक्त पाँचों अणुव्रतों को जो नियमपूर्वक पालता है, वह अगारी-व्रती संज्ञा को प्राप्त है।

अणुव्रत के सहायक सप्त शील व्रत-

दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासो-पभोगपरिभोगपरिमाणा

तिथि-संविभागव्रतसम्पन्नश्च ।।२१।।

अर्थ- अणुव्रती श्रावक दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक प्रोषधोपवास, उपभोग, परिभोग परिमाण एवं अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतों से सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रतों का धारी (पालक) होता है।

विशेषार्थ- तीन गुण व्रत **कहते हैं-**

(क) दिग्व्रत- सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये (चारों दिशायें, चारों विदिशायें तथा ऊपर, नीचे इन) दशों दिशाओं में ग्राम, नगर, प्रदेश आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा(सीमा) बांधकर आजीवन उस सीमा का उल्लंघन नहीं करना दिग्विरति-व्रत है। उस मर्यादा के बाहर त्रस एवं स्थावर हिंसा का त्याग हो

जाने से उतने क्षेत्रांश में वह महाव्रत सदृश हो जाता है। उसमें उसके परिणाम न रहने के कारण लोभ (कषाय) का भी त्याग हो जाता है।

(ख) देशव्रत- जीवनपर्यन्त के लिए किये हुये दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी, घंटा, दिन, माह आदि कुछ भी समय के लिए ग्राम नगर आदि के गमनागमन का परिमाण कर लेने को देश विरति-व्रत कहते हैं।

(ग) अनर्थदण्ड व्रत- जिस कार्य के करने से कुछ लाभ भी न हो और व्यर्थ में ही पाप का संचय हो, ऐसे प्रयोजन रहित पापवर्धक क्रियाओं के त्याग को अनर्थ दण्डविरति व्रत कहते हैं। इसके पॉच भेद हैं-

(१) अप ध्यान- दूसरों का बुरा विचारना कि अमुक की जय होवे या अमुक की पराजय होवे, उसको जेल हो जावे, उसके धन आदि का अपहरण हो जावे इत्यादि सब अपध्यान है। किन्तु उसका बुरा होना या न होना, उसके कर्माधीन है, आपके आधीन नहीं।

(२) पापोपदेश- मनुष्य तिर्यंचों को कष्ट पहुँचाने वाले तथा तुम यह व्यापार करो, अथवा वह व्यापार करो, इस प्रकार हिंसा एवं आरंभ आदिक पाप कार्यों का उपदेश देना पापोपदेश है।

(३) प्रमादचर्या- बिना प्रयोजन जंगल-वृक्ष कटवाना, फूल-पत्ती तोड़ना, भूमि खोदना, सड़क, नाली आदि में पानी ढोलना-फैलाना, बिजली-पंखा चलाना आदि पाप कार्य प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है।

(४) हिंसादान- विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, कुल्हाड़ी, चाकू आदि हिंसा के उपकरणों को किसी को प्रदान करना हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है ।

(५) **अशुभश्रुति-** हिंसा और राग-द्वेष आदि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं तथा खोटे शास्त्रों को सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभ श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

चार शिक्षाव्रत-

(क) **सामायिक-** तीनों सन्ध्याकाल (पौर्वान्हिक, मध्यान्हिक, अपरान्हिक काल) में समस्त पाप कर्मों से विरत होकर नियत स्थान एवं नियत समय के लिए मन, वचन और काय के एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। जितने समय तक व्रती गृहस्थ उक्त प्रकार से सामायिक करता है, उतने समय के लिये वह महाव्रत के समान हो जाता है।

(ख) **प्रोषधोपवास-** प्रोषध नाम पर्व का है। प्रोषध अर्थात् पर्व के दिन उपवास और पहले व बाद के दिन एकासन (करना) प्रोषधोपवास कहलाता है। स्थूल कथन में तो चारों प्रकार के आहार का त्याग उपवास कहा जाता है। किन्तु यथार्थ में पॉचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर, मौन धारण कर किसी पवित्र स्थान पर अथवा साधुओं के मध्य में अथवा जिन मंदिर आदि में धर्म कथा सुनने-सुनाने और चिन्तन करने में मन को लगाकर उपवास करना चाहिए तथा सब प्रकार की आरंभ आदि क्रियायें त्याग देना चाहिए, वह प्रोषधोपवास है। शेष तो लंघन करना है, शरीर सुखाना है।

(ग) (१) **उपभोग परिमाण-** जो एक बार ही भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे भोजन, पान, गन्ध, माला आदि के सेवन का परिमाण करना उपभोग परिमाण व्रत है।

(२) **परिभोग परिमाण-** बार-बार जो भोगने में आवे उसे परिभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, आभूषण, अलंकार, वाहन, मकान आदि का परिमाण जीवन पर्यन्त

के लिए करना कि मैं अमुक वस्तु को इतने प्रमाण से अधिक नहीं रखूंगा, यह परिभोग परिमाण व्रत है।

(घ) **अतिथि संविभाग व्रत-** संयम का बिनाश न हो जो इस विधि से चलता है वह अतिथि है अथवा जिसके आने की कोई तिथि अथवा काल निश्चित नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं। मोक्ष के लिए तत्पर ऐसे संयमी अतिथि को शुद्ध मन से, निर्दोष भिक्षा (आहार) देना अतिथि संविभाग(शिक्षाव्रत) है तथा ऐसे संयमी पुरूषों को आवश्यकता अनुसार योग्य औषधि देना, रहने को वसतिका देना, धर्मोपकरण देना एवं पीछी-कमण्डल आदि देना भी इस व्रत में सम्मलित हैं। इस सूत्र में 'च' शब्द गृहस्थ श्रावक को आगे कहे जा रहे सल्लेखना धर्म को ग्रहण करने के लिए दिया है।

सल्लेखना धारण का उपदेश-

मारणान्तिकीं सल्लेखनांजोषिता ।।२२।।

अर्थ- मरणकाल आ जाने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना समाधिमरण करना चाहिए। ऐसा आदेश/ निर्देश आचार्य भगवन् यहाँ कर रहे हैं।

विशेषार्थ- कर्म के संयोग से प्राप्त दस प्राणों (आयु, श्वासोच्छवास, इन्द्रियां एवं तीन बल) का कारण विशेष से नाश होना मरण कहलाता है। मरण का अन्त अर्थात् वर्तमान भव का अवसान मरणान्त है। इस लोक या परलोक सम्बंधी किसी अभिलाषा की अपेक्षा के बिना शरीर और कषायों को क्षीण करना सल्लेखना है। अर्थात् सम्यक रीति से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। जब मरण काल उपस्थित हो जावे तो गृहस्थ को परिवार जनों से, व्यापार आदि से सबसे मोह छोड़कर क्रम-क्रम से भोजन, रस, पान

आदि का त्याग करते हुए कषायों का भी शमन करना चाहिए तथा धर्मध्यान पूर्वक समता परिणामों से मृत्यु का वरण करना चाहिए। मरण १७ प्रकार के हैं किन्तु उनमें आवीचि और तद्‌भवमरण मुख्य है। प्रतिक्षण आयु के निषेक खिरते हैं अर्थात् प्रतिक्षण आयु का ह्रास होता है, वह आवीचि मरण है तथा वर्तमान भव की आयु का सम्पूर्ण नाश हो जाना तद्‌भव मरण है। तद्‌भवमरण के समय ही समाधि मरण की साधना की जाती है। 'मारणान्तिक' पद तद्‌भवमरण का ज्ञान कराने के लिए ही ग्रहण किया है।

<u>जिज्ञासा-</u> इस तरह जान बूझकर मौत को बुलाना क्या आत्मघात नहीं कहा जायेगा?

<u>समाधान-</u> नहीं कहा जायेगा। क्योंकि जिनागम में कहा है-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतिकारे ।

धर्मार्थ तनु विमोचन, माहुः सल्लेखना मार्या ।। १२२/रत्न० श्राव०

अर्थात्- किसी उपसर्ग के आ जाने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर तथा जिसका उपचार-प्रतिकार न हो सके ऐसा असाध्य रोग होने पर अपने संयम धर्म की रक्षार्थ देह का त्याग करना सल्लेखना है।

परन्तु जिस धर्मी के मुनिपना, श्रावकपना, रत्नत्रय धर्म भली-भांति पल रहा है एवं स्वाध्याय, तप, शील, व्रतादि अच्छे से सध रहे हैं, कोई असाध्य रोग भी नहीं है, दुर्भिक्ष आदि का भी भय नहीं है, उसे आहारादि त्यागकर सन्यास मरण करना कदापि उचित नहीं है। यदि वह दीर्घायु एवं निरोग शरीर होते हुए भी आहार का त्याग करता है, तो निश्चित ही आत्मघाती कहा

जायेगा, तब उसका कुमरण ही कहा जायेगा। ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव का कथन है। आत्मघाती कौन होता है, यह और स्पष्ट करते हैं-

यो कि कषाय आविष्टः, कुंभक जल घूमकेतु विषशस्त्रैः।

व्यपरोपयति प्राणान् तस्य, स्यात् सत्यम् आत्मवधः ।। -पु० सि० उ०

अर्थात् जो जीव क्रोध आदि कषायों से युक्त होकर, श्वास का निरोध करके अर्थात् फॉसी लगाकर या जल में डूबकर या अग्नि मे जलकर या विष भक्षण करके अथवा शस्त्र आदि के द्वारा अपने प्राणों का वियोग करता है, उसे सदाकाल अपघात कहो या आत्मघात का निश्चित ही दोष लगता है।

किन्तु उपरोक्त पूर्व में कहे अनुसार यदि अपनी आयु का अंतकाल जानकर क्रम-क्रम से एवं विधिवत आहार का त्याग करते हुये एवं कषायों को क्षीण करते हुए जो समत्व भावों से देह का त्याग करता है, वह सल्लेखना-समाधिमरण है। ऐसी स्थिति में सल्लेखना को आत्मवध कहना कदापि उचित नहीं है। सल्लेखना-समाधिमरण से नियम से उत्तमगति ही प्राप्त होती है।

सम्यक्त्व के ५अतिचार-

शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।।२३।।

अर्थ- शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा एवं अन्यदृष्टि संस्तव ये सम्यग्दर्शन के पॉच अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) शंका- जिनेन्द्र देव के कहे हुए तत्त्वों में अर्थात् जिनोपदेश में शंका करना कि ये बात ठीक है या नहीं है अथवा वस्तु का स्वरूप ऐसा ही

है या अन्य प्रकार है अथवा अपनी आत्मा को अखण्ड, अबिनाशी जानकर भी मृत्यु से डरता है, यह सम्यक्त्व का शंका अतिचार है।

(२) **कांक्षा-** इस लोक या परलोक में सांसारिक सुखों की अथवा पदों की अथवा भोगों की चाह करना कांक्षा नाम का अतिचार है।

(३) **विचिकित्सा-** दुःखी, दरिद्री, रोगी प्राणी को देखकर अथवा रत्नत्रय से पवित्र किन्तु बाह्य में मुनि के भी तपश्चरण से हुए शुष्क व मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा कहलाती है।

(४) **अन्यदृष्टि प्रशंसा-** मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, कुतप आदि को मन से अच्छा समझना, मन में उनकी सराहना करना यह अन्यदृष्टि प्रशंसा अतिचार है।

(५) **अन्यदृष्टि संस्तव-** मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान व कुतप की वचन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि संस्तव है।

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए उपरोक्त पॉचों अतिचारों, दोषों से बुद्धिपूर्वक बचना चाहिए।

<u>व्रतों और शीलों के अतिचार-</u>

व्रत शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ।।२४।।

अर्थ- अहिंसा आदि पाँचों व्रतों और दिग्विरति आदि सात शीलों के क्रमशः पाँच-पाँच अतिचार हैं।

<u>जिज्ञासा</u>- व्रतों और शीलों में क्या अंतर है?

<u>समाधान</u>- पापों से विरत होना व्रत कहलाता है और जो व्रतों की रक्षा के लिये होते हैं, उन्हें शील कहते हैं।

सप्तम् अध्याय

<u>अहिंसाणुव्रत के अतिचार-</u>

बन्ध-वधच्छेदाति-भारा-रोपणान्न-पान निरोधः ।।२५।।

अर्थ- बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध ये अहिंसाणुव्रत के पॉच अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) **बन्ध-** किसी प्राणी को इच्छित स्थान में जाने से रोकना व रस्सी, सांकल, खूंटे से बांधकर रखना या पिंजरे आदि में बंद कर देना बंध कहलाता है। जैसे- गाय, बैल, भैंस आदि को बांधना, तोता, मैना, चूहे आदि को पिंजरे में बंद करना आदि।

(२) **वध-** डण्डे, कौड़े, वेंत आदि से पीटना वध कहलाता है न कि प्राणिहत्या। क्योंकि प्राणी वध से विरक्ति तो व्रत धारण करते समय में ही हो चुकी है।

(३) **छेद-** पूंछ, कान आदि का काट डालना अथवा कान, नाक आदि अंगों का छेदन कर देना छेद कहलाता है। जैसे घोड़े, बैल आदि के नाक छेदन कर नकेल डालते है और खुरों मे कीलों से नाल ठोक देते हैं।

(४) **अतिभारारोपण-** प्राणी की शक्ति से अधिक भार का लाद देना अथवा शक्ति से बाहर काम लेना अतिभारारोपण है। जैसे- कोई पशु पॉच बोरे रखे गाड़ी के भार सहन की क्षमता रखता है, किन्तु उस पर दस बोरे का भार लाद दिया आदि।

(५) **अन्नपान निरोध-** घर में काम करने वाले नौकर आदि तथा गाय, बैल, भेंस आदि पाले हुए पशुओं को समय पर भोजन, पानी आदि नहीं देना, वल्कि कहना कि अभी इतना काम और पूरा करना तव भोजन-पान करना,

चाहे वहाँ स्वयं के पुत्र या पुत्रवधु आदि ही क्यों न हों, यह अन्नपान निरोध है।

सत्याणुव्रत के अतिचार-

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमंत्र भेदाः ।।२६।।

अर्थ- मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूट लेख क्रिया, न्यासापहार, और साकारमंत्र भेद ये पॉच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) **मिथ्योपदेश-** झूठा और अहितकर उपदेश देना। जैसे- झूठी गवाही देना अथवा मोक्ष मार्ग के विपरीत उपदेश देना मिथ्योपदेश कहलाता है।

(२) **रहोभ्याख्यान-** स्त्री एवं पुरूष के द्वारा एकान्त में की गई क्रिया अथवा गुप्त बातचीत, संकेत आदि को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है।

(३) **कूटलेख क्रिया-** दूसरों को फंसाने के लिए अथवा जमीन, मकान आदि हड़पने के लिए झूठे दस्तावेज बनाना, लिखना आदि क्रिया कूटलेख क्रिया है।

(४) **न्यासापहार-** कोई व्यक्ति आपके पास स्वर्ण आदि आभूषण गहना(धरोहर) रख जाए पश्चात भूल से वह कम मॉगे तो उसकी भूल न बतलाकर स्वयं के जानते हुए भी ''जो तुम मॉगते हो ले जाओ'' इस प्रकार कहकर रखी हुई धरोहर से कम देना न्यासापहार है।

(५) **साकार मंत्र भेद-** चर्चा-बातचीत, अथवा मुख की आकृति, अंग संकेत आदि अर्थात् किसी के गुप्त अभिप्राय अर्थात् मन की बात को जानकर उसकी बदनामी होवे, इस अभिप्राय से प्रकट करना साकार मंत्र भेद है।

सप्तम् अध्याय

अचोर्याणुव्रत के अतिचार-

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरूद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिक
मानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ।।२७।।

अर्थ- स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरूद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान एवं प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अचोर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) स्तेनप्रयोग - चोरी करने वाले को टेक्स चोरी, बिजली चोरी आदि के उपाय बतलाना, दूसरे को चोरी करने की प्रेरणा देना तथा चोर की मन से प्रंशसा करना स्तेन प्रयोग है।

(२) तदाहृतादान- जिस चोर को चोरी करने की न तो प्रेरणा की हो, न अनुमोदना की हो, किन्तु ऐसे उस चोर से चोरी का माल खरीदना तदाहृतादान कहलाता है।

(३) विरूद्धराज्यातिक्रम- राज्य के नियमों के विरूद्ध आचरण करना, आयकर, विक्रयकर, प्रवेशकर नहीं देना तथा चोरबाजारी करना आदि विरूद्धराज्यातिक्रम है।

(४) हीनाधिकमानोन्मान- मापने-तौलने के बॉटों को मान कहते हैं और तराजू को उन्मान कहते हैं। दूसरे को सामग्री देते समय कम वजन वाले बॉटों से तौल-नाप कर देना और वस्तु खरीदते अथवा लेते समय अधिक वजन वाले बाँटों का प्रयोग करना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है।

(५) प्रतिरूपक व्यवहार- कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलावट करके ऊँचे भाव पर वेचना, जाली सिक्के आदि ढ़ालना अर्थात् किसी को खरी वस्तु

में खोटी वस्तु मिलाकर बेचना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है। जैसे शुद्ध घी में डालडा मिलाकर बेचना, नारियल-तिल के तेल में रेपसीड तेल मिलाकर बेचना, गेहूँ आदि धान्य में कंकड़ व काली मिर्च में पपीते के बीज, स्वर्ण-रजत आदि में तावां-पीतल मिलाकर ठगना आदि।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार-

परविवाहकरणेत्वरिका-परिगृहीताऽपरिगृहीता-गमनानङ्गक्रीड़ा-कामतीव्रा-भिनिवेशाः ।।२८।।

अर्थ- परविवाहकरण, अपरिगृहीताइत्वरिकागमन, परिगृहीताइत्वरिकागमन, अनङ्गक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश ये पॉच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है।

विशेषार्थ- (१) परविवाहकरण- कन्या के वरण करने को विवाह कहते हैं, सो दूसरे के पुत्र-पुत्रियों के विवाह करना, कराना कुण्डली आदि मिलाना रूप सहयोग करना अथवा शादी-बारात-सामूहिक भोज आदि में सम्मलित होकर अनुमोदना करना परविवाहकरण अतिचार है।

(२) अपरिगृहिता इत्वरिकागमन- जो पर पुरूषों के साथ काम सेवन करती है, अर्थात् व्यभचारिणी स्त्री कहलाती है। अपरिगृहीता और परिगृहिता के भेद से ये इत्वरिका दो प्रकार की है, जिसका कोई स्वामी नहीं है अर्थात् पतिरहित वेश्या रूप से अथवा पुंश्चली रूप से पर पुरूषों के साथ काम सेवन करती है, ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रियों से सम्बंध रखना, उनसे लेन-देन करना, उनके यहां आना-जाना अपरिगृहिता अत्वरिकागमन अतिचार है।

(३) परिगृहिता इत्वरिकागमन- जिस स्त्री का कोई स्वामी है अर्थात् पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्री से सम्बंध रखना, उसके यहाँ आना-जाना, उससे लेन-देन रूप किसी तरह का गुप्त व्यवहार रखना परिगृहिता इत्वरिकागमन अतिचार है।

(४) **अनंगक्रीड़ा-** काम सेवन के निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य स्थानों व अन्य अंगों से कामसेवन-रतिक्रिया करना अनंग क्रीड़ा अतिचार है।

(५) **काम तीव्राभिनिवेश-** कामसेवन का प्रवृद्ध परिणाम होना अथवा काम सेवन की तीव्र-अत्यधिक अभिलाषा रखना कामतीव्राभिनिवेश अतिचार है। ये पाँच स्वदार संतोषव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) के अतिचार हैं।

परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार-

क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ।।२६।।

अर्थ- क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम, हिरण्य-स्वर्णप्रमाणातिक्रम, धन-धान्य प्रमाणातिक्रम, दासीदास प्रमाणातिक्रम एवं कुप्यप्रमाणातिक्रम ये पाँच परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) **क्षेत्र-वास्तु प्रमााणातिक्रम-** खेत व मकान का एक बार प्रमाण करके बाद में लोभ-मान के वशीभूत होकर किए हुए परिमाण को किसी तरह बढ़ा लेना अर्थात् किए हुए परिमाण का उल्लंघन करना क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(२) **हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम-** चाँदी-सोना अथवा उनके आभूषण तथा सिक्के आदि नगदी सम्पति का प्रमाण करके उस प्रमाण का उल्लंघन करना हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(३) **धन धान्य प्रमाणातिक्रम-** धन अर्थात् गाय, बैल आदि पशुधन, तथा धान्य अर्थात् गेहूँ, चावल, चना, मूँग, तिल आदि अनाज का प्रमाण करके फिर उस प्रमाण का उल्लंघन करना धन-धान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(४) **दासीदास प्रमाणातिक्रम-** घर अथवा दुकान-व्यापार आदि के कार्यों में लगे नौकर-नौकरानियों का प्रमाण करके पुनः उस प्रमाण का उल्लंघन करना दासी दास प्रमाणातिक्रम है।

(५) **कुप्य प्रमाणातिक्रम-** कुप्य अर्थात् सूती, ऊनी वस्त्र आदि तथा सुगंध, चंदन आदि वस्तुएँ इनका प्रमाण करके कि मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य आदि परिग्रह की मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रह परिमाण व्रत के ५ अतिचार हैं।

विशेष- यहाँ आचार्य भगवन् ने परिग्रह के बहिरंग एवं अन्तरंग भेदों को नहीं कहा है। मात्र परिग्रह परिमाण व्रत के ५ अतिचार कहें हैं। इन्हें बाह्य परिग्रह के सम्पूर्ण भेद नहीं समझना। बहिरंग परिग्रह के १० भेदों का वर्णन इसी अध्याय के सूत्र २० (परिग्रह परिमाणव्रत) में देख सकते हैं।

इस प्रकार अहिंसा आदि ५ व्रतों के अतिचार कहे। अब आगे सात शीलव्रतों के अतिचार कहते हैं।

<u>दिग्व्रत के अतिचार-</u>

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।

अर्थ- ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यग्अतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) उर्ध्वव्यतिक्रम- दिशाओं की, की गई परिमित मर्यादा का उल्लंघन करना अतिक्रम कहलाता है। परिमित मर्यादा से अधिक ऊँचाई वाले पर्वत आदि स्थान पर चढ़ना, जाना उर्ध्वातिक्रम अतिचार है।

(२) **अधोव्यतिक्रम-** मर्यादित अधोभाग से अधिक गहरे नीचे कुएँ आदि में उतरना अधोव्यतिक्रम अतिचार है।

(३) **तिर्यग्व्यतिक्रम-** भूमि के बिल, पर्वत की गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा का उल्लंघन करना अथवा मर्यादा के बाहर आठों दिशाओं-विदिशाओं में घूमना तिर्यग्व्यतिक्रम है।

(४) **क्षेत्रवृद्धि-** लोभ कषाय में आकर क्षेत्र की पूर्व में ली हुई मर्यादा का परिमाण वढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है। प्रमाद के कारण, मोह के वशीभूत होकर और चित्त के व्यासंग होने से इन दिशाओं का अतिक्रम होता है।

(५) **स्मृत्यन्तराधान-** अनुस्मरण अर्थात् निश्चित की हुई मर्यादा को भूल जाना कि इतने योजन(किलो मी.) से आगे नहीं जाऊँगा, ऐसी की गई प्रतिज्ञा को भूल जाना स्मृत्यन्तराधान कहलाता है। ये पाँच दिग्विरतिव्रत के अतिचार/ अतिक्रम है।

देशव्रत के अतिचार-

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ।।३१।।

अर्थ- आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पाँच देश व्रत के अतिचार है।

विशेषार्थ- (१) **आनयन-** अपने संकल्पित देश/ क्षेत्र में रहते हुए मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु किसी के द्वारा मंगवाना आनयन अतिचार कहलाता है।

(२) **प्रेष्यप्रयोग-** मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में नौकर आदि किसी को भेजकर 'ऐसा कार्य करके आओ' आदेशित कर इच्छित कार्य की सिद्धि करना प्रेष्यप्रयोग अतिचार है।

(३) **शब्दानुपात-** मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले लोगों अथवा नौकर आदि को खॉसी आदि शब्द के द्वारा अथवा हूँ-हूँ करके कार्य कराना या अपना अभिप्राय बता देना यह शब्दानुपात अतिचार है।

(४) **रूपानुपात-** मर्यादा के बाहर काम करने वाले पुरुषों को अपना रूप/ शरीर दिखाकर हाथ आदि का संकेत करके अपना अभिप्राय बता देना, अपना कार्य कराना रूपानुपात अतिचार है।

(ङ) **पुद्‍गलक्षेप-** मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों, मजदूरों को कंकर-पत्थर फेंककर अपनी ओर आकर्षित करके अपना अभिप्राय बताकर कार्य कराना पुद्‍गल क्षेप नाम का अतिचार है।

अनर्थदण्ड(उपभोग-परिभोग परिमाण) व्रत के अतिचार-

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या समीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ।।३२।।

अर्थ- कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोग-परिभोग अनर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) **कन्दर्प-** राग के उद्रेक (तीव्रता) से हास्यसहित अशिष्ट- अशोभनीय वचन बोलना कन्दर्प कहलाता है।

(२) **कौत्कुच्य-** हास्य और अशिष्ट वचन बोलने के साथ शरीर से भी कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है।

(३) **मौखर्य-** धृष्टता पूर्वक यद्वा-तद्वा बहुप्रलाप अर्थात् धृष्टतापूर्वक (हाई-फाई) बहुत अधिक बकवास करना मौखर्य है।

(४) **असमीक्ष्याधिकरण-** किसी प्रयोजन के बिना मर्यादा के बाहर अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है।

(५) **उपभोग-परिभोग अनर्थक्य-** जितनी भोगोपभोग सामग्री से काम चल सकता है वह 'अर्थ' कहलाता है एवं भोग व उपभोग पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना 'अनर्थक्य' कहलाता है।

सामायिकव्रत के अतिचार-

योग-दुष्प्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३।।

अर्थ- काय दुष्प्रणिधान, वचन दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर एवं समृत्यनुपस्थान ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) **कायदुष्प्रणिधान-** योग (मन,वचन,काय) का दुष्ट यानि पाप परिणाम अथवा योगों का अन्यथा प्रवर्तन योग दुष्प्रणिधान है। क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के आंगोपांग का विचित्र अथवा विकृत रूप होना, शरीर को निश्चल नहीं रखना काय दुष्प्रणिधान है।

(२) **वाग्दुष्प्रणिधान-** वर्ण संस्कार (शुद्ध शब्द उच्चारण) का अभाव, अर्थ के आगमत्व में चपलता, सामायिक के मंत्रों आदि को अशुद्ध और जल्दी जल्दी बोलना वाचनिक दुष्प्रणिधान है।

(३) **मनोदुष्प्रणिधान-** सामायिक में मन का उपयोग नहीं लगाना, चंचल रहना मनोदुष्प्रणिधान है।

(४) **अनादर-** अनुत्साह को अनादर कहते हैं। अर्थात् विधिवत दिग्वंदन, चैत्य भक्ति आदि पढ़ने रूप कर्त्तव्य-क्रियाओं का जिस-किसी भी तरह मात्र निर्वाह करना अनादर या अनुत्साह कहलाता है। सामायिक के प्रति उत्साह नहीं होना ही अनादर है।

(५) **स्मृत्यनुपस्थान-** चित्त की एकाग्रता का नहीं होना तथा मन में समाधिरूपता का न होना, चित्त की चंचलता से पाठ आदि का विस्मृत(भूल) जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार-

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमाजितोत्सर्गा-दान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ।।३४।।

अर्थ- अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षितअप्रमार्जितः आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर एवं स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- यहाँ जीव-जन्तु है कि नहीं, आँखों से भली प्रकार देखना **प्रत्यवेक्षण** कहलाता है। कोमल उपकरण पिच्छिका आदि से भूमि का शोधन करना **प्रमार्जन** कहलाता है। इन प्रतिषेध विशिष्ट दोनों (अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित) का उत्सर्ग, आदान व संस्तरोपक्रमण इन तीनों के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए।

(१) **अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जितोत्सर्ग-** बिना देखी एवं बिना शोधी हुई भूमि पर मल-मूत्र आदि का त्याग करना अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग है।

(२) **अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान-** बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर अर्हन्त आदि की पूजा के उपकरणों का रखना, उठाना और परिधान अर्थात् पहनने, बिछाने आदि के वस्त्र अथवा उपकरणों का रखना, उठाना अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान है।

(३) **अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण-** बिना देखी बिना शोधी हुई भूमि पर संस्तर चटाई आदि का बिछाना, बिना देखे, बिना शोधे ही उस पर बैठना, सोना अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है।

(४) **अनादर-** उपवास के कारण भूख-प्यास आदि से पीड़ित होने पर अपनी आवश्यक क्रियाओं में उत्साह का न होना अनादर है।

(५) **स्मृत्यनुपस्थान-** स्मृत्यनुपस्थान का लक्षण पूर्व सूत्र में कथन कर चुके हैं अर्थात् अहोरात्रिक (रात्रि व दिन की) आवश्यक क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता से भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षा व्रत के अतिचार है।

भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत के अतिचार-

सचित्त संबंध संमिश्राभिषव-दुष्पक्वाहारः ।।३५।।

अर्थ- सचित्त, सचित्त संबंध, सचित्त मिश्रण, अभिषव और दुष्पक्व आहार ये पाँच उपभोग-परिभोग परिमाण शिक्षाव्रत के अतिचार है।

विशेषार्थ- (१) **सचित्त-** चित्त सहित है जो वस्तु, वह सचित्त कहलाती है। चित नाम विज्ञान का है और विज्ञान नाम चेतना का है इसलिए सचेतन पुष्प, पत्र, फल आदि का खाना सचित्त भोगोपभोग है।

(२) **सचित्त संबंध आहार-** सचित्त वस्तु से संबंध को प्राप्त हुई वस्तु का ग्रहण करना, खाना सचित्त संबंध आहार हैं

(३) **सचित्त समिश्र आहार-** सचित्त वस्तु से मिश्रित (मिली हुई) वस्तु का आहार में लेना सचित्त समिश्र (आहार) भोगोपभोग है।

(४) **अभिषव आहार-** द्रव, वृष्य, अभिषव ये समानार्थक शब्द हैं। उत्तेजक भोजन को अभिषव आहार कहते हैं अर्थात् द्रव यानि सिरका, सोस आदि तथा उत्तेजक, कामोद्दीपक, पुष्टिकारक आहार अभिषव आहार है।

(५) **दुःपक्व आहार**- जो भोज्य सामग्री भले प्रकार नहीं पकी हो, अर्धपक्व हो अथवा ज्यादा पकी(जली हुई) वस्तु का आहार में सेवन करना दुःपक्व आहार है। इनके खाने से आहार विशिष्ट होता है। ये पाँचों आहार के विशेषण हैं। इनसे आहार पाँच प्रकार का हो जाता है जैसे- सचित्ताहार, संबंधाहार, संमिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये भोगोपभोग परिसंख्यानव्रत के अतिचार हैं।

अतिथि संविभागव्रत के अतिचार-

सचित्त-निक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमाः ।।३६।।

अर्थ- सचित्तनिक्षेप, सचित्तअपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य एवं कालातिक्रम ये पाँच अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ- (१) सचित्त निक्षेप- सचित्त कमलपत्र, कदली(केला) पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु आहार में देना सचित्त निक्षेप अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत का अतिचार है।

(२) **सचित्त अपिधान**- अपिधान और आवरण ये एकार्थवाची शब्द हैं। सचित्त पत्ते आदि से ढ़की हुई वस्तु आहार में देना सचित्त अपिधान अतिचार है।

(३) **परव्यपदेश**- यह अन्य दाता का द्रव्य है, ऐसा कहकर आहार में देना अथवा दूसरे का द्रव्य बिना पूँछे उठाकर दे देना तथा स्वयं आहार दान न देकर किसी दूसरे से दिलवाना परव्यपदेश नाम अतिथि संविभाग व्रत का अतिचार है।

(४) **मात्सर्य**- अतिथि को आहार देते समय अनादर भाव का होना तथा अन्य दाता के गुणों को सहन नहीं करना, अन्य दाताओं से ईर्ष्याभाव रखना मात्सर्य अतिचार है।

(५) **कालातिक्रम-** साधुओं के भिक्षाकाल को टालकर आहार देना अर्थात् मुनिराजों के योग्य काल का अतिक्रम(उल्लंघन) करके अकाल में आहार दान देना अथवा साधुओं का अयोग्य काल में आहार कराना कालातिक्रम नाम का अतिचार है।

<u>सल्लेखना के अतिचार-</u>

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ।।३७।।

अर्थ- जीने की आकांक्षा, मरने की आकांक्षा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान बंध ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार है।

विशषार्थ- (१) **जीवितशंसा-** सल्लेखना धारण करके फिर जीवन जीने की आकांक्षा रखना जीवितशंसा अतिचार है।

(२) **मरणाशंसा-** रोग आदि की वेदना से घबराकर जल्दी मरने की इच्छा करना सल्लेखना का मरणाशंसा नाम का अतिचार है।

(३) **मित्रानुराग-** पूर्व अवस्था में जिनके साथ खेले-पढ़े, उठे-बैठे उन मित्रों के प्रति राग भाव से स्मरण करना मित्रानुराग नाम का सल्लेखना का तीसरा अतिचार है।

(४) **सुखानुबन्ध-** पूर्वकाल- गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों-इन्द्रिय जन्य सुखों का स्मरण करना स्मृति समन्वाहार सुखानुबंध नाम का सल्लेखना का चौथा अतिचार है।

(५) **निदान बंध-** भविष्यकाल में उत्तमोत्तम भोगों की वाञ्छा, उत्तम पदों चक्रवर्ती, नारायण आदि पद अथवा राजसी ठाटवाट प्राप्ति की आकांक्षा करना निदान बंध नाम सल्लेखना का पाँचवाँ अतिचार है।

सप्तम् अध्याय

दान का लक्षण-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।३८।।

अर्थ- स्व और पर के अनुग्रह (उपकार) के लिए स्वयं के धन आदि का देना दान कहलाता है।

विशेषार्थ- स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। मुनिराजों को दान देने से दाता (श्रावक) के भारी पुण्य का संचय होता है, यह स्वोपकार है और शुद्ध आहार करने से साधुओं के ज्ञान, ध्यान, तप आदि की वृद्धि होती है, वह परोपकार है। ऐसे इन्हीं पवित्र भावों से दिया गया दान वास्तव में दान कहलाता है। उत्तम पात्र आदि को दान देने से निश्चित ही पात्र और दाता दोनों का मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है। पात्र अर्थात् मुनिराज तो मोक्षमार्ग में पुरूषार्थरत हैं ही तथा दाता परम्परा से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

ज्ञानोपकरण-शास्त्र, संयमोपकरण-पिच्छिका, शौचोपकरण-कमण्डलु आदि का दान भी परोपकार है, क्योंकि साधु शास्त्र स्वाध्याय आदि के माध्यम से धर्मोपदेश देकर श्रावकों का उपकार करते हैं। जिससे वह नियम-संयम धारण कर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होते हैं।

जिज्ञासा- अपने खून-मांस का दान देना क्या दान है?

समाधान- नहीं! ''अनुग्रहार्थं स्वस्य'' इस विशेषण से अपने शरीर का खून, मांस का देना (या अन्य कोई अवयव यथा सिर काट कर चढाना, पशुबलि आदि) ऐसी किसी अपवित्र वस्तु के दान करने का स्वतः ही निषेध हो जाता है। क्योंकि मांस अपने और दूसरे का अपकारक (अहित) करने वाला है तथा

मांस, रक्त आदि धन नहीं है, बल्कि दोनों के अपकार (दुर्गति) का ही हेतु है। इसलिए सूत्र में आये 'स्व' शब्द से मांसादि देने का सर्वथा निषेध होता है।

- (श्लो. ६/६४६-५०)

जो मूर्ख प्राणी मांस का दान करते हैं और जो लोलुपी उस मांस को किसी भी तरह से ग्रहण करते हैं, वे हिंसा मार्ग के प्रवर्तक दोनों ही (दाता एवं पात्र) मरकर नरक में निवास करते हैं। जो मूढ-बुद्धि धर्म के लिए मांस को देते हैं वे निश्चय से कालकूट विष को खाकर जीने का इच्छा करते हैं। - (अमितगति.श्रा. ६/६७-६८)

अन्यत्र भी ऐसा ही कथन किया गया है।

दान के फल में विशेषता कैसे-

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ।।३६।।

अर्थ- विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दाता विशेष एवं पात्र की विशेषता से दान के देने में फल-विशेष की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ- (१) विधि विशेष- प्रतिग्रह आदि को विधि विशेष कहते हैं अर्थात् पात्र का प्रतिग्रह यानि (१) पड़गाहन करना (२) उच्चासन देना, (३) पाद प्रक्षालन करना, (४) पूजा करना, (५) नमोस्तु करना, (६-७-८) मन-वचन एवं शरीर की शुद्धि रखना- बोलना और (६) आहार, पानी शुद्ध होना, बोलना इस नवधा भक्ति को विधि विशेष कहते हैं।

(२) द्रव्य विशेष- साधुजनों के स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि के परिणामों की वृद्धि में सहायक हो, ऐसा प्रासुक, सात्विक आहार आदि देना द्रव्य की विशेषता है।

(३) दाता विशेष- (१) दाता का पात्र के प्रति अनसूया(ईर्ष्या) नहीं होना अर्थात् श्रद्धा-भक्ति पूर्वक आहार देना (२) दान देने में विषाद नहीं होना अर्थात् हर्षित होकर दान देना (३) धर्मानुरागी होना (४) दान विधि का ज्ञान होना (५) लोभ रहित प्रवृति होना (६) क्षमा भाव होना यानि किसी से विसंवाद नहीं करना (७) प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं करना, निदान नहीं करना। इन सात गुणों से सहित दाता होता है।

इस प्रकार समस्त के प्रति दया भाव रखते हुए श्रद्धा भक्ति पूर्वक दान देना यह दातृ विशेष यानि दाता की विशेषता है।

(४) पात्र विशेष- मोक्ष के कारणभूत गुणों का संयोग जिस आत्मा में है यानि शुद्ध रत्नत्रय से युक्त जो है, वह पात्र विशेष है। विशिष्ट तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी होना ये पात्र विशेष है। पृथ्वी, बीज, पानी, आदि की विशेषता से जैसे विशेष फलोत्पत्ति की प्राप्ति देखी जाती है, उसी प्रकार विधि, द्रव्य, दातृ, पात्र की विशेषता से निश्चित ही दान के फल में भी विशेषता आती है।

जिज्ञासा- पात्र कितने प्रकार के होते हैं?

समाधान- सुपात्र तीन प्रकार के होते हैं-

(१) उत्तम पात्र- महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ (६वें गुणस्थानवर्ती) मुनिराज।

(२) मध्यम पात्र- आर्यिका एवं ऐलक, क्षुल्लक आदि तथा (ग्यारह प्रतिमा स्थानों में स्थित ५वें गुणस्थानवर्ती श्रावक)

(३) जघन्य पात्र- निकट भव्य, मोक्षाभिलाषी, अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) जीव।

सप्तम् अध्याय

जिज्ञासा- आर्यिकाओं को महाव्रती कहा जाता है, तब उन्हें उत्तम पात्र में ग्रहण क्यो नहीं किया?

समाधान- १) आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रत कहा है और उपचार उत्तम की श्रेणी में नहीं आता। उपचार को यथार्थ नहीं कहा, उपचार तो उप-चार है।

२) जिनागम में कहीं भी परमेष्ठी या उत्तम महापुरूषों में आर्यिका का नाम नहीं कहा गया है।

३) वस्त्रधारी का पंचम गुणस्थान कहा है, इससे ऊपर वे जा भी नहीं सकते, इसीलिए पूर्वाचार्यों ने मध्यम पात्र ही कहा है।

४) **देश व्रतान- वितैस, असामा रोपयंते बुधैस्ततः।**

महाव्रतानि सज्जाति इप्त्यर्थम्- उपचारतः ।। -८६/आचारसार/आ. वीरसेन

५) "गणधर आदि देवों ने आर्यिकाओं की सज्जाति आदि को सूचित करने के लिये उनमें उपचार से महाव्रत का आरोपण करना वतलाया है। अर्थात् साड़ी धारण करने से आर्यिकाओं में देशव्रत ही होते हैं, परन्तु सज्जाति(मनुष्यनी) आदि कारणों से गणधर देवों ने उनके उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया है।" -पृष्ठ २७३/ज्ञानामृत I/ग० आ० ज्ञानमति

६) उत्तम पात्र न होने के अन्य अनेक कारण और भी हैं, जैसे-

- द्रव्य स्त्री नाग्न्य संयम धारण नहीं कर सकती।

- क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं कर सकती।

- क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकती।

- तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकती।

- कर्मभूमि की द्रव्य स्त्री के प्रथम तीन उत्कृष्ट संहनन भी नहीं होते।

- १६वें, अच्युत स्वर्ग से ऊपर भी नहीं जा सकती।

- मासिक रजोधर्म के कारण सदैव अशुद्धि की आशंका बनी रहती है। ऐसी अनेक कमजोरियाँ द्रव्य स्त्री में पायी जाती हैं।

७) द्रव्य वेद से स्त्री एवं द्रव्य वेद से नपुंसक इनके क्षपक श्रेणी का आरोहण एवं दर्शन मोहनीय(कर्म) का क्षपण आदि निश्चित कार्यों का प्रतिषेध (जिनागम में) किया गया है। -कषाय पाहुड. सुत्त. पृष्ठ ६०

<u>जिज्ञासा</u>- पात्र(सुपात्र) के भेद तो बता दिये। कृपया यह भी बताइये कि कुपात्र किसे कहते हैं?

<u>समाधान</u>- कुलिंगधारी एवं बहुत आरंभ सारंभ करने तथा बहुत परिग्रह संचय में संलग्न, स्त्रियों को साथ रखने वाले, तत्त्वज्ञान से रहित, ऐसे कुबुद्धि के धारी, पत्थर की नौका के समान स्व-पर को संसार महासमुद्र में डुबाने वाले मिथ्यादृष्टि साधु कुपात्र हैं।

<u>कुपात्र का दान-</u>

अन्धकूपे वरं क्षिप्तं, द्रव्यं निर्णाश हेतवे।

न स्यात् कुदान मार्गेण, यतो दुस्तर पापदम्।।

-१६६/सुभा. रत्ना/आ. सकलकीर्ति

भावार्थ- नष्ट करने के उद्देश्य से अपने धन को अंधे कुऐ में डाल देना, क्योंकि उससे पापार्जन नहीं होगा, न ही संसार की वृद्धि होगी, किन्तु कुपात्र दान के फल से मनुष्य कुभोग भूमि में उत्पन्न होता है। जहाँ एक पैर वाला एवं सिंह,

सूकर, कुत्ता, बिलाव, कौआ आदि के कुरूप मुख वाला आधा तिर्यंच आधा मनुष्य रूप होता है, पश्चात् अनंत संसार में भ्रमण करता है।

जिज्ञासा- अपात्र किसे कहते हैं?

समाधान- दया रहित, हिंसादिक कार्यों में धर्म मानने वाला, तीव्र कषायवान सप्त व्यसनी, रात्रि में भोजन करने वाला, कंदमूल (आलू, प्याज, लहसुन, अरबी, अदरक, गाजर, मूली, शकरकंद, आदि) का सेवन करने वाला, मद्य-मांस-मधु, सेवी सप्तव्यसनी आदि अपात्र हैं तथा पत्थर, वटईयाँ, फोटो(चित्र) को साक्षात् भगवान मानकर पूजने वाले, वृक्ष, कुआँ, मूसल, दुकान व तिजोडी के ताले को देव मानकर पूजने वाले निःसंदेह मिथ्यादृष्टि अपात्र हैं।

मांसाहारी पशुओं कुत्ता, बिल्ली, बंदर एवं पक्षियों को पालने वाले अथवा उनको रोटी-दाना आदि खिलाकर धर्म मानने वाले, चीटीयों को आटा-शक्कर खिलाने में धर्म मानने वाले, मांसाहारी जीव कछुआ की अंगूठी आदि आभूषण पहिनने से धर्म एवं सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि की वृद्धि मानने वाले घोर मिथ्या दृष्टि जीव धर्म के विपरीत मान्यता से, इनके उपदेशक एवं आचरण करने वाले अपात्र हैं और नियम से दुर्गति के भाजन हैं।

जिनधर्म में ही नहीं, अन्य धर्मों में भी ऐसा ही कहा है- यथा- 'महाभारत' पुराण में लिखा है-

मद्य-मांस, अनशनं, रात्रै भोजनम् कंद-भक्षणम्।

ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा-जपः तपः।।

मार्कण्डेय ऋषि ने मार्कण्डेय पुराण में भी ऐसा ही कथन किया है।

जिज्ञासा- कछुआ तो भगवान मुनिसुव्रतनाथ का चिन्ह है, उसे धारण करने में क्या दोष है?

सप्तम् अध्याय

समाधान- कछुआ भगवान मुनिसुव्रतनाथ का चिन्ह है, यह बिलकुल सही है किन्तु भगवान पूज्य होते हैं, क्योंकि वह तीन लोक के स्वामी हैं, जगत के तारणहार हैं, १०० इन्द्र उन्हें पूजते हैं, नमस्कार करते हैं। परन्तु मांस भक्षी तिर्यंच कछुआ पूज्य नहीं होता है, न किसी के नमस्कार योग्य कहा गया है। फिर उसमें धर्म मानना, धन-सम्पत्ति, वैभव की प्राप्ति हो जाना मानना, विपरीत-मिथ्यात्व है। अधर्म है। दुर्गति का हेतु है। दूसरी बात अन्य तीर्थंकरों के भी बैल, हाथी, घोड़ा, शूकर, सेही, मगर, भैंसा, सर्प, सिंह आदि जो चिन्ह हैं, वे सभी धर्म के प्रवर्तक और सुख-सम्पत्ति ऐश्वर्य के देने वाले होने चाहिए और फिर काल वीतने पर भगवान किसी कोने मे बैठे रहेंगे और इन पशुओं की मूर्तियाँ आपकी विपरीत मान्यता और आचरण के कारण पूज्यता को प्राप्त होने लग जायेंगे जो सर्वथा विपरीत मिथ्यात्व व दुर्गति का मार्ग होगा। इसीलिए धन्धेबाज, स्वार्थीलोगों के बहकावें में न आवें। सत्य जिन धर्म, जिनेन्द्र देव आदि पंच परमेष्ठी की ही पूजा-भक्ति करें। उनके दर्शन मात्र से ही पापों का क्षय होता है व स्वर्गादिक सुखों एवं परम्परा से शाश्वत् सुख मोक्ष की प्राप्ति होती है। दर्शन स्तुति पाठ में आप स्वयं प्रतिदिन यह पढ़ते हैंः-

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनम्।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनम्।।
दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वंदनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम्।।

जो लोभी सुपात्र को दान नहीं देता उनके लिए पूर्वाचार्यों के अनुसार जिनेन्द्र आज्ञा-

जो व्यक्ति तपस्वीजनों आदि सुपात्रों को दान नहीं देता है, उस लोभी स्वार्थी मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। जिस घर में मोक्ष पुरूषार्थी निर्ग्रन्थ मुनिराजों के चरण नहीं पड़े वह तो चिड़ियों का घोसला मात्र है।

-दान शासनम्

सप्तम् अध्याय

जो श्रावक सुपात्रों को चार प्रकार का दान नहीं देता, कुछ त्याग नहीं करता, धर्म नहीं करता, न्यायपूर्वक भोग नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। वह ऐसा पतंगा(कीड़ा) है जो तीव्र लोभ कषाय रूपी अग्नि के मुख में पड़कर मर जाता है। इसमें संदेह नहीं है। -१२/ रयणसार /आ. कुंदकुंदस्वामी

जिस घर में योगीश्वरों मुनिराजों का आहार नहीं होता, उस घर में कुवेर के समान सम्पत्ति से क्या? जैसे खारे पानी से भरे उस समुद्र से और उस घर के भोजन से क्या प्रयोजन? जो घर आए अतिथि का पड़गाहन नहीं करता है। वह हाथ आए चिंतामणि रत्न को खोता है। वह तो उस धन की रखवाली करने वाला मात्र चौकीदार है। -६/१७-२६ /अमितगति श्राव.

अपात्र दान का फल-

ऊसर क्षेत्रे बीजं, शुष्के-वृक्षे च नीराभिषेकः ।

यथा-तथा दानं अपात्रे, दत्तुं खलु निरर्थकं भवति ।।

-५३२/भाव संग्रह/आ. देवसेनस्वामी

अर्थ- जिस प्रकार ऊसर भूमि में बीज का बोना, सूखे वृक्ष में पानी का सींचना व्यर्थ है, उसी प्रकार अपात्र को आहार आदि दान देना निरर्थक है।

-७/११८/हरि. पुराण

सुपात्र दान का फल-

(१) जहाँ रत्नत्रय से मंडित ऐसे सुपात्र अर्थात् निर्ग्रन्थ श्रमण को दान दिया जाता है, उसके फलस्वरूप विशेष रूप से भोगभूमि और स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा क्रमशः निर्वाण सुख मिलता है। ऐसा जिनेन्द्र प्रभु ने कहा है।

-१६२-१६३/सुभा. रत्ना/आ. सकलकीर्ति

(२) इस लोक में जो पुरूष जिनेन्द्र देव द्वारा कथित सप्तक्षेत्रों में अपने नीतिपूर्वक उपार्जित धन रूपी बीज को बोता है, वह तीनों लोकों के राज्य रूप लक्ष्मी(मोक्ष) फल को तथा पंच कल्याणक रूप फल की महाविभूति को भोगता है।

-१८/रयणसार/आ. कुंदकुंदस्वामी

सप्तक्षेत्र- जिनबिम्बं-जिनागारो, जिनयात्रा-प्रतिष्ठितं ।

दानं-पूजा च सिद्धांत लेखनं, सप्त क्षेत्रे करोम्यहं ।।

(३) जो भव्य जीव मुनि के आहार के बाद चौके में अवशिष्ट (बचे) अन्न को उत्तम प्रसाद मानकर ग्रहण करता है, वह संसार के सारभूत समस्त सुखों को भोगता है और क्रमशः मोक्ष सुख पाता है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

-२२/रयणसार

४) निश्चय से जिस प्रकार जल खून को धो देता है, उसी प्रकार निर्ग्रंथ मुनिराजों को नवधा भक्ति से दिया हुआ आहार दानादि गृहस्थ के पंचसूना एवं व्यापार कार्यों से निरंतर संचित हुए पाप को नष्ट कर देता है।

{पंचसूना= ऊखली, चूल्हा, चक्की, घिनोची(पानी), झाडू-बुहारी}

-११४/शिक्षाव्रत अधिकार/रत्न. श्रा.

(५) सिद्ध सारस्वत, न्यायवादी, महान तार्किक, भस्मव्याधि महारोग के उत्पन्न होने पर भी सम्यक्त्व की विराधना नहीं करने वाले अति प्राचीन आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं, हे भव्य! तुम्हें क्या चाहिए? बता- उच्च गोत्र, उत्तमोत्तम भोग, जगत में पूजा-प्रभावना, सुन्दर रूप तथा यशःकीर्ति तो सुनो, यह सब कैसे प्राप्त होता है?-

उच्चै गोत्रं प्रणतेर्भोगों- दानाद् उपासनात्-पूजा।

भक्तेः सुंदर रूपं स्तवनात् कीर्तिस्-तपोनिधिषु।। -११५/रत्न. श्राव.

अर्थ- तप के भण्डार निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र, आहार दानादि देने से उत्तमोत्तम भोग, नवधाभक्ति पूर्वक उपासना आदि करने से पूजा-प्रभावना-सम्मान, भक्ति अर्थात् उनके गुणों में अनुराग करने से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुंदर रूप तथा 'आप ज्ञान के सागर है' 'आप धरती के देवता हैं' इत्यादि स्तुति रूप गुणगान करने से यशःकीर्ति लोक में फैलती है, जगह-जगह यशगान होता है। हे भव्य! तू इन सुकार्यों को क्यों नहीं करता?

(६) राजा वज्रजंघ ने अपने ९६ पुत्रों में अंतिम ४८ वें युगल पुत्रों की अपनी महारानी के साथ आहार दान दिया था, उस पुण्य से वह ८वें भव में प्रथम तीर्थकर्ता आदिनाथ हुए और रानी स्त्रीलिंग छेदकर राजा श्रेयांश हुई और प्रथम दानतीर्थ के प्रवर्तक होकर उसी भव से मोक्ष गए।

(७)राजा श्रीषेण ने मुनि अर्ककीर्ति और अमितगति नाम के दो मुनिराजों को आहार दान दिया था। उसके फलस्वरूप परम्परा से शांतिनाथ तीर्थंकर हुए।

(८) नारायण श्री कृष्ण ने रोग ग्रस्त मुनिराज को निरामिष-प्रासुक औषधि अत्यंत श्रद्धा भक्ति पूर्वक आहार में दिलाई जिससे वह मुनिराज रोगमुक्त हो गए। इस पुण्य के फलस्वरूप वह आगामी चौबीसी में 'निर्मलगुप्त' नाम के १६वें तीर्थंकर होगें। ऐसे अनेक उदाहरण आगम में भरे पड़े हैं। जिनको सम्यक् श्रद्धा से ग्रहण कर आचरण में लाना चाहिए।

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः।

-----०।।...।।०-----

पाप और पुण्य

''यह सत्य है कि जो पापों से विरक्त नही हैं, उन्हें आगे कुयोनियों के दुःख भोगना ही होते हैं, उनका न तो उत्तम कुल में जन्म लेना काम आता है और न ही गुरु और जिनेन्द्र की देशना कार्यकारी होती है।'' –श्रमण मनोज्ञ सागर

''मोक्षमार्गी के लिए भोजन, भाषा और भाव इन तीनों की पूर्ण शुद्धि एवं पवित्रता चाहिए।'' –श्रमण मनोज्ञ सागर

''आश्चर्य! जिन लोगों को पापोदय से अर्थ की थोडी सी भी हानि होने पर तीव्र दुःख होता है, उन्हें धर्म की सम्पूर्ण हानि होने पर बिल्कुल भी दुःख क्यों नहीं होता? क्योंकि धर्म की हानि होने पर तो आगे सर्वस्व ही नष्ट होने वाला है।'' –श्रमण मनोज्ञ सागर

''अगरबत्ती जल रही हैं, जलते हुए सुगंध भी दे रही हैं, लेकिन उसके नीचे भी देखो, उसकी राख भी हो रही है। ऐसे ही आपका पुण्य भी भोगों में राख हो रहा हैं।'' –श्रमण मनोज्ञ सागर

''भैया! पुण्य का अहंकार नहीं करना, पुण्य कभी शाश्वत नहीं रहता। देखो, सुदर्शन चक्र सदैव प्रतिनारायण की आयुधशाला में उत्पन्न होता है किन्तु उसी चक्ररत्न से नारायण प्रतिनारायण की गर्दन धड़ से अलग कर देता हैं, सारा पुण्य क्षण भर में नष्ट हो जाता हैं।'' –श्रमण मनोज्ञ सागर

''जैसे एक बीज में एक वृक्ष विद्यमान है, वैसे ही एक आत्मा में महात्मा और परमात्मा विद्यमान है, परखने की दृष्टि चाहिए।''

''विश्वास मानना! जगत के नाते रिश्ते मात्र स्वार्थ व राग के हैं, राग की पूर्ति न होने पर क्षण भर में नष्ट हो जाता हैं।''

----||......||----

अथ अष्टमोऽध्यायः

(बंध तत्व का वर्णन)

बन्ध के कारण-

मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा-बन्धहेतवः ।।१।।

अर्थ- मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग ये पॉच बन्ध के कारण हैं।

विशेषार्थ- (१) मिथ्यादर्शन- पूर्व में कह आए हैं कि तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को अथवा अतत्वों के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं- (अ) अगृहीत (नैसर्गिक) मिथ्यादर्शन एवं (ब) गृहीत मिथ्यादर्शन।

अगृहीत अथवा नैसर्गिक मिथ्यादर्शन- मिथ्यात्व कर्म के उदय से पर के उपदेश के बिना ही जो धर्म के प्रति, तत्त्वार्थ के प्रति मिथ्या श्रद्धान होता है, उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन-दूसरों के उपदेश से जो अतत्त्व श्रद्धान होता है अर्थात् हिंसा में धर्म मानना, कुगुरुओं को गुरु मानना आदि, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके चार भेद हैं- क्रियावादी १८० भेद, अक्रियावादी ८४ भेद, अज्ञानियों के ६७ भेद एवं वैनयिक के ३२ भेद हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों के ३६३ भेद हैं। अथवा

एकान्त, विपरीत, संशय, विनय और अज्ञान ये पाँच भेद भी मिथ्यात्व के आगम में कहे हैं।

(१) **एकान्त मिथ्यादर्शन**- पदार्थ/ वस्तु अनेक धर्मात्मक होते हुए भी एक धर्म रूप मानना, एकान्त मिथ्यादर्शन हैं। जैसे- वस्तु अनित्य ही मानना या नित्य ही मानना, सत् ही है ऐसा मानना या असत् है ऐसा एकान्त से मानना।

(२) **विपरीत मिथ्यादर्शन**- हिंसा में धर्म मानना, परिग्रह सहित होते हुए भी अपने को निस्परिगृही कहना, केवली भगवान को कवलाहारी कहना, स्त्री को भी मोक्ष होना मानना इत्यादि विपरीत श्रद्धान करना, मानना विपरीत मिथ्यादर्शन है।

(३) **संशय मिथ्यादर्शन**- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं? ऐसी द्विविधा होना एवं जिनेन्द्र के वचनों में संदेह करना संशय मिथ्यादर्शन है।

(४) **विनय मिथ्यात्व**- सभी देवताओं को भगवान मानना, सभी मतावलंबियों की, सभी धर्मों की और सभी लोटा-सोंटा धारी एवं परिग्रही साधुओं की विनय करना, नमस्कार करना वैनयिक मिथ्यात्व है।

(५) **अज्ञान मिथ्यात्व**- अपने हित-अहित, कल्याण-अकल्याण का विचार किए बिना श्रद्धान करना अज्ञान मिथ्यात्व है तथा तत्त्वों को, सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय को अच्छी तरह जानते नहीं और जानना भी नहीं चाहते, मानना भी नहीं चाहते यह अज्ञान मिथ्यात्व है।

इस प्रकार उपरोक्त एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ऐसे पाँच प्रकार के जीवों के लक्षण कहे। इनके भेद-प्रभेद करने पर वह ३६३ होते हैं।

(२) **अविरति**- इसके १२ भेद है- ६ प्राणी असंयम, ६ इन्द्रिय असंयम

६ प्राणी असंयम- पाँच स्थावर- पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एवं त्रस- (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रीय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय) इन छह काय के जीवों की विराधना रूप छह प्रकार का प्राणी असंयम कहलाता है।

६ इन्द्रिय असंयम- पाँच इन्द्रियाँ- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय एवं मन को वश नहीं करना- यह छह प्रकार का इन्द्रिय असंयम है। इस प्रकार अविरति के १२ भेद है।

(३) **प्रमाद-** प्रमाद अनेक प्रकार के हैं। ८ प्रकार की शुद्धि-मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, शयनासन शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, विनय शुद्धि और व्युत्सर्ग शुद्धि तथा १० धर्म- उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य । इन आठ प्रकार की शुद्धि एवं दस धर्म में आदर पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करना प्रमाद है।- ''सर्वार्थ सिद्धि''

अथवा

शुभ कार्यों में अरूचि होना या आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। इसके १५ भेद हैं- ४ कषाय(क्रोध, मान, मायाचार और लोभ) ४ विकथा(स्त्रीकथा, भोजन कथा, व्यापार (चोर) कथा और राज्य(देश) कथा एवं इन्द्रियाँ ५, निद्रा १ और स्नेह (मोह) १

(४) **कषाय-** कषाय २५ हैं- अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ रूप ये १६ कषाय एवं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसकवेद ये ९ ईषत् कषाय मिलाकर पच्चीस कषाय हैं।

(५) **योग**- मन, वचन एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं। योग के १५ भेद हैं-

४ मनोयोग- सत्यमन, असत्यमन, उभयमन और अनुभयमन।
४ वचनयोग- सत्यवचन, असत्यवचन, उभयवचन और अनुभय वचन।
७ काययोग- औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, अहारक मिश्र और कार्माण।

इस प्रकार ये सब पाँचों मिलकर भी एक साथ बंध के कारण हो सकते हैं और पृथक-पृथक भी। जैसे-प्रथम मिथ्यात्वगुण स्थान में तो पाँचों ही बंध के कारण हैं। दूसरे, तीसरे व चौथे अर्थात् सासादन- सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के अविरति, कषाय, प्रमाद व योग ये चार कारण बंध के हेतु हैं। पाँचवें संयतासंयत गुण स्थान में विरति एवं अविरति मिली है, क्योंकि इसके त्रस हिंसा का त्याग मात्र है, (स्थावर का नहीं) तथा इन्द्रिय निरोध भी यथा शक्ति होता है अर्थात् एक देश विरति है तथा शेष तीन प्रमाद कषाय और योग बंध के कारण हैं। छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी प्रमाद कषाय और योग ये तीनों ही बंध के कारण हैं। सातवें, आठवें, नवमें एवं दसवें अर्थात् अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय इन चार गुणस्थानों में कषाय व योग ये दो बन्ध के कारण हैं। ग्यारहवें, बारहवें एवं तेरहवें अर्थात् उपशांतकषाय, क्षीण कषाय और संयोगकेवली के कर्मबंध का कारण एक योग मात्र है। अयोग केवली के बंध का कोई कारण सत्ता में ही नहीं है।

बन्ध का लक्षण-

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।।२।।

अर्थ- कषाय सहित होने से जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह पुद्गलिक स्कन्धों का ग्रहण, बन्ध कहलाता है।

विशेषार्थ- कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल समस्त लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। वे पुद्गल अनेकानेक प्रकार के हैं। उनमें अनंतानंत पुद्गल परमाणु कर्म रूप होने के योग्य हैं। जब कषाय से संतप्त संसारी प्राणी योग के द्वारा हलन-चलन करता है, तो सब ओर से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला जल में पड़कर सब ओर से पानी को खींचता है, वैसे ही आत्मा योग एवं कषाय के कारण से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन कर्म पुद्गलों के ग्रहण का नाम ही बन्ध है।

इस सूत्र में ''कर्म योग्यान'' न कहकर ''कर्मणो योग्यान्'' कहा है। यह इस बात को सूचित करता है कि जीव कर्म के निमित्त से सकषाय होता है और कषाय सहित होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इससे यह भी घटित होता है कि जीव व कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से है। पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने पर जीव में कषाय उत्पन्न होती है और कषाय के उत्पन्न होने से नवीन कर्मों का बन्ध होता है। इस तरह कर्मों की संतति(परम्परा) अनादि से निरंतर चली आ रही है। इसी कारण हम सभी अभी तक संसार में भटकते दिख रहे हैं।

''सकषायत्वात्'' इस पद द्वारा पुनः इस हेतु का निर्देश किया है कि तीव्र, मंद और मध्यम जैसी कषाय होती है, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध भी तीव्र, मंद एवं मध्यम रूप पड़ता है। जैसे ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्नि के अनुसार खल भाग और रस भाग रूप हो जाता है।

जैसे आतशी काँच आदि पात्र विशेष में पड़े अनेक प्रकार के बीज, पुष्प, फल गर्मी खाकर शराब रूप परिणमित हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में स्थित पुद्गल परमाणु भी कषाय व योग के निमित्त से कर्म रूप से परिणमन करते हैं, इसी को बंध कहते हैं।

अष्टम् अध्याय

बन्ध के भेद-

प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्-तद्विधयः ।।३।।

अर्थ- प्रकृतिबंध, स्थिति बंध, अनुभागबंध और प्रदेश बंध ये बंध के चार भेद हैं।

विशेषार्थ- (१) **प्रकृतिबंध-** प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। जैसे नीम का स्वभाव कड़वापन है, गुड़, मिश्री का स्वभाव मीठापन है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढ़ाकना है। दर्शनावरण कर्म का स्वभाव वस्तु के सामान्य प्रतिभास को न होने देना है। वेदनीय कर्म का स्वभाव साता-असाता अर्थात् क्रम से सुख और दुःख का अनुभव कराना है। दर्शन मोहनीय कर्म का स्वभाव (प्रकृति), तत्वों का अश्रद्धान अर्थात् श्रद्धान न होने देना है। चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति संयम धारण को रोकना है। आयु कर्म का स्वभाव जीव को किसी एक भव में रोके रखना है। नाम कर्म का स्वभाव नरक, तिर्यंचादि गति कहलाना है। गोत्रकर्म का स्वभाव उच्च और नीच कुल में उत्पन्न करना है। अन्तराय कर्म का स्वभाव दान, लाभ, भोग आदि में अन्तराय डालना है। कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं में इस प्रकार के स्वभाव का पड़ना प्रकृति बंध है।

(२) **स्थिति बन्ध-** आठों कर्मों का अपने-अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति बन्ध है। जैसे गाय, भैंस, अजा क्षीर (बकरी) का दूध अपने-अपने माधुर्य स्वभाव से जब तक च्युत नहीं होते, तब तक उसकी स्थिति कहलाती है, वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्म जितने समय तक अपने स्वभाव, अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ते, तब तक उस कर्म की स्थिति आत्मा के साथ बंधी रहती है।

(३) **अनुभाग बन्ध**- आठों कर्मों के फल विशेष को अनुभव कहते हैं। जैसे बकरी, गाय, भैंस के दूध में कम, अधिक शक्ति एवं माधुर्य रूप रस-विशेष होता है उसी प्रकार कर्मों की जो तीव्र, मंद और मध्यम रूप फल देने की शक्ति पड़ती है, उसे अनुभव या अनुभाग बन्ध कहते हैं।

(४) **प्रदेश बन्ध**- जो पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप परिणत होते हैं, परमाणुओं के द्वारा उनका प्रमाण निश्चय होना कि इतने परमाणुओं का बन्ध हुआ, सो प्रदेश बन्ध है। इस तरह बन्ध के ये चार भेद हैं।

इनमें से प्रकृति बंध और प्रदेश बन्ध तो योग के कारण होते हैं एवं स्थिति बन्ध और अनुभाग बंध कषाय के कारण से होते हैं। योग व कषाय के तीव्र या मंद या मध्यम होने से तदनुसार इन बंधो में भी अंतर पड़ता है।

<u>प्रकृति बन्ध के मूल भेद-</u>

आद्योज्ञानदर्शनावरण-वेदनीयमोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः ।।४।।

अर्थ- प्रथम 'प्रकृति बन्ध' के ८ भेद हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय।

विशेषार्थ- (१) **ज्ञानावरण**- जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण पड़ता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

(२)**दर्शनावरण**- जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण पड़ता है, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(३) **वेदनीय**- जिस कर्म के उदय या निमित्त से सुख-दुःख का वेदन होता है, वह वेदनीय कर्म है।

(४) **मोहनीय**- जिस कर्म के द्वारा आत्मा मोहित किया जाता है अथवा जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य वस्तु/पदार्थ को अपना समझने लगता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

(५) **आयु**- जिस कर्म के उदय या निमित्त से जीव नर-नरकादि भवान्तरों को जाता है अथवा जिसके उदय से जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में से किसी एक शरीर में रूका रहना पड़ता है, वह आयु कर्म है।

(६) **नाम कर्म**- जिस कर्म के उदय या निमित्त से शरीर और अंगोपांग की रचना होती है, उसे नाम कर्म कहते हैं।

(७) **गोत्र कर्म**- जिस कर्म के उदय या निमित्त से जीव ऊँच या नीच कुल में जन्मता, पैदा होता है, वह गोत्र कर्म है।

(८) **अन्तराय**- जो दाता और पात्र के बीच में आता है, विघ्न डालता है, अन्तरवर्ती है, वह अन्तराय कर्म है।

आत्मपरिणामों के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल परमाणु ज्ञानावरण आदि अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं। जैसे एक बार का खाया गया अन्न रस, रूधिर, मांस, मेदा, मज्जा, वीर्य रूप अनेक प्रकार से परिणमित होता है, साथ ही वह अन्न, विकार करने में समर्थ होकर वात, पित्त, कफ, खल, लार आदि रूप में भी परिणमन करता है। इसी प्रकार मूल ''प्रकृति-बन्ध'' आठ प्रकार का कहा है। और इनका जैसा नाम है, वैसा ही स्वरूप है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कर्म हैं अर्थात् जीव के अनुजीवी गुणों के घातक हैं और शेष चार वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र अघातिया हैं अर्थात् प्रतिजीवी गुणों के घातक हैं। घातिया कर्म के

नाश होने पर अर्हन्त अवस्था प्रकट होती है और आठों कर्मों के नाश होने पर सिद्ध अवस्था।

प्रकृति बंध के उत्तर भेद-

पञ्च- नव- द्वयष्टाविशंति-चतुर्द्विचत्वारिंशद-द्वि-पंचभेदा-यथाक्रमम् ।।५।।

अर्थ- ज्ञानावरण के ५ भेद, दर्शनावरण के ९ भेद, वेदनीय के २ भेद, मोहनीय के २८ भेद, आयु के ४ भेद, नाम के ४२ भेद, गोत्र के २ भेद और अन्तराय कर्म के ५ भेद हैं।

ज्ञानावरण के पाँच भेद-

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय केवलानाम् ।।६।।

अर्थ- मतिज्ञानावराण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं। मति ज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों का कथन पूर्व में, प्रथम अध्याय में कर चुके हैं।

जिज्ञासा- अभव्य में मनःपर्यय और केवलज्ञान उत्पन्न होने की शक्ति है या नहीं? यदि उसमें यह शक्ति है, तो वह अभव्य नहीं और यदि शक्ति नहीं है तो उसके मनःपर्यय ज्ञानावरण ओर केवल ज्ञानावरण मानना व्यर्थ है?

समाधान- अभव्य के द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान शक्ति रूप से तो विद्यमान हैं, परन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा इनका अभाव है।

जिज्ञासा- यदि अभव्य के भी दोनों शक्तियाँ हैं तो भव्य और अभव्य का भेद नहीं बनता है?

समाधान- शक्ति के होने अथवा न होने की अपेक्षा से भव्य और अभव्य का भेद नहीं है, किन्तु शक्ति के प्रकट होने की अपेक्षा से भेद है। अर्थात् जिसके सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे, वह भव्य है और जिसके यह गुण कभी प्रकट ही नहीं होंगे, वह अभव्य है।

दर्शनावरण कर्म के नौ भेद-

चक्षु-रचक्षुरवधि-केवलानां-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च।।७।।

अर्थ- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नौ दर्शनावरण कर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ- (१) **चक्षु दर्शनावरण**- जो कर्म चक्षु अर्थात् नेत्रों के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण भी न होने दे, वह चक्षुदर्शनावरण है।

(२) **अचक्षु दर्शनावरण**- जिस कर्म के उदय से चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों एवं मन से होने वाला वस्तु का सामान्य ग्रहण न होने दे, वह अचक्षु दर्शनावरण है।

(३) **अवधिदर्शनावरण**- जिस कर्म के उदय से अवधिज्ञान के पूर्व सामान्य अवलोकन का घात होता है अर्थात् जो अवधिदर्शन को रोके वह अवधिदर्शनावरण कर्म है।

(४) **केवल दर्शनावरण**- जिस कर्म के उदय से केवलज्ञान के साथ जो सामान्य अवलोकन को न होने दे, वह केवल दर्शनावरण है।

(५) <u>**निद्रा**</u>- जिस कर्म के उदय से निद्रा आती है वह निद्रा दर्शनावरण है। मद, खेद और परिश्रम जन्य थकावट को दूर करने के लिए सोना(नींद लेना) निद्रा कहलाती है। यह निद्रा भी दर्शनावरण कर्मबंध का कारण है।

(६) <u>**निद्रानिद्रा**</u>- जिस कर्म के उदय से निद्रा पर निद्रा आती है अर्थात् पुनः पुनः नींद लेना निद्रानिद्रा कहलाती है।

(७) <u>**प्रचला**</u>- जिस कर्म के उदय से प्राणी कुछ जगता है, कुछ सोता है, वह प्रचला है। प्रचला निद्रा वाला मनुष्य बैठा-बैठा भी सोता रहता है।

(८) <u>**प्रचलाप्रचला-**</u> जिस कर्म के उदय से सोते समय मुख से लार बहती है, कुछ अंगोपांग भी सोते में चलते-पटकते रहते हैं, हिलाने-डुलाने पर भी आसानी से नहीं जागता अर्थात् प्रचला की पुनःपुनः आवृति होना प्रचला प्रचला कहलाती है।

(९) <u>**स्त्यानगृद्धि-**</u> जिस कर्म के उदय से प्राणी सोते समय नाना प्रकार के भयंकर रौद्र कार्य वहाँ जाकर कर डालता है और आकर सो जाता है, किन्तु जागने पर उसे कुछ मालूम ही नहीं होता कि मैंने क्या कर डाला, उसे स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म कहते है।

<u>वेदनीय के दो भेद-</u>

सदसद्वेद्ये ।।८।।

अर्थ- वेदनीय कर्म के दो भेद हैं साताकर्म और असाताकर्म ।

विशेषार्थ- (१) <u>**साता वेदनीय कर्म**</u>- जिसके उदय से जीव देव, मनुष्य आदि गतियों में शारीरिक एवं मानसिक सुख का वेदन यानि अनुभव करता है उसे साता वेदनीय कर्म कहते हैं।

(२) <u>असाता वेदनीय-</u> जिसके उदय से नरक-तिर्यंचादि गतियों में शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करे, भोगे, उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं।

<u>मोहनीय कर्म के २८ भेद-</u>

दर्शन-चारित्रमोहिनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्वि-नव-षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसकवेदा-अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन-विकल्पाशचैकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः ।।९।।

अर्थ- **<u>मोहनीय कर्म</u>** दो प्रकार का है-<u>दर्शन मोहनीय</u> और <u>चारित्र मोहनीय</u>। दर्शन मोहनीय के ३ भेद हैं-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व एवं सम्यक् मिथ्यात्व। चारित्र मोहनीय के २ भेद हैं- अकषाय वेदनीय और कषायवेदनीय। अकषाय वेदनीय के ९ भेद हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसकवेद। कषाय वेदनीय के १६ भेद हैं- अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ। इस तरह मोहनीय कर्म के उपरोक्त २८ भेद हैं।

विशेषार्थ- (१) **<u>दर्शन मोहनीय कर्म-</u>** इस कर्म के तीन भेदों में से बंध तो केवल एक मात्र मिथ्यात्व का ही होता है किन्तु जब जीव को प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है, उस समय मिथ्यात्व के तीन भाग हो जाते हैं। अतः सत्ता और उदय की अपेक्षा दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं-

(क) <u>मिथ्यात्व प्रकृति</u>- जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ कथित मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धान से उदासीन तथा अपने हित-अहित के विचार से शून्य मिथ्यादृष्टि होता है, उसे मिथ्याात्व प्रकृति कहते हैं।

(ख) <u>सम्यक्त्व (मोहनीय) प्रकृति</u>- अपने शुभ परिणामों के द्वारा जब उस मिथ्यात्व की शक्ति उदासीन रूप से घटा दी जाती है तब वह आत्मा के श्रद्धान को रोक नहीं पाता, उसे सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति कहते हैं। इसमें सम्यक्त्व, दोष सहित होता है।

(ग) <u>सम्यक् मिथ्यात्व(मोहनीय) प्रकृति</u>- और जब उसी मिथ्यात्व की शक्ति आधी शुद्ध हो जाती है अथवा कम-अधिक मद शक्ति वाले कोदों के समान आधी शुद्ध एवं आधा अशुद्ध रस वाला होता है, तब उसे सम्यक्त्व-मिथ्यात्व अथवा मिश्र प्रकृति कहते हैं। अथवा जिस कर्म के उदय से दही और गुड़ के मिले हुए स्वाद के समान उभय अर्थात् सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व रूप मिश्र श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति कहते हैं।

(२) <u>चारित्र मोहनीय कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से आत्मा के चारित्र गुण का घात होता है, उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं- (अ)अकषाय वेदनीय और (ब)कषाय वेदनीय।

(अ) अकषाय वेदनीय चारित्र मोह- अकषाय का अर्थ किञ्चित कषाय है, इसे ईषत् कषाय अथवा नोकषाय भी कहते हैं। यह कषाय ६ प्रकार की है-

(क) **<u>हास्य-</u>** जिस कर्म के उदय से हँसी आती है, उसे हास्य नो कषाय कहते हैं।

ख) रति- जिस कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयों में अथवा देश आदि यानि दव्य, क्षेत्र, काल, भव आदि में भी अनुराग होता है, वह रति ईषत् कषाय है।

ग) अरति- जिस कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयों में अथवा देश, काल आदि में द्वेष उत्पन्न होता है, उसे अरति नो कषाय कहते हैं।

घ) शोक- जिस कर्म के उदय से आत्मा में सोचन अथवा चिंता अथवा रंज होता है, वह शोक नो कषाय है।

ड़) भय- जिस कर्म के उदय से आत्मा में उद्वेग होता है अथवा भयभीत होता है उसे भय ईषत् कषाय कहते हैं। इहलोकभय, परलोकभय आदि के भेद से भय ७ प्रकार का होता है।

च) जुगुप्सा- जिस कर्म के उदय से दूसरे से ग्लानि या घृणा होती है अथवा जिसके उदय से अपने दोषों को ढ़ाँकता है और दूसरों के कुल, शील आदि में दोष लगाता है, उनको प्रकट करता है, वह जुगुप्सा नो कषाय कहलाती है।

छ) स्त्रीवेद- जिस नो कषाय के उदय से आत्मा में स्त्रीत्व सूचक भाव उत्पन्न होते हैं अथवा जिसके उदय से पुरूष से रमण की इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद है।

ज) पुरूषवेद- जिस कर्म के उदय से आत्मा पुरूषत्व सूचक भाव को प्राप्त होता है अथवा जिसके उदय से स्त्री रमण की इच्छा होती है वह पुंवेद नो कषाय है।

झ) नपुंसक वेद- जिस कर्म के उदय से आत्मा में स्त्रीत्व और पुरूषत्व दोनों से पृथक तीसरे प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं अथवा जिसके उदय से स्त्री व पुरूष दोनों से रमने की इच्छा होती है, वह नपुंसक वेद नो कषाय है। इन

कषायों में आगे-आगे मंदता होती है और नीच-नीचे तीव्रता होती है। स्त्रीवेद और पुरूषवेद के सूचक १४ चिन्ह मिश्र रूप से नपुंसकवेद के लक्षण हैं।

(ब) **कषाय वेदनीय चारित्रमोह**- जो आत्मा के गुणों को, शुभ भावों को, शुद्ध भावों को, धर्म क्षेत्र या स्व के धर्म को कसता (नष्ट) करता है, उसे कषाय वेदनीय कहते हैं।

कषाय वेदनीय- १६ प्रकार की है। मूल कषाय चार हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थायें है जैसे-अनन्तानुबंधी क्रोध, मान माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान ,माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

अनन्तानुबंधी (४)- जिस कषाय के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण का नाश होता है, अथवा अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनंत कहा है क्योंकि मिथ्यादर्शन को अनन्तकाल को बांधने वाली क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें हैं, इसलिए ये चारों अनंतानुबंधी कषाय हैं।

अप्रत्याख्यानावरण (४)- जिसके उदय से यह जीव ईषत् (अल्प) भी देश चारित्र रूप भाव को प्राप्त नहीं होता अर्थात् थोड़ा सा भी संयम धारण नहीं कर सकता। इस प्रकार देश व्रत का आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया,लोभ ये चार कषायें हैं।

प्रत्याख्यानावरण (४)- जिस क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के उदय से जीव के सकल चारित्र धारण करने के भाव ही नहीं होते, वह समस्त प्रत्याख्यान अर्थात् सर्वत्याग को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय है।

संज्वलन (४)- जिस क्रोध, मान, माया या लोभ के उदय से मुनि के यथाख्यात रूप शुद्धोपयोग चारित्र नहीं प्रकट होता किंतु जिसके रहने पर संयम हो सकता है, वह संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय है।

ये कषाय वेदनीय के १६ भेद हैं, इस तरह मोहनीय कर्म की सभी २८ प्रकृतियों का संक्षिप्त कथन पूर्ण हुआ।

आयु कर्म के ४भेद-

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-देवानि ।।१०।।

अर्थ- नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु कर्म के भेद या उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ- (१) नरकायु- जिसके उदय से जीव मानसिक, शारीरिक, क्षेत्रीय, परकृत दुःखों एवं तीव्र शीत और तीव्र उष्ण आदि अति वेदना कारक नरकों में दीर्घकाल तक जीवित रहता है, वह नरकायु है।

(२) तिर्यंचायु- जिसका उदय होने पर भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, मारन-ताड़न् आदि अनेकानेक, दुःखों के स्थान-भूत तिर्यंच पर्याय/ तिर्यग्योनि में जीवित रहता है, वह तिर्यंचायु है।

(३) मनुष्यायु- जिसके उदय से जीव मानसिक, शारीरिक तृष्णा रूप अनेक सुख-दुःख से समाकुल इस मनुष्य-गति या पर्याय में जन्म ले, जीवित रहे, वह मनुष्यायु है।

(४) देवायु- जिसके उदय से प्राणी प्रायःकर शारीरिक एवं मानसिक सुखों से युक्त देव पर्याय में दीर्घकाल तक जीवित रहता है, वह देवायु है। इस प्रकार

आयुकर्म की चार उत्तर-प्रकृतियों का कथन किया। अब नाम कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं।

नाम कर्म की प्रकृतियाँ-

गति-जाति-शरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श -रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्या-गुरु-लघूपघात-परघाता-तपोद्योतोच्छ्वास विहायोगतयः प्रत्येक शरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति- स्थिरा-देय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थंकरत्वं च ।।११।।

अर्थ- गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति ये इक्कीस (२१) तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति एवं इन दसों के प्रतिपक्षी अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, वादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशःकीर्ति एवं तीर्थंकर प्रकृति ये (२१) इस प्रकार (२१+२१=४२) बयालिस नाम कर्म की प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ- (१) गति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है, उसे गतिनाम कर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं- (क) नरक गति (ख) तिर्यञ्च गति (ग) मनुष्य गति (घ) देव गति। जिस कर्म के उदय से प्राणी को नरक पर्याय में जाना पड़ता है अथवा जिस कर्म के उदय से नारक भाव को प्राप्त होता है उसे नरकगति नाम कर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य गतियों के भेदों के लक्षण जानना।

(२) जाति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से नरक आदि चारों गतियों में अनेक प्राणियों में अव्यभिचारी समानता अर्थात् अविरोधी समान अवस्था प्राप्त होती है, उसे जाति नाम कर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं।- (क) एकेन्द्रिय-जाति नाम कर्म (ख) द्विन्द्रिय जाति नाम कर्म (ग) त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म (घ) चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म और (ड़) पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म। जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय कहलाता है अथवा एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होता है उसे एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं, इसी प्रकार शेष भेदों के लक्षण लगा लेना चाहिए।

(३) शरीर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नाम कर्म है। इसके पाँच भेद हैं- (क) औदारिक (ख) वैक्रियक (ग)आहारक (घ) तैजस (ड़) कार्माण शरीर के भेद से शरीर पाँच प्रकार के हैं। औदारिक शरीर नाम कर्म-जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर की रचना हो, वह औदारिक शरीर नाम कर्म है। इसी तरह शेष भेदों में लगा लेना चाहिए। इन पाँचों शरीरों के लक्षण दूसरे अध्याय में कहे हैं।

(४) अंगोपांग नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से अंग व उपांगों की रचना होती है, वह अंगोपांग नाम कर्म है। इसके तीन भेद हैं- (क) औदारिक शरीर अंगोपांग (ख) वैक्रियक शरीर अंगोपांग एवं (ग) आहारक शरीर अंगोपांग (तेजस व कार्माण शरीर के अंगोपांग नहीं होते) शरीर में ८ अंग होते हैं- मस्तक, हृदय, पीठ, नितम्ब, दो हाथ और दो पैर । शेष शरीर स्थित आँख, नाक, कान, हाथ-पैरों की अंगुलियाँ आदि की रचना जिस कर्म के उदय से होती है, वह उपांग नाम कर्म है। - (सर्वार्थ सिद्धि पृ.३६०)

(५) निर्माण नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से अंग व उपांगों की यथा स्थान और यथा प्रमाण रचना होती है, उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं- (क) स्थान नाम कर्म (ख) प्रमाण नाम कर्म। यह नाम कर्म, जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा ही जानना। अर्थात् यह जाति नाम कर्म के उदय का अवलम्बन लेकर चक्षु आदि अवयवों के निश्चित स्थान और उसके प्रमाण की रचना करता है।

(६) बन्धन नाम कर्म- शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किए गए पुद्गल स्कन्धों का परस्पर में मिलन जिस कर्म के उदय से होता है, उसे बन्धन नाम कर्म कहते हैं। बन्धन के पाँच भेद हैं- (क) औदारिक शरीर बंधन नाम कर्म (ख) वैक्रियक शरीर बंधन नाम कर्म (ग) आहारक शरीर बंधन नाम कर्म (घ) तैजस शरीर बंधन नाम कर्म (ड़) कार्माण शरीर बंधन नाम कर्म।

औदारिक शरीर बंधन नाम कर्म- जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवाल में लगी ईटों और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर सम्बंध को प्राप्त होते हैं, वह औदारिक शरीर बंधन नाम कर्म है। इसी प्रकार अन्य भेंदों के लक्षण जानना चाहिए।

(७) संघात नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों में परस्पर छिद्र रहित एक-मेकपन होता है, उसे संघात नाम कर्म कहते हैं। इसके भी औदारिक शरीर संघात नाम कर्म आदि पाँच भेद हैं।

(८) संस्थान नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है, उसे संस्थान नाम कर्म कहते हैं। इसके छह भेद हैं-(क)

समचतुरस्र संस्थान (ख) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (ग) स्वाति संस्थान (घ) कुब्जक संस्थान (ड़) वामन संस्थान (च) हुण्डक संस्थान।

(क) समचतुरस्र संस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना ऊपर, नीचे एवं मध्य में समान (संतुलित) सांचे में ढ़ली जैसी होती है, उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म कहते है।

(ख) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान- जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर मोटा और नीचे पतला शरीर हो, वह न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान है, जैसे वट का वृक्ष।

(ग) स्वाति संस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार सर्प की वामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा अर्थात् कमर, कूल्हा चौड़ा होता है, उसे स्वाति संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

(घ) कुब्जक संस्थान- जिस कर्म के उदय से कुबड़ा शरीर होता है, उसे कुब्जक संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

(ड़) वामन संस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर बौना होता है, उसे वामन संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

(च) हुण्डक संस्थान- जिस कर्म के उदय से शरीर विरूप, बेडोल होता है, अंगोपांग किसी खास आकार में नहीं होते, वह हुण्डक संस्थान नाम कर्म है।

(६) संहनन नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से हड्डियों में बन्धन विशेष होता है, वह संहनन नाम कर्म है। इसके छह भेद हैं- (क) वज्र व्रषभनाराच संहनन (ख) वज्र नाराच संहनन (ग) नाराच संहनन (घ) अर्धनाराच संहनन (ड़) कीलित संहनन (च) असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन।

(क) वज्रवृषभ नाराच संहनन- जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्टन) नाराच(कीलें) व संहनन (हड्डियाँ) वज्र की हों, वह वज्र- वृषभ नाराच संहनन नाम कर्म है।

(ख) वज्रनाराच संहनन- जिस कर्म के उदय से कीलें एवं हड्डियाँ वज्र की हों, किन्तु वेष्टन सामान्य हो, वह वज्र नाराच संहनन नाम कर्म है।

(ग) नाराच संहनन- जिस कर्म के उदय से हड्डियों के जोड़ों में कीलें हों, वह नाराच संहनन कर्म है।

(घ) अर्धनाराच संहनन- जिस कर्म के उदय से हड्डियों की संधिया अर्ध कीलित हों, अर्थात् हड्डियाँ एक ओर से हड्डियों में फँसी हो, किन्तु दूसरी ओर से साधारण स्थित हों, वह अर्धनाराच संहनन नाम कर्म है।

(ड़) कीलित संहनन- जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ परस्पर कीलित हों, अलग से कील न हो, वह कीलित संहनन नाम कर्म हैं।

(च) असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन- जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ परस्पर में कीलित नहीं हों, पृथक-पृथक हड्डियाँ सिरा, स्नायु, नसों व माँस से बंधी/ वेष्टित हों, वह असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन नाम कर्म है।

(१०) स्पर्श नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श प्रकट हो, वह स्पर्श नाम कर्म है। इसके ८ भेद हैं- (क) कर्कश(कठोर) नाम कर्म (ख) मृदु (कोमल) नाम (ग) गुरु नाम (घ) लघु नाम (ड़) स्निग्ध नाम (च) रूक्ष नाम (छ) शीत नाम (ज) उष्ण नाम कर्म।

(११) रस नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर में रस उत्पन्न हो, वह रस नाम कर्म है। इसके पाँच भेद हैं- (क) तिक्त(चरपरा) नाम (ख) कटुक(कड़वा)

नाम (ग) कषाय (कषायला) नाम (घ) आम्ल(खट्टा) नाम (ङ) मधुर(मीठा) नाम।

(१२) गंध नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर में गन्ध प्रकट हो, वह गंध नाम कर्म है। इसके दो भेद हैं- (क) सुगन्ध नाम (ख) दुर्गन्ध नाम।

(१३) वर्ण नाम कर्म- जिसके उदय से शरीर में वर्ण यानि रंग प्रकट हो, वह वर्ण नाम कर्म है। इसके पाँच भेद हैं- (क) कृष्ण वर्ण नाम (ख) शुक्ल वर्ण नाम (ग) नील वर्ण नाम (घ) रक्त (लाल) वर्ण नाम (ङ) हरित वर्ण नाम।

(१४) आनुपूर्व्य- जिस कर्म के उदय से विग्रह गति में पूर्व शरीर के आकार का नाश नहीं होता, वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। इसके चार भेद हैं- (क) नरक गत्यानुपूर्व्य नाम (ख) तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य नाम (ग) मनुष्य गत्यानुपूर्व्य नाम (घ) देवगत्यानुपूर्व्य नाम। जैसे मनुष्य मरकर नरक में उत्पन्न होने वाला है, किन्तु जब तक वह नरक में उत्पन्न नहीं होता, तब तक आत्मा के प्रदेश पूर्व शरीर(मनुष्य शरीर) के आकार ही रहते हैं। इसका नाम ही नरकगत्यानुपूर्व्य है। इसी प्रकार अन्य आनुपूर्व्य के लक्षण जानना।

(१५) अगुरुलघु नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न तो लोहे के गोले की तरह भारी होकर नीचे गिरता है और न ही रूई के समान हल्का होकर इधर-उधर उड़ता-फिरता है, वह अगुरुलघु नाम कर्म है।

(१६) उपघात नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से स्वयं जीव फांसी लगाकर, विषभक्षण करके अथवा अग्नि आदि में जलकर अपना घात करता है अथवा कर्मोदय से अपने ही अंगोपांग घातक उत्पन्न हों, जैसे नख, दाँत आदि और

पशुओं के सींग आदि उसके स्वयं के लिए घातक होते हैं, वह उपघात नाम कर्म है।

(१७) परघात नाम कर्म- जिसके उदय से दूसरे के अंगोपांग अथवा दूसरे की बन्दूक, तलवार, चाकू, लाठी आदि शस्त्र के द्वारा जीव का घात होवे, वह परघात नाम कर्म है।

(१८) आतपनाम कर्म- जिस कर्म के उदय से आतपकारी शरीर उत्पन्न हो अथवा कर्मोदय से शरीर में आतप उत्पन्न हो, वह आतप नाम कर्म है। विशेषता से इसका उदय सूर्य विम्ब में जो वादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव होते हैं, उन्हीं के होता है।

(१९) उद्योतनाम कर्म- जिसके उदय से उद्योत रूप शरीर हो, वह उद्योत नाम कर्म है। इसका उदय चन्द्रमा के बिम्ब में रहने वाले जीवों तथा जुगनू आदि जीवों के होता है।

(२०) उच्छ्वास नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से जीव के उच्छ्वास हो, वह उच्छ्वास नाम कर्म है।

(२१) विहायोगति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से विहाय यानि आकाश में गमन हो, वह विहायोगति नाम कर्म है। इसके दो भेद है- (क) प्रशस्त विहायोगति (ख) अप्रशस्त विहायोगति। (क) गज, वृषभ, हंस, मयूर आदि के गमन की तरह सुंदरगति(चाल) को प्रशस्त विहायोगति कहते है। और (ख) ऊँट, गधा, बिल्ली, कुत्ता, सर्प आदि के समान कुटिल गति को अप्रशस्त विहायोगति कहते हैं।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि मात्र पक्षी ही आकाश में गमन करते हैं। आकाश द्रव्य तो सर्वत्र है, अतः सभी जीव आकाश में ही गमनागमन करते हैं। तथा सिद्ध जीवों की गति स्वभाविक है, कर्मोदय से नहीं।

(२२) प्रत्येक शरीर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर नाम कर्म है।

(२३) साधारण शरीर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से एक शरीर के स्वामी अनेक जीव हों, वह साधारण शरीर नाम कर्म हैं। एकेन्द्रिय वनस्पति काय के दो भेद हैं- साधारण और प्रत्येक।

साधारण वरस्पति-जिन जीवों का एक साथ ही जन्म, एक साथ मरण, श्वासोच्छ्वास, आहार आदि होते हैं उनको साधारण वनस्पति जीव कहते हैं।

प्रत्येक वनस्पति- इसके भी दो भेद हैं- सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस शरीर का स्वामी मुख्य रूप से एक जीव हो किन्तु उसके आश्रित अनेक साधारण जीव रहते हों, वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक है और जिस एक शरीर के आश्रित अनेक जीव न हों, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

(२४) त्रस नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में जन्म होता है, उसको त्रस नाम कर्म कहते हैं।

(२५) स्थावर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीवों में जन्म होता है, उसको स्थावर नाम कर्म कहते हैं।

(२६) <u>सुभग नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से दूसरे प्राणी हमसे प्रीति करें अर्थात् किसी जीव को देखने अथवा सुनने पर उससे स्वतः अंतरंग से प्रीति उत्पन्न हो, वह सुभग नाम कर्म है।

(२७) <u>दुर्भग नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव हमसे प्रीति न करें अर्थात् सुंदर रूप लावण्य व सुंदर कार्य, व्यवहार आदि होने पर भी दूसरे अन्य जीवों को अच्छा न लगे, हमसे दूर रहना चाहें, वह दुर्भग नाम कर्म हैं।

(२८) <u>सुस्वर नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से मनोज्ञ, मनोहर स्वर (कण्ठ), वाणी हो तथा दूसरों को प्रिय लगे, वह सुस्वर नाम कर्म है।

(२६) <u>दुःस्वर नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से अमनोज्ञ, अप्रिय स्वर हो अथवा अप्रिय नहीं भी हो, किन्तु दूसरों को अच्छा न लगे, अन्य लोग चुप रहने को कहें, घृणा करें, वह दुःस्वर नाम कर्म है।

(३०) <u>शुभ नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव अर्थात् सुंदर, मनोज्ञ शरीर हो वह शुभ नाम कर्म है।

(३१) <u>अशुभ नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से असुंदर, अमनोज्ञ शरीर हो, जो देखने में अच्छा न लगे, वह अशुभ नाम कर्म है।

(३२) <u>सूक्ष्म नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, जो न तो दूसरों को रोकता है और न ही दूसरों से रूकने वाला होता हे, वह सूक्ष्म नाम कर्म है।

(३३) <u>वादर नाम कर्म</u> - जिस कर्म के उदय से वादर अर्थात् स्थूल शरीर हो, जो दूसरों से रूकने वाला हो और दूसरों को बाधा पहुँचाने वाला हो, वह वादर नाम कर्म है।

(३४) <u>पर्याप्ति नाम कर्म</u>- जिस कर्म के उदय से आहार आदि पर्याप्ति की पूर्णता हो, वह पर्याप्ति नाम कर्म है। इसके छह भेद हैं- (क) आहार पर्याप्ति नाम कर्म (ख) शरीर पर्याप्ति नाम (ग) इन्द्रिय पर्याप्ति नाम (घ) श्वासोच्छ्वास(प्राणापान) पर्याप्ति नाम (ड़) भाषा पर्याप्ति नाम और (च) मनः पर्याप्ति नाम कर्म।

(क) आहार पर्याप्ति- जिस कर्म के उदय से तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य पुद्‌गल वर्गणाओं को ग्रहण करके उनको रस रूप व खल भाग रूप परिणमन कराने की शक्ति होती है, वह आहार पर्याप्ति है।

(ख) शरीर पर्याप्ति- जिसको रस भाग रूप ग्रहण किया है उसको रक्त, मॉस आदि मृदु रूप रचना करने एवं खल भाग को हड्‌डी आदि कठोर रूप अवयवों की रचना करने की शक्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(ग) इन्द्रिय पर्याप्ति- जिसके उदय से शरीर, जिह्वा, नाक, आँख, कान इन्द्रियों की रचना करने की शक्ति हो, उसे इन्द्रिय पर्याप्ति नाम कर्म कहते हैं।

(घ) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति- जिसके उदय से श्वासोच्छ्वास लेने की शक्ति हो, वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है।

(ड़) भाषा पर्याप्ति- भाषा रूप परिणमन कराने की शक्ति को भाषा पर्याप्ति नाम कर्म कहते है।

(च) मनः पर्याप्ति- अष्ट दलाकार कमल के सदृश द्रव्य मन की रचना को मनःपर्याप्ति नाम कर्म कहते हैं।

(३५) अपर्याप्ति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से छहों पर्याप्तियों की पूर्णता नहीं होती अर्थात् पर्याप्तियाँ पूर्ण हुए बिना ही जीव मर जाता है, वह अपर्याप्ति नाम कर्म हैं।

एकेन्द्रिय के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्ति हैं। दो इन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के उपर्युक्त चारों और भाषा सहित पाँच पर्याप्ति होती हैं तथा सभी पंचेन्द्रिय के मन सहित होने से छहों पर्याप्ति हैं।

(३६) स्थिर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ रस, रूधिर, मॉस, मेदा, मज्जा, हाड और शुक्र तथा उपधातुएँ वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चर्म एवं जठराग्नि आदि अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होती हैं, उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं।

(३७) अस्थिर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ एवं उपधातुएँ अपने-अपने स्थान में स्थिर न रहें, वह अस्थिर नाम कर्म है। अर्थात् थोड़ा सा श्रम आदि करने से या सर्दी-गर्मी के लगने से शरीर मलीन हो जाता है, बीमार पड़ जाता है।

(३८) आदेय नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से शरीर व चेहरे आदि पर कान्ति या प्रभा होती है, उसे आदेय नाम कर्म कहते हैं।

(३९) अनादेय नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से शरीर प्रभाहीन, कान्तिहीन हो, वह अनादेय नाम कर्म है।

(४०) यशःकीर्ति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से जीव की जगत में प्रशंसा हो, जगह-जगह लोग यशगान करें, आदर-सम्मान देवें, वह यशःकीर्ति नाम कर्म है।

(४१) अयशःकीर्ति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से जीव की जगत में निंदा हो, उसका अपयश फैले, वह अपयशकीर्ति नाम कर्म है।

(४२) तीर्थंकर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद/अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति होती है, अथवा जिसके उदय से अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पद के साथ धर्म तीर्थ का प्रवर्तन होता है, वह तीर्थंकर नाम कर्म है।

इस प्रकार नाम कर्म के मूल भेद ४२ हैं एवं उनके उत्तर भेद ९३ होते हैं। जिन प्रकृतियों में भेद पाये जाते हैं, उनके भेदों को ग्रहण न करके एक मूल नाम ही ग्रहण किया जाता है, वह पिण्ड प्रकृति कहलाती है, वह १४ हैं। और जिनमें भेद नहीं हैं, ऐसी २८ अपिण्ड प्रकृति कहलाती हैं, इस प्रकार दोनों ४२ होती हैं।

१४ पिण्ड प्रकृतियों के ६५ भेद उपरोक्तानुसार इस प्रकार हैं- ४ गति, ५ जाति, ५ शरीर, ३ अंगोपांग, २ निर्माण, ५ बन्धन, ५ संघात, ६संस्थान, ६ संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, ५ वर्ण, ४ आनुपूर्वी। इस तरह ६४+२९= ९३ नाम कर्म की कुल प्रकृतियों के सभी भेद-प्रभेद कहे।

गोत्र कर्म के भेद-

उच्चैर्नीचैश्च ।।१२।।

अर्थ- गोत्र कर्म के दो भेद हैं- (क) उच्च गोत्र और (ख) नीच गोत्र।

विशेषार्थ- (क) उच्च गोत्र- जिस कर्म के उदय से लोकमान्य इक्ष्वाकुवंश आदि उच्च कुल में जीव का जन्म हो, उसे उच्च गोत्र कर्म कहते हैं।

(ख) नीच गोत्र- जिस कर्म के उदय से जीव का लोकनिंद नीच कुल में जन्म होता है, उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं। दरिद्र, दलित व भ्रष्ट आदि कुल भी नीच कुल ही हैं।

अष्टम् अध्याय

<u>अन्तराय कर्म के भेद-</u>

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ।।१३।।

अर्थ- १) दानान्तराय, २) लाभान्तराय, ३) भोगान्तराय, ४) उपभोगान्तराय और ५) वीर्यान्तराय। ये अन्तराय कर्म के ५ भेद हैं।

विशेषार्थ- (१) **दानान्तराय**- दानान्तराय कर्म के उदय में दाता (श्रावक) की इच्छा होते हुए भी पात्र को या किसी को भी दान नहीं दे सकता, अथवा नहीं दे पाता है, अथवा नहीं देता है।

(२) लाभान्तराय- जिस कर्म के उदय से लाभ प्राप्ति की इच्छा होते हुए भी तथा प्रयत्न करने पर आहार या वस्तु आदि का लाभ नहीं होता है, वह लाभान्तराय कर्म है।

(३)(४) **भोग**- **उपभोगान्तराय**- भोग करने की व उपभोग करने की इच्छा होते हुए तथा प्रयत्न करने पर भी जिस कर्म के उदय से भोगोपभोग नहीं कर सकता या नहीं कर पाता है, वह भोगान्तराय एवं उपभोगन्तराय कर्म है।

(५) **वीर्यान्तराय-** जिस कर्म के उदय से प्राणी कोई उद्यम या उत्साह न कर सके अथवा उद्यम उत्साह में प्रवृत्ति नहीं होती है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

जो एक बार भोगने में आता है वह **भोग** है जैसे भोजन आदि और जो बार-बार भोगने में आवे, वह **उपभोग** है। जैसे- वस्त्र, मकान आदि-आदि। इस प्रकार प्रकृतिबंध का कथन पूर्ण हुआ।

<u>स्थिति बन्ध का वर्णन-</u>

आदितस्तिसृणा मन्तरायस्य च त्रिंशत्सारोपम कोटीकोट्यः परा स्थितिः ।।१४।।

अर्थ- आदि के तीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय एवं ८ वें कर्म अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा-कोड़ी सागर है।

विशेषार्थ- यह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

अन्य एकेन्द्रिय आदि जीवों के ज्ञानावरण आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध परमागम में इस प्रकार कही है-

(१) एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उक्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर का ३/७ सागर भाग प्रमाण है।

(२) दो इन्द्रिय जीवों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २५ सागर के सात भागों में से तीन भाग ३/७ भाग प्रमाण है।

(३) तीन इन्द्रिय जीवों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५० सागर के सात भागों में से तीन भाग ३/७ भाग प्रमाण है।

(४) चार इन्द्रिय जीवों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भी ५० सागर के सात भागों में से तीन भाग ३/७ भाग प्रमाण है।

(५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के उक्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति १००० सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण अर्थात् ३/७ भाग है।

(६) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव के ज्ञानावरणादि चार कर्मों की उत्कृष्टस्थिति ३० अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है।

(७) अपर्याप्तक एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के उपरोक्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति, पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य के असंख्यात्वें भाग कम है। -ति.पण्णति(भाग४) एवं गोम्मट्टसार

अष्टम् अध्याय

<u>मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-</u>

सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।१५।।

अर्थ- मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है।

विशेषार्थ- (१) यह ७० कोड़ा-कोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति बन्ध भी संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय कर्म की है।

(२) चारित्र मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध ४० कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है।

अन्य एकेन्द्रिय आदि जीवों के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति परमागम में इस प्रकार लिखी है-

(३) पर्याप्तक एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से १ सागर, २५ सागर, ५० सागर और १०० सागर प्रमाण है।

(४) पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य के असंख्यातवें भाग कम एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय पर्यन्त अपर्याप्तक जीवों के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति है।

(५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पल्य के असंख्यातवें भाग कम १०००(एक हजार) सागर है।

-ति.पण्णति एवं गोम्मट्टसार

अष्टम् अध्याय

नाम एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-

विंशतिर्नाम गोत्रयोः ।।१६।।

अर्थ- नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बंध २० कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है।

विशेषार्थ- यह स्थिति बन्ध भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्या-दृष्टि जीव की है।

शेष एकेन्द्रिय आदि जीवों की उत्कृष्ट स्थिति बंध आगम में इस प्रकार कही है-

(१) पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवों के नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग है।

(२) पर्याप्तक दो इन्द्रिय जीव के नाम व गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २५ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है।

(३) पर्याप्तक तीन इन्द्रिय जीव के नाम व गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ५०सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है।

(४) पर्याप्तक चार इन्द्रिय जीव के नाम व गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति १०० सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है।

(५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के नाम एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बंध (१०००) एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है।

(६) अपर्याप्तक एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के नाम व गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य के असंख्यात्वें भाग कम है। - -(पृ.३९७ सर्वार्थ सिद्धि)

अष्टम् अध्याय

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-

त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्यायुषः ।।१७।।

अर्थ- आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बंध ३३(तैतीस) सागर है।

विशेषार्थ- यह उत्कृष्ट स्थिति बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के आुय कर्म की है। शेष जीवों की उत्कृष्ट स्थिति आगम में इस प्रकार कही है-

(१) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातूवें भाग प्रमाण है। क्योंकि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पल्य के असंख्यातूवें भाग प्रमाण देवायु अथवा नरकायु का बंध करता है।

(२) एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव पूर्व कोटि प्रमाण का बंध करके विदेह आदि में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बंध का कथन पूर्ण हुआ।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति-

अपराद्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ।।१८।।

अर्थ- वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त प्रमाण है। यह जघन्य स्थिति (बंध) सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुण स्थान में मुनिराज के ही बंधती है। (मुहूर्त=४८मिनट)

नाम व गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति-

नाम-गोत्रयोरष्टौ ।।१६।।

अर्थ- नाम एवं गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति ८ मुहूर्त अथवा १६ घटिका(घड़ी) प्रमाण होती है। यह बन्ध भी सूक्ष्म साम्पराय नाम के १० वें गुण स्थान में होता है।

<u>शेष पाँच कर्मो की जघन्य स्थिति-</u>

शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः ।।२०।।

अर्थ- शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति बन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

विशेषार्थ- इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का जघन्य स्थिति बंध सूक्ष्म साम्पराय दसवें गुणस्थान में होता है। मोहनीय कर्म का जघन्य स्थिति बंध अनिवृतिकरण अथवा वादर साम्पराय नाम के ९वें गुणस्थान में होता है।

आयु का जघन्य स्थिति बंध संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्म भूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

<u>अनुभाग बन्ध का लक्षण-</u>

विपाकोऽनुभवः ।।२१।।

अर्थ- विपाक अर्थात् नाना प्रकार के फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभव या अनुभाग बंध है।

विशेषार्थ- विशिष्ट यानि विविध प्रकार के पाक- उदय को विपाक कहते हैं। अर्थात् जो विपाक है, वही अनुभाग संज्ञक बंध कहलाता है। पूर्व में छठवें अध्याय में बताया था कि कषाय की तीव्रता, मंदता या मध्यम भावों से आस्रव में विशेषता होती है और आस्रव विशेष ही विशिष्ट पाक या विपाक है। अथवा

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से भी कर्म के फलदान में विविधता आती है। अतः कर्म जो अनेक प्रकार के फल देता है, उस फल देने का नाम ही अनुभव या अनुभाग है।

अष्टम् अध्याय

शुभ परिणामों का जब प्रकर्ष होता है तब शुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग भी उत्कृष्ट होता है और अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग बंध जघन्य होता है । तथा जब अशुभ परिणामों का प्रकर्ष होता है तब अशुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बंध उत्कृष्ट होता है और शुभ प्रकृतियों का बंध जघन्य होता है। इस प्रकार परिणामों की विचित्रता से अनुभाग बंध में भी अन्तर पड़ता है।

<u>जिज्ञासा</u>- कर्म प्रकृतियों का अनुभाग कितने प्रकार का होता है?

<u>समाधान</u>- अघातिया कर्मों में शुभ प्रकृतियों का अनुभाग ४ प्रकार का है- १) गुड़ २) खांड ३) शर्करा और ४) अमृत।

जैसे इनमें क्रम से मिठास अधिक-अधिक होने से विशेष विशेष सुखदायक हैं, वैसे ही प्रशस्त(शुभ) प्रकृतियों के स्पर्धक भी होते हैं।

अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग भी ४ प्रकार का है-

१)नीम २) कांजी ३) विष और ४) कालकूट(हलाहल)

जैसे ये एक दूसरे की अपेक्षा अधिक-अधिक कटु होने से दुःख दायक हैं, उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियों के स्पर्धक भी अधिक-अधिक दुःख दायक होते हैं।

घातिया कर्मों का अनुभाग भी ४ प्रकार का है-

१) लता २) दारू(काष्ठ) ३) हड्डी और ४) शैल(पर्वत)

जैसे ये उत्तरोत्तर कठोर होते हैं, वैसे ही कर्मों के स्पर्धक अर्थात् वर्गणाओं का समूह भी होते हैं। उनमें फल देने की शक्ति रूप अनुभाग उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होता है। सो लता भाग से लेकर दारू(काष्ठ) के अनंतवें भाग पर्यन्त स्पर्धक तो देशघाती होते हैं। उनके उदय होते हुए भी आत्मा का गुण

प्रकट रहता है तथा दारू(काष्ठ) का अनंत बहुभाग से लेकर अस्थि और शैल रूप समस्त स्पर्धक सर्वघाती हैं। -१८०/गो. कर्मकाण्ड

कर्मों का यह अनुभाग दो प्रकार से होता है।(क) स्वमुख से और (ख) परमुख से । सर्व आठों मूल प्रकृतियों(कर्मों) का अनुभाग(बंध) स्वमुख से ही होता है, अर्थात् प्रत्येक कर्म अपने रूप में ही फल देता है। एक मूल कर्म अपने रूप में ही फल देता है दूसरे मूलकर्म रूप होकर फल नहीं देता। किन्तु दर्शन-मोहनीय, चारित्र-मोहनीय एवं आयुकर्म को छोड़कर शेष मूल कर्मों की जो उत्तर प्रकृतियाँ हैं, उनमें एक जाति की प्रकृतियाँ आपस में अदल-बदल कर भी फल देती है। जैसे वेदनीय कर्म की असाता वेदनीय प्रकृति, साता वेदनीय रूप संक्रमित होकर फल देती हैं। ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरण प्रकृति श्रुत ज्ञानावरण रूप संक्रमित होकर उदय में आकर फल दे सकती है। इसे परमुख से फल देना कहते हैं।

परन्तु कुछ उत्तर प्रकृतियाँ स्वमुख से ही अपना फल देती हैं। जैसे दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय कर्म रूप संक्रमित नहीं होता, न चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय कर्म रूप संक्रमित होकर फल देता है। इसी तरह चारों आयु भी अपने रूप ही फल देती हैं अर्थात् जैसे किसी ने नरकायु का बंध किया हो और उसका फल मनुष्यायु या तिर्यंचायु के रूप में मिले, यह संभव नहीं है, उसे नरकायु का भोग करने नरक जाना ही पड़ेगा अर्थात् इन प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता। यह स्वमुख अनुभाग है।

अनुभाग बंध प्रकुति के नामानुसार-

स यथानाम ।।२२।।

अर्थ- वह अनुभाग (अनुभव) बंध जिस कर्म का जैसा नाम है, उसके अनुरूप होता है। अर्थात् कर्म का जैसा नाम है, वैसा ही उसका फल है।

विशेषार्थ- जैसे ज्ञानावरण कर्म का फल ज्ञान शक्ति को ढांकना है, दर्शनावरण कर्म का फल दर्शन शक्ति का आच्छादन करना है। इसी प्रकार वेदनीय का फल या विपाक सुख-दुःख प्रदान करना है। मोहनीय कर्म का फल मोह का उत्पन्न करना है। आयु का विपाक(फल) भव धारण करना है। नाम कर्म का फल नाना प्रकार की शरीर रचना का अनुभव कराना है। गोत्र कर्म का विपाक(फल) नीचत्व एवं उच्चत्व का अनुभव कराना है। अन्तराय का फल दान, लाभ आदि में विघ्न डालना है। इस प्रकार प्रकृतियों के नामानुसार उन कर्म प्रकृतियों के रस का ज्ञान अर्थात् अनुभाग का ज्ञान होता है।

फल देने के बाद कर्म निर्जरा-

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ- अनुभव के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अर्थात् कर्म उदय में आकर आत्मा से पृथक हो जाता है। आत्मा से छूटकर वह अन्य रूप से परिणमन कर जाता है।

विशेषार्थ- निर्जरा दो प्रकार की है- (क) सविपाक निर्जरा और (ख) अविपाक निर्जरा।

(क) सविपाक निर्जरा- जीव के कर्म से परिपाक काल को प्राप्त अर्थात् उदय काल आने पर शुभ अथवा अशुभ कर्मों का अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है।

(ख) अविपाक निर्जरा- जिस कर्म का उदय काल तो नहीं आया, किंतु ऐसे कर्मों को औपक्रमिक क्रिया विशेष से बलपूर्वक अर्थात् तप आदि के द्वारा जबरदस्ती उदय में लाकर निर्जर यानि खिराया जाता है, वह अविपाक निर्जरा

है। सूत्र में चकार शब्द से ''तपसा निर्जरा च'' इस सूत्र के द्वारा कही जाने वाली निर्जरा भी ग्रहण की गई है। वह भी अविपाक निर्जरा है। जैसे आम, वृक्ष पर लगा-लगा जब स्वयं ही पककर गिर जावे वह सविपाक निर्जरा है और उसे पेड़ से तोड़कर पाल में रखकर अर्थात् जब क्रिया विशेष के द्वारा अकाल में पका लिया जाता है और उसका भोग कर लिया जाता है, वह अविपाक निर्जरा है। इसी प्रकार तप के द्वारा कर्मों को समय से पूर्व उदय में लाकर खिरा देना अविपाक निर्जरा है।

प्रदेश बंध लक्षण-

नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाह स्थिताः

सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः ।।२४।।

अर्थ- कर्म प्रकृतियों के कारणभूत जो अनंतानंत पुद्गल परमाणु सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही स्थित हैं, वे योग विशेष से प्रति समय सब ओर से सर्व आत्म प्रदेशों में तथा सभी भवों में संबंध को प्राप्त होते हैं, इसे प्रदेश बंध कहते है।

विशेषार्थ- इस सूत्र में प्रदेशबंध का स्वरूप बतलाते हुए बंधने वाले कर्म प्रदेशों के बारे में इतनी बातें बतलाई हैं- वे कर्म प्रदेश किसके कारण हैं? कब बंधते हैं? कैसे बंधते हैं? उनका स्वभाव कैसा है? बंधने पर वे कहाँ रहते हैं? और उनका परिमाण कितना होता हैं?

प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है-

प्रथम प्रश्न वे कर्म प्रदेश ज्ञानावरण आदि सभी आठों कर्म प्रकृतियों के कारणभूत हैं। अर्थात् जैसे ही वे बंध को प्राप्त होते हैं, वैसे ही आयु को

छोड़कर शेष सात कर्म रूप हो जाते हैं। यदि उस समय आयु कर्म का भी बंध पड़ता है, तो आठ कर्म रूप हो जाते हैं।

दूसरा प्रश्न है- कैसे बंधते है?

उत्तर- सब भवों में बंधते हैं। ऐसा कोई भव नहीं और प्रत्येक भव में ऐसा क्षण नहीं जब कर्म बंधन न होता हो।

तीसरा प्रश्न है- कैसे बंधते हैं? तो योग (मन,वचन,काय की क्रिया) विशेष के कारण से बंध को प्राप्त होते हैं। योग का वर्णन छठें अध्याय में हो चुका है।

चौथा प्रश्न है- उनका स्वभाव कैसा है?

उत्तर- वे सूक्ष्म होते हैं, एक क्षेत्राावगाही होते हैं। तथा आत्म प्रदेशों के साथ स्थित रहते हैं।

पाँचवा प्रश्न है- बंधने पर वे कर्म पुद्गल परमाणु कहां और किसके आधार से रहते हैं?

उत्तर- कर्म परमाणु बंध को प्राप्त होने पर आत्मा के समस्त प्रदेशों में दूध-पानी की तरह एक-मेक होकर अर्थात् घुल-मिलकर ठहरे रहते हैं। क्योंकि कर्म पुद्गल वर्गणाओं का अधिकरण (आकाश क्षेत्र) और आत्म प्रदेश का आकाश क्षेत्र एक ही है, भिन्न भिन्न अधिकरण नहीं है।

छठवाँ प्रश्न है- उन कर्म पुद्गल परमाणुओं का परिमाण कितना है?

उत्तर- अनन्तानंत कर्म परमाणु प्रति समय बंध को प्राप्त होते रहते हैं। सारांश यह है कि आत्मा असंख्यात् प्रदेशी है, वहाँ प्रत्येक प्रदेश में प्रति समयबद्ध

अष्टम् अध्याय

आठ कर्म रूप से परिणमन करने योग्य पुद्गल वर्गणायें योगों के कारण आत्मा के द्वारा आत्मसात् की जाती हैं और वह संख्यात-असंख्यात् नहीं बल्कि वह कर्म पुद्गल स्कन्ध अभव्यों के अनंतगुणें और सिद्धों के अनंतवे भाग प्रमाण हैं।

पुण्य प्रकृतियॉं कौन सी हैं-

सद्वेद्य-शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।।२५।।

अर्थ- साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और शुभ गोत्र ये पुण्य(कर्म) प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ- साता वेदनीय, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये तीन आयु, एक उच्च गोत्र ये ५ एवं नाम कर्मकी ३७ प्रकृतियाँ ऐसी ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। यद्यपि तिर्यंच गति अशुभ है, किन्तु तिर्यंचायु शुभ कही है। क्योंकि तिर्यंचगति में कोई जाना नहीं चाहता है, यह सही है परन्तु तिर्यंच गति में पहुँच जाने पर वहाँ से निकलना नहीं चाहता है। इसलिए आयु को पुण्य प्रकृति कहा है और तिर्यंच गति पाप प्रकृति है। ऐसा जानना।

नाम कर्म की ३७ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं- (१) मनुष्य गति (२) देवगति (३) पंचेन्द्रिय गति, (४) से (८) औदारिक आदि ५शरीर, (९) से (११) तीन अंगोंपांग (१२) समचतुरस्र संस्थान (१३) वज्र वृषभ नाराच संहनन (१४) प्रशस्त वर्ण (१५) गन्ध (१६) रस और (१७) स्पर्श (१८) मनुष्य गत्यानुपूर्वी (१९) देव गत्यानुपूर्वी (२०) अगरूलघु (२१) परघात (२२) उच्छवास (२३) आतप (२४) उद्योत (२५) प्रशस्त विहायोगति (२६) त्रस (२७) सुभग (२८) पर्याप्ति (२९) प्रत्येक शरीर (३०) स्थिर (३१) शुभ (३२) सुभग (३३) सुस्वर

(३४) आदेय (३५) यशःकीर्ति (३६) निर्माण और (३७) तीर्थंकर प्रकृति। ये सभी व्यालीस प्रकृतियाँ शुभ हैं अर्थात् पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

विशेष- कर्मकाण्ड गोम्मटसारादि ग्रंथों में ६८ पुण्य प्रकृतियाँ कहीं हैं, वे भेद विवक्षा से कही गई हैं। यहां पर अभेद विवक्षा से कथन है अर्थात् १२० बन्ध की अपेक्षा कथन है। सैंतीस नाम कर्मकी प्रकृतियों में स्पर्शन आदि ४ के स्थान पर २० और देह के साथ ५ बंधन एवं ५ संघात मिलाकर कथन करने से वह ६८ हो जाती हैं।

पाप प्रकृतियाँ-

अतोऽन्यत् पापम् ।।२६।।

अर्थ- इन पुण्य प्रकृतियों से शेष बची कर्म प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् घातिया कर्म, असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पाप प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ- पाप प्रकृतियाँ ८२ हैं, वे निम्नानुसार हैं- ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६, मोहनीय की २६, अन्तराय की ५ ये घातिया कर्मों की पाप प्रकृतियाँ हैं। नरक गति, तिर्यंच गति, एकेन्द्रिय, दो इन्दिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय ये चार जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर ५ संस्थान, वज्र वृषभनाराच संहनन को छोड़कर ५ संहनन, अप्रशस्त स्पर्श, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गंध, अप्रशस्त वर्ण, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये नाम कर्म की चौतीस प्रकृतियाँ एवं असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र इस तरह कुल ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं।

यह सब बंध अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य है और उनके द्वारा उपदिष्ट आगम से अनुमेय है। इस प्रकार बंध पदार्थ का विस्तार पूर्वक कथन किया।

विशेषः- घातिया कर्म तो चारों ही अशुभ हैं और अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी, इसलिए उनकी गणना पुण्य प्रकृतियाँ में भी की जाती है और पाप प्रकृतियों में भी की जाती है। इससे उपर गिनाई गई पुण्य और पाप प्रकृतियों का जोड़ ८२+४२=१२४ होता है। किन्तु बंध प्रकृतियाँ १२० ही हैं। किन्तु आठों कर्मों की कुल प्रकृतियाँ ५+६+२+२८+४+६३+२+५=१४८ हैं।

उपरोक्त में ५ बंधन और ५ संघात यह तो शरीर के साथी हैं अर्थात् यदि औंदारिक आदि जिस शरीर का बंध होगा, तो औदारिक बंधन एवं औदारिक संघात का बंध अवश्य होगा ही, इसलिए बंध प्रकृतियों में ५ शरीरों का ही ग्रहण किया। अतः ५ बंधन और ५ संघात ये दस प्रकृतियाँ कम हुई तथा वर्ण, गंध आदि के बीस भेदों में से केवल वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श इन चार को ही ग्रहण किया है इससे १६ प्रकृतियाँ ये कम हुई, साथ ही दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों में से केवल एक मिथ्यात्व का ही बंध होता है, अतः दो यहाँ कम हुई, इस तरह २८ प्रकृतियों के कम होने से बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० ही रहती हैं।

एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है कि ग्रंथों में पाप प्रकृतियाँ १०० कही गई हैं और यहाँ पर ८२ । वह परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ बंध की अपेक्षा कथन है। मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये दो प्रकृति और नाम कर्म की वर्ण आदि चार के स्थान १६ मिला देने से २० हो जाती हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर पाप प्रकृतियाँ १०० हो जाती हैं, किन्तु बंध की अपेक्षा ८२ हैं।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे अष्टमोः अध्यायः

।।--------------------------।।

ध्यान-साधना

“स्वानुभूति- अत्यंत विशुद्ध ज्ञान को धारण करने वाले विशुद्ध सिद्धों के अनंत सुख का अपने आत्मा में विश्वास करना स्वानुभूति कहलाती है।”

---:०।०।०:--- -२०.२/सु.ध्या

“भेद विज्ञान रूपी छेनी से शरीर को भेदकर हृदय कमल पर परम आत्मा की स्थापना कर उसकी उपासना करो।”

---:०।०।०:---

“साधना की चरम सीमा ध्यान में होती है, जो भीतरी एवं बाहरी वस्तुओं (समस्त परिग्रह) के त्याग करने पर होने वाली चित्त शुद्धि के माध्यम से प्राप्त किया जाता है।”

---:०।०।०:---

आचार्य अमृत चन्द्र स्वामी कहते हैं-

भैया! तुझे आत्म प्रभु के दर्शन करना है तो छह माह निरंतर अभ्यास करो। कैसे? छह माह अंतरंग-बहिरंग वचनालाप का त्याग कर, राग-द्वेष-मोह आदि सभी अप्रजोयनीय कार्यों का त्याग कर, क्रमशः त्रिकाल अभ्यास करो-

मेरी आत्मा अलग है, शरीर अलग है या मैं अलग हूँ, शरीर अलग है।

मेरी आत्मा द्रव्य कर्म से रहित है या मैं द्रव्य कर्म से रहित हूँ।

मेरी आत्मा भाव कर्म से रहित है। या मैं भाव कर्म से रहित हूँ।

मेरी आत्मा नोकर्म से रहित है। या मैं नोकर्म से रहित हूँ।

---:०|०|०:---

मैं कौन हूँ? मैं मौन हूँ, अंतरंग-बहिरंग वचनालाप से रहित हूँ।

"मैं भिन्न हूँ, मेरे से शरीर भिन्न है, उससे कर्म भिन्न हैं।" इत्यादि।

"मैं अरहंत परमात्मा स्वरूप हूँ। मै सिद्ध परमात्मा स्वरूप हूँ।"

"मै सिद्धों के समान अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंत वीर्य का धारी हूँ"।

---:०|०|०:---

"हमारा आत्मा निश्चय पंचाचार-क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिकचारित्र, क्षायिक सुख व क्षायिक वीर्य स्वरूप है।"

---:०|०|०:---

ध्यान के चार भेद - दो प्रकार से (विस्तृत जानकारी के लिए अध्याय ९ सूत्र ३६ देखिए)

(१) पदस्थ- णमोकार आदि मंत्रों(पदों) का ध्यान	(१) आज्ञा विचय
(२) पिण्डस्थ- स्वकीय आत्मा का ध्यान	(२) अपाय विचय
(३) रूपस्थ- समोशरण में विराजमान अरहंत देव का ध्यान	(३) विपाक विचय
(४) रूपातीत- अशरीरी सिद्धों का ध्यान	(४) संस्थान (लोक) विचय

---...---

---||०००||---

अथ नवमोऽध्यायः

(संवर एवं निर्जरा तत्त्व का वर्णन)

संवर का लक्षण-

आस्रव निरोधः संवरः ।।१।।

अर्थ- आस्रव का निरोध (रुकना) संवर है। अर्थात् नवीन कर्मों के आने में जो कारण है, उसे आस्रव कहते हैं और आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं।

विशेषार्थ- संवर के दो भेद हैं- (क) भाव संवर तथा (ख) द्रव्य संवर ।

(क) **भाव संवर-** कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है। जो क्रियायें व परिणाम संसार में भटकाने में हेतु हैं, उन क्रियाओं और परिणामों की निवृत्ति अर्थात् अभाव होना भाव संवर है।

(ख) **द्रव्य संवर-** कर्म आगमन रूप भावों व क्रियाओं का निरोध अर्थात् अभाव होने पर क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म पुद्गलों का आगमन होता था, उनका रुकना द्रव्य संवर है।

संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान कराने के लिए यहाँ विचार करते हैं कि किस गुण स्थान में किस कर्म का संवर होता है, इसलिए १४ गुणस्थानों का विवेचन करते हैं। वे गुण स्थान निम्नलिखित हैं-

(१) मिथ्यादृष्टि (२) सासादन-सम्यग्दृष्टि (३) सम्यग्मिथ्यदृष्टि (४) असंयत-सम्यग्दृष्टि (५) संयत- असंयत (६) प्रमत्त-संयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) अपूर्वकरण उपशमक-क्षपक (९) अनिवृत्ति-वादर सम्पराय-उपशमक क्षपक (१०)

सूक्ष्म-साम्पराय उपशमक क्षपक (११) उपशांतकषाय-वीतराग छद्मस्थ (१२) क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ (१३) सयोगकेवली और (१४) अयोग केवली।

द्वितीय गुणस्थान में संवर- जिसके मिथ्यादर्शन कर्म का उदय है, वह आत्मा मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व की प्रधानता से जो कर्म आते हैं, मिथ्यात्व का जब निरोध हो जाता है, तब १६कर्म प्रकृतियों का शेष सासादन आदि गुण स्थानों में आस्रव रुक जाता है अर्थात् संवर हो जाता है। वे मिथ्यात्व निमित्तक १६कर्म प्रकृति निम्नलिखित हैं- मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर।

अनंतानुंबधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान इन ३ कषायों के उदय से होने वाला असंयम भी तीन प्रकार हो जाता हे। उन अनंतानुबंधी आदि तीनों असंयम/अविरति का अभाव होने पर तद्जन्य कषाय सम्बंधी बंधने वाली कर्म प्रकृतियों का संवर यानि आना रुक जाता है।

अनंतानुबंधी कषाय संबंधी असंयम के कारण बंधने वाली निम्नलिखित २५ प्रकृतियाँ हैं- निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यञ्चायु, तिर्यँचगति, ४ संहनन (वृषभनाराच, अर्धनाराच, नाराच, कीलक), ४ संस्थान (स्वाति, वामन, कुब्ज, न्यग्रोध) तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और नीच गोत्र।

तीसरें गुणस्थान में संवर- उपरोक्त अनंतानुबंधी असंयम के कारण से बंधने वाली एकेन्द्रिय आदि कर्म प्रकृतियों का सासादन अर्थात् दूसरे गुणस्थानवर्ती के अंत तक ही बंधक है। और जब मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी कषाय का अभाव

होता है तब मिथ्यात्व की १६ और अनंतानुबंधी की २५ कर्म प्रकृतियाँ मिलाकर ४१ प्रकृतियों का अभाव अर्थात् संवर हो जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व नाम के तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के आयु का बंध नहीं है।

चौथें एवं पाँचवें गुणस्थान में संवर- अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्र वृषभनाराच संहनन एवं मनुष्यगत्यानुवर्ती नामक १०कर्म प्रकृतियों का अप्रत्याख्यानवरण कषाय के उदयकृत असंयम से एकेन्द्रिय से लेकर चौथे गुण स्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि तक के जीव बंध करते हैं। जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय सम्बंधी असंयम का अभाव हो जाता है तब ५वें आदि उपरितन गुणस्थानों में इन १०कर्म प्रकृतियों का भी संवर हो जाता है।

छठवें गुणस्थान में संवर- प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कर्म प्रकृतियों का बंध प्रत्याख्यानावरण कषाय जनित असंयम के कारण एकेन्द्रिय से लेकर पंचम गुणस्थान तक होता है। छठें आदि उपरितन गुणस्थानों में प्रत्याख्यानावरण जनित अविरति/असंयम का अभाव होने पर इन ४ प्रकृतियों का आस्रव न होने से इनका संवर हो जाता है।

सातवें गुणस्थान में संवर- प्रमाद के कारण बंधने वाली कर्म प्रकृतियाँ असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति इन छह का मिथ्यात्व(प्रथम) गुणस्थानवर्ती एकेन्द्रिय से लेकर छठवें प्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव के आस्रव/ बंध होता है इससे सातवें आदि उपरितन गुणस्थानों में प्रमत्त अवस्था का अभाव होने से इनका संवर हो जाता है।

देव आयु के बंध का प्रारंभिक कारण तो प्रमाद ही है, और उसके समीप में रहने वाला अप्रमाद भी। अतः अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान पर्यन्त ही देव आयु का बंध होता है। उसके आगे उसका भी संवर हो जाता है।

नवम् अध्याय

आठवें, नवमें और दसवें- इन तीन गुणस्थानों में प्रमाद से रहित मान कषाय से ही कर्मों का आस्रव है। तीनों ही गुण स्थानों में प्रमाद रहित वे कषायें तीव्र मध्यम और जघन्य रूप में विद्यमान रहती हैं।

आठवें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान के आदि (प्रारंभ) के संख्यात भाग में निद्रा और प्रचला दो कर्म प्रकृति बंधती हैं। उसके ऊपर इसी गुणस्थान के संख्येय भाग में देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियक शरीर, आहारक, तैजस, कार्मण, समचतुस्रसंस्थान, वैक्रियक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, तीर्थंकर और निर्माण ये ३० कर्म प्रकृतियाँ हैं फिर इसी गुणस्थान के चरम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये ४ प्रकृतियाँ बंधती हैं इन तीव्र कषायजन्य होने वाली कर्म प्रकृतियों के अभाव में निर्दिष्ट भाग से आगे संवर हो जाता है। अर्थात् इनकी बंध व्युच्छिति हो जाती है।

नवमें अनिवृति वादरसाम्पराय नामक गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर संख्येय भागों में पुरूषवेद और संज्वलन क्रोध का बंध होता है, उसके ऊपर शेष संख्येय भागों में संज्वलन मान और संज्वलन माया कषाय का बंध होता रहता है तथा इसी गुणस्थान के चरम समय तक संज्वलन लोभ का बंध होता रहता है। ये ५ मध्यम कषाय से बंधने वाली कर्म प्रकृतियाँ हैं। अतः निर्दिष्ट भागों से ऊपर इनका संवर हो जाता है। अर्थात् नवमें गुणस्थान में संख्येय भाग के ऊपर पुरूषवेद एवं संज्वलन क्रोध का, उसके ऊपर संख्येय भागों में संज्वलन मान और माया का तथा अन्त समय में संज्वलन लोभ का आना रुक जाता है।

नवम् अध्याय

<u>**दसवें सूक्ष्म साम्पराय**</u> नामक गुणस्थान में ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और ५ अंतराय ये मंद कषाय से आने वाली(बंधने वाली) कर्म प्रकृतियाँ हैं, अतः इनका बंध इसी १०वें गुणस्थान तक ही है। इसके उपरितन गुणस्थानों में कषाय का अभाव होने से इनका संवर हो जाता है अर्थात् इनकी बंध व्युच्छित्ति हो जाती है।

<u>**ग्यारहवें उपशांत कषाय,**</u> <u>**बारहवें क्षीण कषाय**</u> और <u>**संयोग केवली तेरहवें**</u> गुणस्थान तक केवल योग के निमित्त से बंधने वाली साता वेदनीय कर्म प्रकृति का बंध है। इसके उपरितन अवस्था में योग रूप कारण का भी अभाव हो जाने से साता वेदनीय के बंध रूप कार्य का अभाव हो जाता है। अतः चौदहवें गुणस्थान में अर्थात् अयोग केवली के सर्व कर्मों का संवर हो जाता है।

सर्व कर्मों का बंध रूक जाने से तथा सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाने से (उसके बाद) उस आत्मा का मोक्ष हो जाता है। क्योंकि कर्म बंधन का नाम ही संसार है, बंधन छूटते ही संसार का उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार संवर का कथन पूर्ण हुआ।

अंत में किस गुणस्थान में कितने जीव हैं, उनकी संख्या बताते हैं-

प्रथम गुणस्थान में- जीव अनंत/ मनुष्य असंख्यात्

द्वितीय में - ५२ करोड़	तृतीय में - १०४ करोड़
चौथे में - ७०० करोड़	पाँचवें में - १३ करोड़
छठवें में - ५,९३,९८,२०६	सातवें में - २,९६,९९,१०३ (छठे से आधे)

	उपशम श्रेणी	क्षपक श्रेणी
आठवें में -	२९९	५९८ = ८९७
नवम में -	२९९	५९८ = ८९७
दसवें में -	२९९	५९८ = ८९७
ग्यारहवें में -	२९९	५९८ = ८९७
बारहवें में -	२९९	५९८ = ८९७
तेरहवें में -	८,९८,५०२	

चौदहवें में गुणस्थान में - ५९८

छठवें से चौदहवें गुणस्थानवर्ती कुल संख्या-८,९९,९९,९९७(तीन कम नौ करोड़)

संवर के कारण-

स गुप्ति- समिति-धर्मानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः ।।२।।

अर्थ- वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाइस परिषह और पाँच प्रकार के चारित्र से होता है।

(१) **गुप्ति-** जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन एवं रक्षण होता है, वह गुप्ति है।

(२) **समिति-** प्राणियों को कष्ट न पहुँचे, इस पवित्र भावना से यत्नाचार पूर्वक/ सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है।

(३) **धर्म-** जो आत्मा को संसार परिभ्रमण के दुःखों से छुड़ाकर इष्ट अर्थात् अभीष्ट स्थान को प्राप्त कराता है, उसे धर्म कहते हैं।

(४) **अनुप्रेक्षा-** संसार की असारता एवं शरीरादि के स्वभाव का अर्थात् इनके स्वरूप का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

(५) **परिषह जय-** भूख- प्यास आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा के लिए उसे शान्त/ समता परिणामों से सहन करना परिषह जय है।

(६) **चारित्र-** संसार वृद्धि में कारणभूत अर्थात् कर्मों के आस्रव/ बंध में कारणभूत बाह्य एवं आभ्यंतर क्रियाओं को रोकने के लिए जो आचरण किया जाय वह चारित्र कहलाता है।

विशेषार्थ- संवर का प्रकरण होते हुए भी जो सूत्र में संवर को ग्रहण करने के लिए 'स' शब्द दिया है वह यह संकेत करने के लिए दिया है कि वह संवर गुप्ति, समिति आदि उपायों के द्वारा ही हो सकता है, अन्य उपायों से नहीं अर्थात् तीर्थस्नान, दीक्षा, बलिदान, देवताराधना आदि से संवर नहीं होता। क्योंकि राग, द्वेष, मोह से ग्रहण किए गए उन कर्मों की दूसरे प्रकारों से निवृत्ति होना संभव नहीं है। उन कर्मों का उच्छेद गुप्ति आदि के द्वारा ही होता है, अन्य कारणों से नहीं।

<u>निर्जरा एवं संवर का कारण-</u>

तपसा निर्जरा च ।।३।।

अर्थ- तप के द्वारा निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है।

विशेषार्थ- यद्यपि तप दस धर्मों में अन्तर्भूत है, फिर भी तप का पृथक ग्रहण, यह बतलाने के लिए किया है कि तप से नवीन कर्मों का आना रुकता है अर्थात् संवर भी होता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है। तप संवर का प्रधान कारण है।

तप को सांसारिक अभ्युदय का कारण भी बतलाया है, किंतु तप का प्रधान फल तो कर्मों का क्षय होना ही है एवं गौण फल सांसारिक अभ्युदय यानि इन्द्र, नरेन्द्र आदि पदों की प्राप्ति भी है। जैसे अग्नि से पाक, विक्लेदन तथा जलाना आदि अनेक कार्य होते हैं। उसी प्रकार तप से सांसारिक सुख व उत्कृष्ट पदों की प्राप्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त होते हैं।

तपश्चरण के अन्तर्गत ध्यान का भी वर्णन आता है। तथा ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म ईंधन भस्म होता है और जब ध्यान की पूर्णता होती है, तब सर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः तप निर्जरा का प्रमुख हेतु है, साथ ही कर्मों के निरोध का कारण होने से संवर का भी मुख्य कारण है।

गुप्ति का लक्षण एवं उसके भेद-

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति ।।४।।

अर्थ- भले प्रकार से अर्थात् विषयों की अभिलाषा छोड़कर मन-वचन-काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का रोकना गुप्ति है।

विशेषार्थ- लौकिक पूजा, प्रतिष्ठा अथवा विषय सुख की इच्छा की पूर्ति के लिए मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति नहीं है, यह बतलाने के लिए ही सूत्र में 'सम्यक' पद रखा है। क्योंकि मन-वचन-काय को इच्छानुसार विचरण से रोकना ही निग्रह कहलाता है। अतः जिससे स्वपरिणामों में किसी तरह का संक्लेश उत्पन्न न होवे, इस विधि से मन-वचन-काय की स्वेच्छाचारिता को रोकना जिससे उस योग के निमित्त से होने वाला कर्मास्रव न होवे इस प्रकार कर्मों के आस्रव का रुक जाना ही संवर है। गुप्ति तीन प्रकार की है-(क) काय गुप्ति (ख) वचन गुप्ति और (ग) मन गुप्ति

(क) काय गुप्ति- शरीर पर नियंत्रण अर्थात् कायिक क्रियाओं का रुक जाना काय गुप्ति है।

(ख) वचन गुप्ति- वचनों पर नियंत्रण अर्थात् वाचनिक क्रियाओं का रुक जाना(मौन रहना) वचन गुप्ति है।

(ग) मनो गुप्ति- मन पर नियंत्रण अर्थात् सम्यक् प्रकार से मन का निरोध हो जाना मनोगुप्ति है।

जो मुनिराज गुप्तियों के पालने में असमर्थ हैं। क्योंकि आहार के लिए, विहार के लिए, शौच आदि आवश्यक क्रियाओं के लिए उन्हें प्रवृत्ति अवश्य करनी पड़ती है। अतः प्रवृत्ति करते हुए भी आस्रव/ बंध न हो, अतः उनकी निर्दोष प्रवृत्ति के उपाय रूप समिति को आगे कहते हैं।

समिति के भेद-

ईर्याभाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।।५।।

अर्थ- ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

विशेषार्थ- यहाँ भी पूर्व सूत्र से 'सम्यक्' पद की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् सम्यक् ईर्या समिति, सम्यक् भाषा समिति, सम्यक् एषणा समिति, सम्यक् आदान निक्षेपण समिति और सम्यक् उत्सर्ग समिति। इस प्रकार पाँचों समितियों में सम्यक् का संबंध लगाना चाहिए।

(१) ईर्या समिति- सूर्य का उदय हो जाने पर जब सूर्य प्रकाश इतना फैल जाये कि आँखों से चींटी आदि जन्तु साफ दिखाई देने लगें और मनुष्य, गाय बैल आदि के पद संचार से मार्ग प्रासुक हो जावे, उस मार्ग पर चार हाथ भूमि का अवलोकन करते हुए, धीरे-धीरे गमन करना ईर्या समिति है।

(२) **भाषा समिति-** निर्दोष, हित, मित(अल्प), और कर्णप्रिय एवं संदेह रहित वचन बोलना भाषा समिति है। अर्थात् अप्रिय वचन, निंदापरक वचन, मिथ्या वचन, कषाय वचन, भेद डालने वाले वचन, भ्रम उत्पन्न करने वाले वचन, असभ्य-कठोर वचन, अल्पसार वाले वचन, हास्य वचन, अयुक्त वचन, अधर्मपरक वचन और अति प्रशंसा वाले वचन साधुओं को नहीं बोलना चाहिए।

(३) **एषणा समिति-** दिन में एक बार श्रावक के घर जाकर नवधा भक्ति पूर्वक तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि दोषों से रहित, प्रासुक, निर्दोष आहार, खड़े होकर, पाणि पात्र(हाथ की अंजुली) में ही ग्रहण करना एषणा समिति है।

(४) **आदान निक्षेपण समिति-** भूमि, स्थान आदि को भले प्रकार नेत्रों से देखकर, पिच्छी आदि से मार्जन करके कमण्डलु, शास्त्र आदि उपकरणों को रखना, उठाना आदान निक्षेपण समिति है।

(५) **उत्सर्ग समिति-** त्रस एवं स्थावर जीवों को जिससे बाधा न पहुँचे, इस तरह से निर्दोष, जीव रहित, छिद्र आदि से रहित भूमि पर मल-मूत्र विसर्जन करना उत्सर्ग समिति है।

समितियों के पालन में इन्द्रिय प्रकाश, ज्ञान प्रकाश और सूर्य प्रकाश इन तीन प्रकाश की आवश्यकता है फिर भी इनमें ज्ञान प्रकाश मुख्य है। आगम के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानने वाले मुनिराज के प्राणियों की पीड़ा के परिहार का कारण ये पाँचों समितियाँ जानना चाहिए। गमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करने पर असंयम परिणामों के निमित्त से होने वाले कर्मों के आस्रव का निरोध इन समितियों के द्वारा हो जाने से संवर होता है।

नवम् अध्याय

संवर तत्व के ५७भेद-

गुप्ति-३	समिति ५	धर्म १०	अनुप्रेक्षा१२	परिषहजय२२		चारित्र ५
मनोगुप्ति	ईर्या समिति	उत्तम क्षमा	अनित्यभावना	क्षुधा	आक्रोश	सामायिक
वाग्गुप्ति	भाषा समिति	उत्तम मार्दव	अशरण ,,	तृषा	वध	छेदोप-स्थापना
काय गुप्ति	एषणा समिति	उत्तम आर्जव	संसार ,,	शीत	याचना	परिहार विशुद्धि
	आदान निक्षेपण	उत्तम सत्य	एकत्व ,,	उष्ण	अलाभ	सूक्ष्म साम्पराय
	उत्सर्ग समिति	उत्तम शौच	अन्यत्व ,,	दंशमशक	रोग	यथाख्यात
		उत्तम संयम	अशुचित्व ,,	नाग्न्य	तृण स्पर्श	
		उत्तम तप	आस्रव ,,	अरति	मल	
		उत्तम त्याग	संवर ,,	स्त्री	सत्कार पुरस्कार	
		उत्तम अंकिचन	निर्जरा ,,	चर्या	प्रज्ञा	
		उत्तम ब्रह्मचर्य	लोक भावना	निषद्या	अज्ञान	
			बोधि दुर्लभ	शय्या	अदर्शन	
			धर्म भावना			

नवम् अध्याय

धर्म के भेद-

उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागा
-किञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि-धर्मः ।।६।।

अर्थ- उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं, यह धर्म संवर के कारण हैं।

विशेषार्थ- (१) **उत्तम क्षमा-** विहार करते समय अथवा पर-घर में आहार (भिक्षा) आदि आवश्यक कार्यों के लिए जाते समय दुष्टजनों के द्वारा गाली, अवज्ञा, हँसी, ताड़न, पीड़न आदि क्रोध की उत्पति के निमित्त उत्पन्न करने पर भी परिणामों में कलुषता उत्पन्न न होना उत्तम क्षमा है।

(२) **उत्तम मार्दव-** उत्तम जाति, कुल, रूपादि, ऐश्वर्य तथा ज्ञान आदि के होते हुए भी उसका घमण्ड नहीं करना अर्थात् मद के आवेश से होने वाले अभिमान का अभाव होना मार्दव धर्म है।

(३) **उत्तम आर्जव-** योगों की सरलता अर्थात् मन, वचन, काय की कुटिलता(मायाचार) का नहीं होना उत्तम आर्जव है।

(४) **उत्तम शौच-** लोभ का अभाव ही शौच धर्म है। लोभ चार प्रकार का है- (अ) जीवन का लोभ, (ब) निरोगता का लोभ, (स) इन्द्रियों के विषय भोगों का लोभ और (द) भोग्य सामग्री संचय का लोभ। इन चारों ही लोभों का अभाव होना ही उत्तम शौच धर्म है।

(५) **उत्तम सत्य-** प्रशंसनीय, सज्जन पुरूषों के मध्य, धर्मानुसार, आगमोक्त वचन, प्रशंसनीय वचन, सुंदर वचन बोलना उत्तम सत्य धर्म है।

नवम् अध्याय

प्रश्न- भाषा समिति में सत्य धर्म का अन्तर्भाव हो सकता है? तब इन दोनों में अंतर क्या हैं?

समाधान- संयमी पुरूष साधुजनों अथवा असाधु अर्थात् विधर्मीजनों से बातचीत करते समय हित, मित वचन ही बोलते हैं, अन्यथा यदि बहुत बातचीत करेंगे तो राग वृद्धि एवं अनर्थ दंड आदि दोषों के भागी होते हैं, यह भाषा समिति है। किन्तु सत्य धर्म में सहधर्मी साधुजनों अथवा श्रावकों को धर्म वृद्धि के निमित्त से ज्ञान व चारित्र की शिक्षा देने के उद्देश्य से प्रशंसनीय वचन, जिनेन्द्र कथित वचन बहुत बोलना भी स्वीकृत है।

(६) **उत्तम संयम-** समितियों में प्रवृत्त रहने वाले साधुजनों के द्वारा ईर्या आदि समितियों का पालन करते समय सभी षट्काय(त्रस एवं स्थावर) प्राणियों को पीड़ा नहीं पहुँचे यह प्राणी संयम है और इन्द्रियों के विषयों में राग का नहीं होना, उनसे विरक्त होना, यह इन्द्रिय संयम है।

(७) **उत्तम तप-** कर्मों के क्षय करने के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। यह प्रायश्चित्त आदि छः अंतरंग तप और अनशन आदि छः बाह्य तप के भेद से दो प्रकार का है। उसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।

(८) **उत्तम त्याग-** संयमीजनों के योग्य ज्ञानादि का दान त्याग है। चेतन, अचेतन परिग्रह का छोड़ना भी त्याग है। कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वाच्छा से रहित चार प्रकार का दान देना भी त्याग है।

(९) **उत्तम अकिंचन-** जो यह शरीर है, यह परिग्रह है, उसके संस्कार एवं उसमें राग आदि अर्थात् ममत्व नही रखना तथा ''यह मेरा है'' ऐसा समस्त बाह्य पदार्थों में ममत्व रूप परिणाम का त्याग उत्तम अकिंचन है।

(१०) **उत्तम ब्रह्मचर्य-** पूर्व में भोगी हुई स्त्री को स्मरण नहीं करना, स्त्री मात्र की कथा सुनने से भी विरक्त रहना एवं स्त्रियों से संसक्त शय्या, आसन, स्थान आदि पर भी नहीं बैठना तथा अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन रहना, उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म कहलाता है।

इस प्रकार उत्तम विशेषण से युक्त दश धर्म आत्मीय गुणों का विकास करते हैं। इन दश धर्मों से परिणत आत्मा संवर और निर्जरा करने में समर्थ/ सक्षम होता है।

अनुप्रेक्षाओं के १२ भेद-

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर-निर्जरा-लोक बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतन-मनुप्रेक्षाः ।।७।।

अर्थ- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ, धर्मस्वाख्यात इन बारह भावनाओं के स्वरूप का बार-बार चिंतन अनुप्रेक्षा है।

विशेषार्थ- (१) **अनित्य अनुप्रेक्षा-** इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन, जीवन आदि समस्त पदार्थ बिजली, इन्द्रधनुष, अथवा जल के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर हैं, शीघ्र नष्ट होने वाले हैं, ऐसा विचारना अनित्यानुप्रेक्षा है। आत्मा के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग रूप स्वभाव को छोड़कर संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं है।

(२) **अशरण अनुप्रेक्षा-** जिस प्रकार भूखे सिंह के द्वारा निर्जन वन में पकड़े हुए हिरण के बच्चे को छुड़ाने में कोई शरण नही है, उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु एवं रोगादि दुःखों से व्याप्त इस संसार में मरते हुए जीव को बचाने में डॉक्टर-वैद्य, मंत्र-तंत्र आदि कोई भी समर्थ नहीं है। घी, दूध आदि से परिपुष्ट

किया शरीर भी मात्र भोजन करने में ही सहायक है, दुःखादि के आने पर अपना शरीर भी साथ नहीं देता। ऐसा चिंतन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

(३) **संसार अनुप्रेक्षा-** अनेक लाख कोटियों से व्याप्त इस पंच परावर्तन रूप संसार में कर्मरूपी घटी-यंत्र से प्रेरित होकर परिभ्रमण करता हुआ यह जीव स्वामी से दास और दास से स्वामी कभी पिता से पुत्र, पुत्र से पिता तो कभी माँ से बहिन, बहिन से स्त्री अथवा पुत्री हो जाता है। संसार का कोई भी संबंध शाश्वत् नही है। संसार के स्वभाव का इस प्रकार चिंतन संसार अनुप्रेक्षा है।

(४) **एकत्व अनुप्रेक्षा-** जन्म, जरा, मृत्यु, रोगादि दुःखों को यह जीव अकेला ही भोगता है। स्त्री, पुत्रादि मेरे दुःखों को दूर करने में कोई समर्थ नहीं है। स्त्री घर की देहरी तक तथा बन्धु, मित्र आदि श्मशान के आगे नही जाते। एक मात्र धर्म ही साथ रहने वाला मित्र है, आदि विचारना एकत्व अनुप्रेक्षा है।

(५) **अन्यत्व अनुप्रेक्षा-** शरीर से भिन्न आत्मा का चिंतन अन्यत्व भावना है। अर्थात् शरीर अज्ञ है, जड़ है और मैं ज्ञानी, अतीन्द्रिय हूँ। शरीर नाशवान है, आयु कर्म के आधीन है और मैं नित्य, अनादिअनंत-अबिनाशी हूँ। ऐसा चिंतन करना अन्यत्व भावना है।

(६) **अशुचि अनुप्रेक्षा-** यह शरीर महा अपवित्र है। पिता के वीर्य और माता के रज से उत्पन्न हुआ है, मल, मूत्र आदि सर्व अशुचि पदार्थों का पिण्ड है। सुगंधित पदार्थ भी इसके सम्बंध मात्र से अशुचि हो जाते हैं। स्वादिष्ट भोजन रबड़ी, मलाई, रसगुल्ला भी गले के नीचे उतरते ही मल वन जाता है। ऐसा चिंतन अशुचि अनुप्रेक्षा है।

(७) आस्रव अनुप्रेक्षा- कषायें और अव्रतपना का आस्रव हमारे लिए वध, बंधन, अपयश और तिर्यंचादि गतियों के भारी क्लेशों को उत्पन्न करते हैं तथा परलोक में भी नाना प्रकार के दुःखों के भुगतने के लिए नाना गतियों व नीच कुलों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिंतन करना आस्रव अनुप्रेक्षा है।

(८) संवर अनुप्रेक्षा- जैसे महासमुद्र में पड़ी हुई नौका के छिद्रों को नहीं रोकने पर संचित हो रहे जल के विप्लव से नौका में बैठे प्राणियों का बिनाश अवश्यंभावी है तथा छिद्र के रोक देने पर नौका इष्ट-इच्छित स्थान को पहुँच जाती है। उसी प्रकार कर्मों के आने का द्वार बंद हो जाने अर्थात् संवर होने पर श्रेय मार्ग अर्थात् आत्मकल्याण करने में कोई बाधा नहीं होती। संवर युक्त मानव का कल्याण सुनिश्चित है। इस प्रकार संवर के गुणों का चिंतन करना संवर अनुप्रेक्षा है।

(९) निर्जरा अनुप्रेक्षा- नरक आदि गतियों में कर्मफल विपाक से होने वाली निर्जरा अबुद्धि पूर्वक निर्जरा है, क्योंकि वह पाप बंध में कारण है। तप एवं परिषहजय से होने वाली निर्जरा कुशलमूला निर्जरा है। यह शुभ कर्म का बंध कराती है अथवा सर्वथा बंध रहित भी होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण व दोषों सहित चिंतन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

(१०) लोक अनुप्रेक्षा- लोक के आकार अर्थात् उर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक की स्थिति एवं रचना आदि का विचार करने से तत्त्व ज्ञान की विशुद्धि होती है।

(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा- एक निगोदिया के शरीर में जीवों की संख्या सिद्धों से अनंत गुणी है। इस प्रकार यह लोक अनन्त स्थावरों से निरंतर भरा हुआ

है। इसमें निगोद से निकलकर त्रस पर्याय का मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है, जैसे रेत के समुद्र में हीरे की कणिका मिलना दुर्लभ है। त्रस में भी विकलेन्द्रिय बहुलता से हैं, पर जिस प्रकार कृतज्ञता जैसा गुण कठिनता से प्राप्त है, उसी प्रकार पंचेन्द्रियत्व का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय में भी गाय, मृग, घोड़ा, गधा, कुत्ता, सूकर आदि पशु तथा कौआ, गिद्ध आदि पक्षी, सरीसृप आदि तिर्यंचों की बहुलता है। अतः पंचेन्द्रियाँ प्राप्त होने पर भी मानव पर्याय का मिलना चौराहे पर रखे रत्न की प्राप्ति के सदृश अति कठिन है। और एक बार मनुष्य भव प्राप्त कर पुनः मनुष्य पर्याय की प्राप्ति जले हुए वृक्ष में अंकुर निकलने के समान अति कठिन है। फिर मनुष्य पर्याय के मिल जाने पर भी उत्तम देश, उत्तम कुल, इन्द्रियों की पूर्णता, निरोगता आदि की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अर्थात् मनुष्य जन्म मिल जााने पर भी हित-अहित के विचारों से शून्य, पशु सदृश जीवन व्यतीत करने वाले मांस भक्षी म्लेच्छों से व्याप्त कुदेशों की बहुलता से सुदेश अर्थात् आर्यखण्ड में जन्म पाना पाषाण में मणि प्राप्त हो जाने के समान दुर्लभ है। सुदेश के मिल जाने पर भी पाप कर्म करने वाले नीच कुलों से व्याप्त लोक में सुकुल की प्राप्ति होना अति दुष्कर है। सुकुल में जन्म हो जाने पर शील, विनय और आचार आदि की परम्परा मिल भी जावे, तो दीर्घ आयु, इन्द्रिय, बल, रूप, निरोगता आदि की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है। दीर्घायु आदि सर्व गुण-सम्पदा प्राप्त भी हो जावे, पर यदि सद्धर्म का लाभ नहीं होता तो नेत्रविहीन मुख के समान यह मानव जीवन व्यर्थ चला जाता है, फिर उस अति कठिनता से प्राप्त जिन धर्म को पाकर भी विषय सुख में आसक्त हो जाना, राख(भस्म) के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। विषय विरक्त होने पर भी तपो भावना, धर्मप्रभावना, सुखपूर्वक मरण-समाधि रूप लाभ अति दुर्लभ है। इस प्रकार निरंतर चिंतन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

(१२) धर्म अनुप्रेक्षा- यह जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित धर्म अहिंसा लक्षण वाला है। यह धर्म सत्य से अधिष्ठित है, विनय उसका मूल है, क्षमा उसका

बल है, वह ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपशम की उसमें मुख्यता है, नियति उसका लक्षण है, निष्परिग्रहता उसका आलम्बन है। इस महान पवित्र धर्म की प्राप्ति के अभाव में यह संसारी प्राणी, दुष्कर्मों के विपाक-फल से उत्पन्न दुःखों को भोगता हुआ अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। किन्तु जो इस सर्वज्ञ, जिनोपदिष्ट धर्म प्राप्त हो जाने पर उसका सम्यक् आचरण करता है, वह सांसारिक अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मोक्ष सुख को प्राप्त करता है, ऐसा चिंतन करना धर्मनुप्रेक्षा है।

परिषहजय क्यों?

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढ़व्याः परिषहाः ।।८।।

अर्थ- संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए परिषहों को सहन करना चाहिए।

विशेषार्थ- कर्मों के आगमन (आस्रव) द्वार को रोकने वाले संवर रूप जिनेन्द्र कथित मार्ग से च्युत नहीं होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन किया जाय, वह परिषह (जय) कहलाती है। अर्थात् जो स्वेच्छा से भूख-प्यास आदि के परिषह को सहते हैं, उनके ऊपर कोई उपसर्ग/आपत्ति कदाचित आती है, तो कष्ट सहन करने का अभ्यास होने से वे अपने संयम/तप मार्ग से डिगते नहीं हैं। तथा ऐसे समय में कर्मों की निर्जरा प्रचुर होती है। इसलिए विपत्ति, अंतराय के समय मन को स्थिर समतारूप रखने के लिए परिषहों को सहन करते ही रहना चाहिए। ऐसा अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना।

परिषहों का स्वरूप और उनके भेद-

क्षुत्पिपासा-शीतोष्णदंशमशक-नाग्न्यारति स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ।।९।।

नवम् अध्याय

अर्थ- क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह हैं। मोक्षार्थी को इन परिषहों को सहन करना चाहिए।

विशेषार्थ- (१) **क्षुधा परिषह-** मुनिराज को निर्दोष आहार मिलने पर या अल्प आहार मिलने पर एवं अयोग्य देश में आहार को नहीं चाहने वाले, अनशन, ऊनोदर आदि तपों को करने वाले अर्थात् अत्यंत भूख की पीड़ा होने पर भी धैर्य के साथ उसे सहन करने वाले ऐसे मुनिराज को क्षुधा परिषह विजयी समझना चाहिए।

(२) **पिपासा परिषह-** जो मुनि जल से स्नान करना, जल में अवगाहन करना, जल के परिसिंचन आदि के त्यागी होते हैं तथा प्रकृति विरूद्ध आहार, आतप, ग्रीष्मत्व, दाहज्वर, उपवास आदि से उत्पन्न हुई पिपासा का प्रतिकार नहीं करना चाहते, बल्कि उसका धैर्य रूपी नवीन कोमल घट में भरे शीतल सुगन्धित समाधि अर्थात् संतोष रूपी जल से शांत करते हैं, वे पिपासाजयी प्रशंसनीय मुनिराज कहे जाते हैं।

(३) **शीत परिषह-** जिस मुनि ने वस्त्र(आवरण) आदि का त्याग कर दिया है तथा जो शीतकाल में हिमपात आदि से उत्पन्न झंझावात, सम्पात आदि जैसी तीव्र ठंड को सहन करते हैं। शीत के निवारण के लिए अग्नि, हीटर आदि उपकरणों/साधनों की वाञ्छा नहीं करते हैं, वे धीर-वीर मुनि शीत परिषहजयी होते हैं।

(४) **उष्ण परिषह-** ग्रीष्म ऋतु आदि के कारण गर्मी(उष्णता) का घोर कष्ट होते हुए भी पंखा, कूलर, एयरकंडीशंड आदि की इच्छा से रहित उस उष्णता

से विचलित नहीं होने वाले मुनिराज के अपने चरित्र की रक्षा करने रूप उष्ण परिषहजय है।

(५) **दंशमशक परिषह-** 'दंशमशक' उपलक्षण है। जैसे ''कौओं से घी की रक्षा करना''। अर्थात् घी के उपघातक, उपलक्षण से सर्व श्वान, मार्जार(बिल्ली) आदि से घी की रक्षा करना ग्रहण होता है। उसी प्रकार यहाँ दंशमशक पद से दंशमशक मच्छर, मक्खी, पिस्सू, दीमक, चींटी, बिच्छू, अन्य कीड़े आदि की बाधा को बिना प्रतिकार किए सहन करना दंशमशक परिषहजय कहा है।

(६) **नाग्न्य परिषह-** माता के गर्भ से उत्पन्न बालक की तरह निर्विकार, निष्कलंक नग्नरूप धारण करना नाग्न्य है। निष्परिग्रही होने से यह नगनत्व हिंसा, याचना करना आदि दोषों से रहित है तथा निर्वाण प्राप्ति का अद्वितीय साधन है। विशुद्ध नग्नता को धारण करने वाले मुनिराज मन के विकार से रहित होने से वे स्त्रियों के शरीर व रूप को महा अपवित्र, मृतक शरीर के समान चिंतन करते हैं। इससे ब्रह्मचर्य अक्षुण्ण होता है तथा अचेलकत्व भी निर्दोष होता है। इस दुष्कर नाग्न्य को धारण कर जो काम विजयी होता है, वह नाग्न्य परिषह विजय है।

(७) **अरति परिषह-** जो मुनि इन्द्रियों से विरत रहता है, संगीत, नृत्य, वादित्र आदि से रहित शून्य घर, जिनमंदिर, शिला-गुफा आदि में निवास करता है, तथा स्वाध्याय, ध्यान आदि भावनाओं में रति अथात् प्रीति करता है, दृष्ट,श्रुत और अनुभूत भोगों के स्मरण के लिए जिनका हृदय छिद्र रहित है, उन मुनि के अरति परिषह जानना चाहिए।

(८) **स्त्रीबाधा परिषह-** जो मुनि एकांत बगीचा, भवन आदि में नवयोवना चंचल नेत्र वाली अथवा बाल, वृद्ध, स्त्रियों के मुस्कान, मदभरी चाल, कामवाणों का मारना, तिरछी-नजरों या मंद मुस्कान सहित कोमल संभाषण

आदि से भी बिचलित नहीं होते, उन मुनिराज के स्त्री बाधा परिषहजय होता है।

(६) **चर्या परिषह-** जिन मुनि ने बंध, मोक्ष पदार्थ को जान लिया है, वायु के समान निसंग अर्थात् परिग्रह से रहित हैं तथा बहुत बार अनशन, अवमोदर्य, रस त्याग, कायक्लेश आदि तपों को तपने में सहनशील हैं, जो खड़ाऊ आदि पद-रक्षक वस्तुओं के त्यागी हैं, बालू, पाषाण, कांटे और मिट्टी के कठोर टुकड़ों के लगने से उत्पन्न पाद पीड़ा को नहीं देखते हैं, देश, काल अनुसार संयम के अविरोधी संयम के आयतनों एवं यतिजनों की विनय-भक्ति करने, गुरुजनों की स्वीकृति से देशान्तरों में विहार करते हैं, तथा यथाकाल अपने आवश्यकों की परिपूर्ण पालना करते हैं, उन मुनिराज के चर्या परिषहजय जानना चाहिए।

(१०) **निषद्या परिषह-** सूर्य के प्रकाश एवं अपने इन्द्रिय ज्ञान से परीक्षित स्थान में सामायिक आदि क्रियाओं को करने के लिए जो मुनि नियत काल तक निषद्या(आसन) लगाकर वैठते हैं, देव, तिर्यन्च, मनुष्य और अचेतन कृत उपसर्गों को यथा संभव सहन करते हुए अपने मोक्षमार्ग से चलायमान नहीं होते हैं, उन मुनिराज के निषद्या परिषहजय होता है।

(११) **शय्या परिषह-** स्वाध्याय, ध्यान एवं विहार आदि के श्रम से थककर विषम, कठोर अथवा शीत-उष्ण प्राप्त स्थान में जो मुनि अल्प निद्रा लेते हैं तथा जो यथाकृत एक पार्श्वभाग से या दण्डायित आदि रूप से, बिना करवट बदले शयन करते हैं। ‘‘इस स्थान में किसी दुष्ट प्राणी का उपद्रव तो नहीं होगा’’ अथवा ‘‘रात्रि का अंत कब होगा’’ इत्यादि रूप अखेदित मन वाले उन मुनिराज के शय्या परिषहजय होता है।

(१२) आक्रोश परिषह- जो मुनिराज मिथ्या दृष्टि, विधर्मी एवं दुष्टजनों के तीव्र क्रोध, अवज्ञा, निंदारूप असभ्य वचनों को सुनकर भी आक्रोश(क्रोध) को प्राप्त नहीं होते हैं, ना ही उसका प्रतिकार करते हैं, बल्कि ''यह हमारे स्वकीय पाप कर्म का उदय है। ऐसा सम्यक् चिंतन करते हैं, उन मुनिराज के आक्रोश परिषहजय होता है।

(१३) वध परिषह- जैसे चंदन के छीलने, काटने, जलाने पर भी वह सुगंध ही देता है, वैसे ही किसी अज्ञानी के द्वारा अपने को लाठी, तलवार आदि से पीटने, मारने वाले पर भी जो साधुजन उस पर क्रोध न करके अपना कर्मोदय जानकर उसका भला ही विचारते हैं। अर्थात् जिस साधु में शत्रु व मित्र दोनों मे सम भाव है, वह वध परिषह सहन करने में समर्थ होता है।

(१४) याचना परिषह- आहार आदि के न मिलने पर भले ही कितना कष्ट सहन करना पड़े, यहॉ तक कि प्राण ही क्यों न चले जायें, किन्तु किसी से याचना करना तो दूर मुख पर मलिनता, दीनता भी नहीं लाते, न दीनता दिखाते, ऐसे साधु के याचना परिषहजय कहा है।

(१५) अलाभ परिषह- बहुत दिन तक या बहुत घरों में भिक्षा(आहारादि) का लाभ न होने पर भी जिन साधुजन का चित्त आर्त-रौद्र ध्यान से रहित है, लाभ से भी अधिक अलाभ मेरा परम तप है, इस प्रकार जो संतुष्ट हैं, उन साधु के अलाभ परिषहजय कहलाता है।

(१६) रोग परिषह- विरूद्ध आहार-पान के सेवन की विषमता से अथवा अन्य प्रकार से शरीर में वात-पित्त जन्य रोग-व्याधियाँ उत्पन्न हो जावें, फिर भी उनके प्रतिकार की भावना नहीं करते, बल्कि यह शरीर तो अशुचि पदार्थों का

घर है, अनित्य है, अंगुल-अंगुल में ९६-९६ रोग स्थित हैं, ऐसा विचार करते हुए जो साधुजन शरीर के प्रति मोह रहित होते हैं, उन साधुजन के रोग परिषहजय जानना चाहिए।

(१७) **तृण स्पर्श परिषह-** यहाँ 'तृण' शब्द उपलक्षण मात्र है। अर्थात् जो साधु सूखे तिनके, कठोर मिट्टी, पत्थर, कंकड़ तथा तीक्ष्ण कांटों आदि के बिंधने से पैरों में होने वाली वेदना को सहन करते हैं तथा चर्या, शय्या और निषद्या में प्राणियों की पीड़ा के परिषह में जिनका चित्त निरंतर प्रमाद रहित है, उन मुनि आदि संयमीजन के तृण स्पर्श बाधा परिषहजय होता है।

(१८) **मल परिषह-** जलकायिक असंख्य जीवों की पीड़ा के परिहार के लिए जिन साधुजन ने मरण पर्यन्त अस्नान व्रत स्वीकार किया है तथा पसीना, धूल आदि शरीर से चिपक गया है, दाद, खाज आदि से उत्पन्न खुजली होने पर भी मर्दन, स्नान आदि करने का जो विकल्प नहीं लाते हैं, बल्कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी पवित्र विमल नीर से कर्मकलंक को दूर करने के लिए सतत उद्यमी हैं, वह मल परिषह सहनशील हैं, परिषह विजयी हैं।

(१९) **सत्कार-पुरस्कार परिषह-** पूजा-प्रशंसा करना सत्कार कहलाता है और किसी कार्य में आमंत्रण देकर आगे करना पुरस्कार है। मैं चिरकाल से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला परम तपस्वी हूँ, चिरदीक्षित हूँ, स्वसमय-परसमय का निर्णयज्ञ हूँ, फिर भी ये लोग मेरी भक्ति, पूजा, प्रशंसा नहीं करते, आदरपूर्वक आसन आदि नहीं देते और मिथ्या दृष्टि, अज्ञानीजनों को सर्वज्ञ मानकर उनकी पूजा, प्रशंसा, उच्चासन आदि में उत्साह पूर्वक तत्पर होकर उनका सम्मान करते हैं। इस प्रकार के दुर्ध्यान को न करके जो साधु पुरूष अपमान-सम्मान में समभाव रखते हैं, वह सत्कार-पुरस्कार परिषहजयी साधुजन हैं।

(२०) प्रज्ञा परिषह- तर्क, व्याकरण, अध्यात्मशास्त्र के निधान, अंगपूर्व में निपुण, मेरे सामने अन्य विद्वान खद्योत(जुगनू) के समान हैं, ऐसा पांडित्य का गर्व जिस साधु के नहीं है, उन साधु के प्रज्ञा परिषहजय कहा है।

(२१) अज्ञान परिषह- शास्त्र ज्ञान होने पर भी असहिष्णु मूर्खों, अंहकारी लोगों द्वारा "यह मूर्ख है, बैल के समान है, यह कुछ भी नहीं जानता है" इत्यादि तीक्ष्ण वचन वाणों के तिरस्कार को सहन करते हुए अपने तपानुष्ठान में, ज्ञानाभ्यास में ही तत्पर रहने वाले मुनिराज, साधुजन अज्ञान परिषहजयी हैं।

(२२) अदर्शन परिषह- जो मुनिराज वैराग्य भावना से विशुद्ध, चित्त वाले हैं, जिनायतन, और साधुजनों तथा जिनधर्म की वंदना, सम्मान, नमस्कार आदि में तत्पर रहते हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि न होने पर अथवा श्रद्धान से च्युत होने के निमित्त मिलने पर भी मुनिमार्ग में निरंतर श्रद्धा वनाए रखते हैं, उन मुनिराज, साधुजन के अदर्शन परिषह जय होती है।

इस तरह इन २२ परिषहों को संक्लेश रहित चित्त से (भावों से) सहन करने पर महान संवर होता है।

१०वें, ११वें, १२वें गुण स्थान में परिषह-

सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थ-वीतरागयोगश्चतुर्दश ।।१०।।

अर्थ- सूक्ष्म साम्पराय(दसवें गुणस्थान), छद्मस्थ वीतराग (ग्यारहवें) और क्षीणमोह (बारहवें) गुणस्थान में १४ परिषह होते हैं।

विशेषार्थ- छद्म का अर्थ है ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म। ज्ञानावरण और दर्शनावरण का उदय होने पर भी जिनको अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होने वाला है, उन क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थानवर्ती साधु को छद्मस्थ वीतरागी कहते हैं।

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परिषह उपरोक्त कहे गए तीन गुण स्थानवर्ती मुनि को होते हैं। ग्यारहवें और बारहवें गुण स्थान में मोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से तत्संबंधी आठ परिषह नहीं होते है। दसवें गुण स्थान में केवल संज्वलन लोभ का उदय है, किन्तु वह भी अत्यंत सूक्ष्म है। अतः दसवाँ गुण स्थान भी वीतराग छद्मस्थ के सदृश है, इसलिए उसमें भी मोहजन्य नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार एवं अदर्शन ये आठ परिषह नहीं होते हैं।

सयोग केवली गुणस्थान में परिषह-

एकादश जिने ।।११।।

अर्थ- सयोग केवली (तेरहवें गुणस्थान) में ग्यारह परिषह होते हैं।

विशेषार्थ- चार घातिया कर्मों के नाशक या कर्मों से रहित सयोग केवली भगवान के वेदनीय कर्म का सद्‍भाव होने से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परिषह नामक ग्यारह परिषह होते हैं।

जिज्ञासा- यदि केवली भगवान के ग्यारह परिषह होते हैं, तो उन्हें भूख, प्यास की बाधा भी होनी चाहिए?

समाधान- मोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से वेदनीय कर्म में भूख-प्यास की वेदना उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती। जिस प्रकार विष की मारने की शक्ति मंत्र व औषधि आदि के बल से नष्ट कर दी जाती है। उसी प्रकर केवली भगवान जो अनंत चतुष्टय से युक्त हैं, उनके अन्तराय कर्म का अभाव

हो जाता है। इससे वेदनीय कर्म भी निस्सहाय हो जाने से निष्क्रिय हो जाता है। इस कारण से केवली भगवान के भूख-प्यास की वेदना, बाधा नहीं होती, बल्कि निरंतर शुभ नोकर्म वर्गणाओं का संचय होता रहता है। फिर भी उनके वेदनीय का उदय है, इसी से ग्यारह परिषह उपचार से कहे हैं।

छठवें से नौवें गुणस्थान तक परिषह-

वादर साम्पराये सर्वे ।।१२।।

अर्थ- बादर सामम्पराय नौवें गुणस्थान तक सभी परिषह होते हैं।

विशेषार्थ- यद्यपि नौवें गुणस्थान का नाम वादर साम्पराय है, किंतु यही नौवाँ गुणस्थान मात्र न लेकर ''वादर साम्पराय'' शब्द ग्रहण करना चाहिए। वादर अर्थात् स्थूल और साम्पराय यानि कषाय जिनमें पायी जाती है, ऐसे छठवें से नौवें गुणस्थान तक सभी बाईस परिषह होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानों में कषाय का उदय होने से परिषहों के कारण भूत सब कर्मों का उदय है।

किस कर्म के उदय से कौन सा परिषह-

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।१३

अर्थ- ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परिषह होते हैं।

जिज्ञासा- ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान परिषह का होना तो ठीक है, किंतु प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के चले जाने पर होती है क्योंकि प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है?

<u>समाधान</u>- प्रज्ञा परिषह का अर्थ है ज्ञान (प्रज्ञा) का मद, उस मद को नहीं होने देना। सो मद ज्ञानावरण के उदय में ही होता है। परंतु जिन मुनिराजों के समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो जाता है, उनके फिर ज्ञान का मद नहीं होता। इसी से प्रज्ञा परिषह ज्ञानावरण के उदय में होता है, यह सही कहा है।

<u>दर्शन मोह और अन्तराय के उदय में परिषह-</u>

दर्शन-मोहान्तराययो-रदर्शना-लाभौ ।।१४।।

अर्थ- दर्शन मोहनीय कर्म के उदय में अदर्शन परिषह एवं अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परिषह होता है।

<u>चारित्रमोह के उदय में परिषह-</u>

चारित्रमोहेनाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्काराः ।।१५।।

अर्थ- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना एवं सत्कार-पुरस्कार ये सात परिषह होते हैं।

<u>वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले परिषह-</u>

वेदनीये शेषाः ।।१६।।

अर्थ- शेष बचे ग्यारह परिषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं। अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परिषह ये ग्यारह परिषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

<u>एक साथ कितने परिषह-</u>

एकादयो भाज्या युगपदे-कस्मिन्नैकोनविंशते ।।१७।।

अर्थ- एक जीव के एक को आदि लेकर उन्नीस परिषह तक एक साथ हो सकते हैं।

विशेषार्थ- एक साथ एक परिषह से लेकर अधिकतम १९ परिषह एक समय में हो सकते हैं, किंतु २२ परिषह नहीं हो सकते। क्योंकि शीत और उष्ण में से एक समय में एक ही होगा तथा चर्या, शय्या और निषद्या इन तीन में से एक समय में एक ही होगा। इस प्रकार तीन परिषह कम हो जाते हैं।

चारित्र के भेद-

सामायिकच्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-

यथाख्यातमितिचारित्रम् ।।१८।।

अर्थ- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यात ये पाँच प्रकार के चारित्र हैं।

विशेषार्थ- १) **सामायिक चारित्र-** सम्पूर्ण सावद्य(पापजन्य) योग के त्याग को सामायिक चारित्र कहते हैं। परिमित (नियत) काल एवं अपरिमित (अनियत या अनिश्चित) काल के भेद से समायिक दो प्रकार की है। सातवें अध्याय के सूत्र क्र. २१ व ३३ में इसका वर्णन कर चुके हैं।

२) **छेदोपस्थापना-** प्रमादवश सामायिक चारित्र से डिगने पर चारित्र में लगे दोषों को अर्थात् मन, वचन, और काय रूप व्यापार में लगे दोषों का प्रायश्चित्त के द्वारा छेदकर (दूर कर) निर्दोष चारित्र पुनः धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है।

३) **परिहार विशुद्धि-** परिहरण, परिहार और प्राणिवध की निवृत्ति होना ये एकार्थवाची हैं। जिस चारित्र में प्राणी हिंसा की पूर्ण निवृत्ति होने से विशिष्ट

विशुद्धि पाई जाती है तथा कर्मकलंक का प्रक्षालन होता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

जिसने जन्म से ३० वर्ष तक सुखपूर्वक जीवन विताया हो, फिर जिनदीक्षा लेकर ८ वर्ष तक तीर्थंकर प्रभु के निकट रहकर नौवें पूर्व को पढ़ा हो तथा तीनों संध्या कालों को छोड़कर दो कोस विहार करने का जिनका नियम हो, उस दुर्धर चर्या के पालने वाले महामुनि को ही परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्र के पालने वाले मुनिराज के शरीर से जीवों का घात नहीं होता, इसी से इसका नाम परिहार विशुद्धि चारित्र है।

४) **सूक्ष्मसाम्पराय**- जिस चारित्र में लोभ कषाय अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है, इस दसवें गुणस्थानवर्ती चारित्र को सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं।

५) **यथाख्यात चारित्र**- जिस चारित्र में सम्पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो गया है तथा परम उदासीन लक्षण रूप जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है, वैसा ही स्वभाव जिस चारित्र में है, वह यथाख्यात चारित्र हैं। इसे तथाख्यात भी कहते है, क्योंकि जैसा आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही इस चारित्र का स्वरूप है।

सूत्र में जो यथाख्यात के बाद **'इति'** शब्द है, वह यह बतलाता है कि यथाख्यात चारित्र से परिपूर्ण कर्मों का क्षय होता है, अन्य चारित्र से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय नहीं होता।

बाह्य तप के भेद-

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ।।१९।।

नवम् अध्याय

अर्थ- अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप के भेद हैं।

विशेषार्थ- बाह्य तप वस्तुओं के त्याग की अपेक्षा अर्थात् खान-पान आदि द्रव्यों की अपेक्षा से किए जाते हैं तथा इन तपों का पता दूसरे लोगों को भी लग जाता है, इसलिए इन्हें बाह्य तप कहा जाता है।

(१) **अनशन-** ख्याति, पूजा, मंत्रसिद्धि आदि लौकिक फल की इच्छा न करके, संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का बिनाश, स्वाध्याय एवं सद्ध्यान की सिद्धि के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन (उपवास) तप है।

(२) **अवमोदर्य-** संयम को जाग्रत रखने के लिए वात, पित्त, कफ आदि दोषों के शमन के लिए तथा ज्ञान-ध्यान आदि की सुख-पूर्वक सिद्धि के लिए भूख से कम खाना अवमोदर्य (ऊनोदर) तप कहलाता है।

(३) **वृत्ति परिसंख्यान-** मुनिराज जब आहार चर्या हेतु निकलें तब एक घर जाने का नियम अथवा किसी एक दिशा में (अर्थात् उत्तर या दक्षिण) वाले चौके में जाने का नियम करना, अथवा, अमुक विधि से आहार मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, ऐसा नियम करके जाना, वृत्ति परिसंख्यान तप है। यह वृत्ति-परिसंख्यान तप आहार सम्बंधी संकल्प-विकल्प एवं चिन्ताओं के नियंत्रण एवं आशाओं की निवृत्ति के लिए किया जाता है।

(४) **रस परित्याग-** इन्द्रियों के दमन करने के लिए, निद्रा पर विजय पाने के लिए तथा सुख पूर्वक स्वाध्याय करने के लिए घी, दूध, मीठा, नमक, तेल व दही इन छह रसों का सम्पूर्ण या यथा योग्य शक्ति अनुसार त्याग करना रस परित्याग तप है।

(५) **विविक्त शय्याशन-** विविक्त यानि शून्य, शयन यानि सोना, आसन यानि बैठना अर्थात् प्राणियों की पीड़ा से रहित, ब्रह्मचर्य के निर्दोष पालन के लिए, स्वाध्याय एवं ध्यान की सिद्धि के लिए एकान्त स्थान में आसन लगाना अथवा विश्राम के लिये भी एकान्त स्थान में ही सोना पाचवाँ विविक्त शय्यासन नाम का तप है।

(६) **कायक्लेश-** शारीरिक कष्टों को सहन करने के लिए शरीर सुख की वांछा अर्थात् आरामतलवी की भावना को दूर करने के लिए और जिनधर्म की, जिनेन्द्रशासन की, नमोस्तु शासन की प्रभावना के लिए आतापन योग आदि को धारण करना काय क्लेश नाम का छठवाँ तप है, आतापन अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटी पर, शीत काल में खुले मैदान में तथा वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाना।

जिज्ञासा- काय क्लेश और परिषह में क्या अन्तर है?

समाधान- काय क्लेश स्वयं, बुद्धि पूर्वक सहन किया जाता है और परिषह आकस्मिक, अर्थात् अचानक आ जाते हैं।

अभ्यन्तर तप-

प्रायश्चित्त-विनय-वैय्यावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।।२०।।

अर्थ- प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यंतर संयम स्थान, उत्तर तप अर्थात् अंतरंग तप हैं।

विशेषार्थ- ये मन की चंचल प्रवृत्ति को रोकने अर्थात् मन को वश में करने के लिए किए जाते हैं, इसलिए इन तपों को आभ्यंतर तप कहते हैं।

(१) **प्रायश्चित्त-** प्रमाद से लगे दोषों का परिहार करना अर्थात् प्रमाद एवं अज्ञानता से लगे दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है।

(२) **विनय-** पूज्य पुरूषों का आदर करना अर्थात् ज्येष्ठ मुनिजनों के प्रति यथोचित आदर भाव को होना विनय नाम का दूसरा अभ्यंतर तप है।

(३) **वैय्यावृत्य तप-** शारीरिक कारण से, यात्रा-विहार या अन्य किसी कारण से ग्लान, थके हुए मुनिराज की पादमर्दन आदि के द्वारा आराधना करना, सेवा करना तथा प्रासुक औषधि आदि द्रव्यान्तर से सेवा करना वैय्यावृत्य नाम का तीसरा अभ्यंतर तप है।

(४) **स्वाध्याय-** आलस्य एवं प्रमाद का त्याग कर ज्ञान की आराधना करना स्वध्याय नाम का चौथा अंतरंग तप है।

(५) **व्युत्सर्ग-** ममत्व भाव का त्याग व्युत्सर्ग है। अर्थात् "यह शरीर मेरा है" "यह वस्तु मेरी है", इस प्रकार के अहंकार एवं ममकार रूप संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग नाम का पाँचवां अंतरंग तप है। अथवा बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रह का त्याग भी अभ्यंतर तप है।

(६) **ध्यान-** चित्त की चंचलता को रोककर किसी एक पदार्थ के चिंतन में उसे लगाना ध्यान है। अर्थात् चित्त, मन में नाना विकल्पों का नहीं उठना ध्यान नाम का छठवाँ अंतरंग तप है।

अभ्यंतर तपों के उत्तर भेद-

नव चतुर्दश-पंच द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।।२१।।

अर्थ- प्रायश्चित्त के ९ भेद, विनय के ४ भेद, वैय्यावृत्य के १० भेद स्वाध्याय के ५ भेद और व्युत्सर्ग तप के दो भेद हैं। आगे इनका क्रमशः वर्णन करते हैं।

प्रायश्चित्त तप के ९ भेद-

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय विवेक-व्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः !!२२!!

अर्थ- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्यत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये प्रायश्चित्त तप के ९ भेद हैं।

विशेषार्थ- (१) आलोचना- गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से विनय पूर्वक और ''भगवती आराधना'' में बतलाये गए निम्नलिखित १० प्रकार के दोषों से रहित विधि से अपने प्रमाद (दोषों) को प्रकट कर देना, प्रायश्चित्त तप है। आलोचना के १० भेद इस प्रकार हैं-

१) अकम्पित दोष- आचार्य हमारे ऊपर दया करके थोड़ा सा ही प्रायश्चित्त देगें, इस भाव से आचार्य को पीछी, कमण्डलु आदि कुछ भेंट करके, फिर दोष का निवेदन करना आकम्पित दोष है।

२) अनुमानित दोष- गुरु की बातचीत से प्रायश्चित्त का अनुमान लगाकर तब दोषों की आलोचना करना अनुमानित दोष है।

३) दृष्ट दोष- जो दोष किसी ने नहीं देखा, उसे छुपा लेना और जो दोष किसी ने करते देख लिया, मात्र उसकी ही गुरु से आलोचना करना दृष्ट दोष है।

४) वादर दोष- सूक्ष्म दोषों को छुपाकर केवल मोटे या स्थूल दोषों की आलोचना करना वादर दोष है।

५) सूक्ष्म दोष- अधिक प्रायश्चित्त के भय से अथवा संघ में निंदा के भय से महान (बड़े) दोषों को छुपा लेना और छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना वादर दोष है।

६) प्रच्छन्न(छन्न) दोष- दोष का निवेदन करने से पहले गुरु से पूँछना कि यदि कोई ऐसा अपराध करे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होता है? इस प्रकार गुप्त दोष कहे बिना उसकी आलोचना करना प्रच्छन्न दोष है।

७) शब्दाकुलित दोष- प्रतिक्रमण अथवा अन्य सामूहिक कार्य के समय जब समस्त संघ एकत्र हुआ हो, खूब कोलाहल हो रहा हो, उस समय आलोचना करना, जिससे गुरु ठीक तरह से न सुन सके, यह शब्दाकुलित दोष है।

८) बहुजन दोष- गुरु ने जो प्रायश्चित्त दिया है वह उचित है या नहीं ऐसी आशंका से अन्य साधुओं से पूँछना अथवा बहुत लोगों के सामने जान बूझकर आलोचना करना बहुजन दोष है।

९) अव्यक्त दोष- अपने गुरु से दोष न कहकर, दोषों का नहीं समझने वाले किसी अनभिज्ञ गुरु से अथवा अन्य साधुजनों से अपना दोष कह देना, अव्यक्त नाम का दोष है।

१०) तत्सेवी दोष- ऐसे गुरु के पास उस दोष की आलोचना करना जो दोष उस गुरु में भी हो अथवा समान अपराध वाले मुनि से पूँछना कि तुम्हें गुरु ने इस दोष का क्या प्रायश्चित्त दिया है? वही प्रायश्चित्त मेरे लिए भी युक्त है, यह तत्सेवी दोष है।

इस तरह उपराक्त १० दोषों से रहित अपने प्रमादचर्या (दोषों) की आलोचना करना आलोचना प्रायश्चित्त है।

(२) **प्रतिक्रमण-** "मिच्छा मे दुक्कड़ं" ऐसा निवेदन करना। अर्थात् प्रमादवश जो दोष मुझसे हुआ हो, वह मिथ्या हो। इस प्रकार अपने द्वारा किए हुए दोषों के लिए, स्वयं अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को खेद सहित प्रकट करना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है।

(३) **तदुभय प्रायश्चित्त-** शुद्ध होने पर भी अशुद्ध होने का संदेह होना अथवा अशुद्ध होने पर भी अपने को शुद्ध मानना। ऐसी स्थिति में आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों करना चाहिए। अथवा कोई अपराध तो केवल आलोचना से ही शुद्ध हो जाता है, और कोई अपराध प्रतिक्रमण करने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है किन्तु कोई अपराध आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से शुद्ध होता है, यही तदुभय प्रायश्चित्त है।

(४) **विवेक प्रायश्चित्त-** सदोष आहार एवं सदोष उपकरणों आदि का संसर्ग होने पर इनका त्याग करना अथवा जिस वस्तु का नहीं खाने का नियम हो, उस वस्तु का पात्र में या मुख में आ जाने पर या जिन वस्तुओं से कषाय आदि उत्पन्न होने की आशंका हो, उन वस्तुओं का त्याग कर देना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

(५) **व्युत्सर्ग पायश्चित-** नियतकाल के लिए शरीर, वचन और मानसिक प्रवृत्तियों का त्याग अथवा कुछ काल के लिए कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। इसमें अहंकार, ममकार का त्याग करना होता है।

(६) **तप प्रायश्चित्त-** अनशन आदि छह प्रकार का बहिरंग तप करना तप प्रायश्चित्त है। तप अग्नि है, यह कर्ममल को जलाकर आत्मा को शुद्ध करता है।

(७) **छेद प्रायश्चित्त-** दिन, पक्ष, मास आदि तक के लिए दीक्षा का छेद कर देना छेद प्रायश्चित्त है। जैसे कोई साधु २० वर्ष का दीक्षित है, अपराध करने के कारण उसकी १० वर्ष की दीक्षा छेद दी गई, अतः अब वह १० वर्ष का

दीक्षित माना जायेगा और जो दस वर्ष से एक दिन मात्र भी पूर्व दीक्षित है, उन साधु महाराज को उसे नमोस्तु करना होगा। यह छेद प्रायश्चित्त है।

(८) **परिहार प्रायश्चित्त-** कुछ दिन या माह के लिए संघ से निष्कासित कर देना परिहार प्रायश्चित्त है। तब तक कोई मुनि उन्हें नमस्कार नहीं करता।

(९) **उपस्थापना प्रायश्चित्त-** पुरानी दीक्षा को पूर्णतया छेदकर अर्थात् महाव्रतों का मूलच्छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना नामक प्रायश्चित्त है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र को छोड़कर मिथ्याचारित्र में जाने वाले साधु के उपस्थापना होती है।

विशेषः- जिसके द्वारा साधर्मियों और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी ओर से स्वयं शुद्ध हो जावे, उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं। क्योंकि प्रमाद, अज्ञान, राग अथवा द्वेषादि के कारण व्रतों में लगे हुए दोषों का निराकरण, शोधन, धावन, पुच्छन, उत्क्षेपण, छेदन आदि के द्वारा किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। अपने दोषों के प्रति पश्चाताप करना, भविष्य में दोष नहीं लगाने का प्रयत्न करना, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यदि अपराधों के प्रति ग्लानि नहीं करता, पश्चाताप नहीं करता, बल्कि बार-बार अपराध करता है, उस साधु के लिए प्रायश्चित्त नहीं कहा है।

विनय तप के ४ भेद-

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः ।।२३।।

अर्थ- ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय एवं उपचार विनय ये चार विनय तप के भेद हैं।

विशेषार्थ- १) **ज्ञान विनय-** बहुमान सहित अर्थात् आलस्य रहित होकर देश, काल, भाव की शुद्धि पूर्वक, विनय पूर्वक मोक्ष की साधना हेतु सम्यग्ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना, स्मरण आदि करना ज्ञान विनय है।

२) <u>दर्शन विनय</u>- शंका, कांक्षा, जुगुप्सा आदि दोषों से रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान दर्शन विनय है।

३) <u>चारित्र विनय</u>- निर्दोष चारित्र का स्वयं पालन करना और चारित्रधारी अन्य पुरूषों की विनयी भावों से भक्ति करना चारित्र विनय है। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा तप के विषय में विशुद्ध परिणामों का होना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की विनय है।

४) <u>उपचार विनय</u>- आचार्य, उपाध्याय आदि पूज्य पुरूषों को देखकर उनके लिए खड़े होना, उनके पीछे-पीछे गमन करना, नमस्कार करना तथा परोक्ष में भी उन्हें नमस्कार करना, उनके गुणों का स्मरण करना, उनकी आज्ञा का पालन करना यह सब उपचार विनय है।

विशेषः- तप की आराधना में विनय का कथन इसलिए किया है, क्योंकि इस ग्रंथ में मोक्ष का प्रकरण मुख्यता से है तथा विनय मोक्ष की प्राप्ति में साधनभूत है। आगम में ''विनयो मोक्खं द्वारं'' कहा है। अतः विनय भी तप है।

लौकिक दृष्टि से लौकिक विनय चार प्रकार की है- १) <u>लोकानुवृत्ति विनय</u>- जैसे माता, पिता आदि गुरुजनों की यथा योग्य विनय करना।

२) <u>अर्थ निमित्तक विनय</u>- सांसारिक कार्य की सिद्धि के लिए राजा, मंत्री आदि पदधारियों को नमस्कार करना, हाथ जोडना, पैर दबाना आदि।

३) <u>कामतंत्र विनय</u>- काम-भोगादि पंचेन्द्रिय विषयों के निमित्त से किसी का आदर सत्कार करना काम तंत्र विनय है।

४) <u>भय विनय</u>- राज्य पदधारी अथवा बाधा, संकट उत्पन्न करने वाले अन्य बलवान पुरूष आदि से भयभीत होकर उनका आदर-सत्कार आदि करना भय

विनय है। ये चारों लौकिक विनय मोक्ष साधन में कारणभूत नहीं हैं, मात्र संसार वृद्धि की ही हेतु हैं। यदि अज्ञानतावश करते हैं, तो ये वैनयिक मिथ्यात्व में गर्भित होती है।

वैयावृत्य तप के १० भेद-

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष्यग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ।।२४।।

अर्थ- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों की सेवा करना १० प्रकार की वैयावृत्य है।

विशेषार्थ- १) आचार्य- जो स्वयं व्रतों का आचरण करते हैं और संघस्थ साधुजनों को कराते हैं, उनको आचार्य कहते हैं।

२) उपाध्याय- जिनके पास जाकर मुनिगण मोक्ष की सिद्धि के लिए शास्त्रों का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

३) तपस्वी- जो साधु मासोपवास आदि तप बहुलता से करते हैं।

४) शैक्ष- जो मुनि शास्त्रों का अध्ययन करने में सदैव तत्पर रहते हैं। वे शैक्ष्य कहलाते हैं।

५) ग्लान- रोगी साधुजनों को ग्लान कहते हैं।

६) गण- वृद्ध मुनियों के समूह को गण कहते हैं।

७) कुल- दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा अथवा शिष्य समूह को कुल कहते हैं।

८) संघ- ऋषि, मुनि, यति और अनगार अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के समूह को संघ कहते हैं।

९) साधु- बहुत समय से दीक्षित मुनि को साधु कहते हैं।

१०) जिसका उपदेश लोकमान्य हो और जो सभी लोगों से प्रशंसित एवं लोक में पूज्य हो, उसे मनोज्ञ कहते हैं।

इन दस प्रकार के महामुनियों के रोग, परिषह, उपसर्ग या मिथ्यात्व आदि के उत्पन्न हो जाने पर काय चेष्टा के द्वारा एवं बाह्य प्रासुक औषधि, धर्मोपकरण आदि के द्वारा वैयावृत्य करना उनके कष्टों का यथा योग्य प्रतिकार करना तथा उपदेश आदि के द्वारा उनके श्रद्धान को दृढ़ करना, ये सब वैयावृत्य तप है।

विशेषः- यह वैयावृत्य तप समाधि की प्राप्ति के लिए, विचिकित्सा के परिहार के लिए और प्रवचन वात्सल्य आदि की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

स्वाध्याय तप के ५ भेद-

वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः ।।२५।।

अर्थ- वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद है।

विशेषार्थ- १) वाचना- निर्दोष ग्रंथ को तथा उसके अर्थ को पढना-पढाना, धर्म के इच्छुक विनयशील पात्रों को शास्त्र के निर्दोष अक्षर और अर्थ की व्याख्या करना वाचना है।

२) पृच्छना- संशय को दूर करने के लिए तथा अर्थ को पुष्ट करने के लिए आचार्य अथवा विशिष्ट ज्ञानीजनों, जो तत्सम्बंधी विषय के मर्मज्ञ हों उनसे पूँछना पृच्छना है।

३) अनुप्रेक्षा- जाने हुए अर्थ का एकाग्र मन से बार-बार अभ्यास करना एवं चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

४) **आम्नाय-** उच्चारण की शुद्धिपूर्वक उस पाठ का दुहराना, तथा पुनः पुनः उसका घोष करना आम्नाय स्वाध्याय है।

५) **धर्मोपदेश-** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का, मोक्षमार्ग का एवं प्रेरक धर्म कथाओं का उपदेश करना धर्मोपदेश स्वाध्याय है।

विशेषः- इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय से बुद्धि का विकास होता है, समीचीन ज्ञान बृद्धिंगत होता है, संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति होती है। साथ ही तपश्चरण की वृद्धि होती है तथा व्रतों में लगे अतिचारों की विशुद्धि एवं संशय का नाश होता है। अतः स्वाध्याय परम तप कहा है।

व्युत्सर्गतप के दो भेद-

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।।२६।।

अर्थ- बाह्य उपधि व्युत्सर्ग और अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग ये दो भेद व्युत्सर्ग तप के हैं।

विशेषार्थ- उपधि अर्थात् परिग्रह। व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग।

(१) **बाह्य उपधि व्युत्सर्ग**- आत्मा से सर्वथा पृथक धन-धान्य आदि दस परिग्रह का त्याग बाह्य उपधि व्युत्सर्ग है।

(२) **अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग-** नियत काल अर्थात् कुछ समय के लिए अथवा तावज्जीवन शरीर से ममत्व का त्याग करना तथा राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया एवं लोभ आदि भावों का त्याग भी अभ्यन्तर उपधि त्याग है।

विशेषः- निःसंगत्व अथवा अकिञ्चन भाव की प्राप्ति, निर्भयपने की प्राप्ति और जीवन जीने की आशा को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

तप के भेद (एक दृष्टि में)

वाह्यतप	अंतरंग – तप								
	प्रायश्चित 3	विनय 4	वैय्यावृत्य 10	स्वाध्याय 5	व्युत्सर्ग 2	ध्यान– 4			
						आर्त्त ध्यान 4	रोद्र ध्यान 4	धर्म ध्यान 4	शुक्लध्यान 4
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
अनशन	आलोचना	ज्ञानविनय	आचार्य– वैय्यावृत्य	वाचना	वाह्य– उपाधिव्युत्सर्ग	अनिष्ट– संयोगज	हिंसानंदी	आज्ञा विचय	पृथकत्व वितर्क
अवमोदर्य	प्रतिक्रमण	दर्शनविनय	उपाध्याय– वैय्यावृत्य	पृच्छना	अभ्यन्तर– उपाधिव्युत्सर्ग	इष्टवियोगज	मृषानंदी	अपाय विचय	एकत्व वितर्क
वृत्तिपरिसंख्यान	तदुभय	चारित्रविनय	तपस्वि– वैय्यावृत्य	अनुप्रेक्षा		वेदनाजन्य	चौर्यानंदी	विपाक विचय	सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति
रस परित्याग	विवेक	उपचारविनय	शैक्ष्य– वैय्यावृत्य	आम्नाय		निदानजन्य	परिग्रहानंदी	संस्थान विचय	व्युत्परतक्रियानिवर्ति
विविक्त शय्यासन	व्युत्सर्ग		ग्लान– वैय्यावृत्य	धर्मोपदेश					
कायक्लेश	तप		गण– वैय्यावृत्य						
	छेद		कुल– वैय्यावृत्य						
	परिहार		संघ– वैय्यावृत्य						
	उपस्थापन		साधु– वैय्यावृत्य						
			मनोज्ञ– वैय्यावृत्य						

ध्यान तप का लक्षण-

उत्तम संहननस्यैकाग्र-चिन्तानिरोधो-ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।।२७।।

अर्थ- उत्तम संहनन वाले मुनि का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है, यह अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।

विशेषार्थ- आदि के तीन संहनन वज्रवृषभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन उत्तम संहनन हैं। ये तीनों ध्यान के साधन हैं, किन्तु मोक्ष का साधन तो मात्र प्रथम संहनन ही है। अन्य संहनन वाले का ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक नहीं रह सकता।

जिज्ञासा- यह ध्यान यदि अन्तर्मुहूर्त तक ही हो सकता है, तो आदिनाथ भगवान ने छह माह तक और बाहुबलि भगवान ने एक वर्ष तक खड़े रह कर ध्यान कैसे किया?

समाधान- ध्यान की संतान (परम्परा) को भी ध्यान कहते हैं। अतः एक विषय में ध्यान तो लगातार अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, उसके बाद ध्येय बदल जाते हैं, और ध्यान की संतान चलती रहती है।

सूत्र में तीन बाते बताई हैं- ध्याता, ध्यान का स्वरूप और ध्यान का काल। सो उत्तम संहनन धारी पुरूष ध्याता, एक पदार्थ (विषय) में चित्त का स्थिर होना ध्यान और अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) तक होना ध्यान का काल।

ध्यान तप के भेद-

आर्त्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ।।२८।।

अर्थ- आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं।

विशेषार्थ- इन चार ध्यानों में आदि के दो ध्यान अशुभ हैं, इनसे पाप का बंध होता है तथा शेष दो ध्यान शुभ हैं, इनसे कर्मों का नाश होता है।

(१) **आर्त्तध्यान-** दुःख पीड़ा होने की स्थिति में जो ध्यान होता है, वह आर्त्तध्यान है।

(२) **रौद्रध्यान-** रूद्र का अर्थ क्रूर आशय वाला प्राणी है और क्रूर कर्म के चिंतन में जो ध्यान होता है, वह रौद्र ध्यान कहलाता है।

(३) **धर्म्यध्यान-** धर्म वस्तु के स्वरूप को कहते हैं अतः जो धर्म से युक्त ध्यान है, वह धर्म ध्यान कहलाता है।

(४) **शुक्लध्यान-** जिस ध्यान में शुचि गुण का सम्बंध है वह शुक्ल ध्यान है।

प्रशस्त ध्यान का स्वरूप-

परे मोक्षहेतू ।।२९।।

अर्थ- उपरोक्त में से 'पर' अर्थात् अंत के दो ध्यान धर्म्य और शुक्ल मोक्ष के कारण हैं।

विशेषार्थ- 'परे' यह द्विवचन होने से दोनों ही धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान अन्त्य ध्यान कहलाते हैं और दोनों ही मोक्ष के हेतु हैं। धर्म ध्यान परम्परा से मोक्ष का हेतु है तथा शुक्ल ध्यान साक्षात मोक्ष का हेतु है। यदि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष का हेतु है, तो आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण है,

यह **"अर्थापत्ति न्याय"** से जाना जाता है, क्योंकि मोक्ष और संसार के अलावा अन्य कोई तीसरा साध्य नहीं है। इन चारों ध्यान को आगे स्पष्ट करते हैं।

इनमें आर्त्त ध्यान चार प्रकार का है-

१) अनिष्ट संयोगज २) इष्ट वियोगज ३) पीड़ा चिन्तन ४) निदान जन्य। अब प्रथम आर्त्तध्यान का लक्षण कहते हैं।

अनिष्ट संयोगज आर्त्त ध्यान-

आर्तममनोज्ञस्य-संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहरः ।।३०।।

अर्थ- अनिष्ट पदार्थ का संयोग हो जाने पर उसको दूर करने के लिए बार-बार उसी का विचार करना अनिष्ट संयोगज प्रथम आर्त्तध्यान है।

विशेषार्थ- शत्रु, शस्त्र, विष, कंटक आदि बाधा-पीड़ा उत्पन्न करते हैं, अतः इनको अप्रिय, अमनोज्ञ कहा जाता है। इन दुःखदायक, अमनोज्ञ पदार्थों का संयोग हो जाने पर इनका बिनाश कब होगा अथवा ये मेरे से कब दूर होंगे, ऐसा मन मे निरंतर चिन्तन करना, "अनिष्ट संयोग" नामक प्रथम आर्त्त ध्यान है।

इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान-

विपरीतं मनोज्ञस्य ।।३१।।

अर्थ- मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत् चिंता करना दूसरा आर्त्त ध्यान है।

विशेषार्थ- जिसमें मन लीन होता है, जो चित्त को रूचिकर लगता है, वह मनोज्ञ कहलाता है। इष्टजन अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि तथा धन-सम्पत्ति आदि प्रिय वस्तुओं का किसी कारणवश वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए निरंतर चिंता करना इष्ट वियोगज नाम का दूसरा आर्त्तध्यान है।

<u>वेदनाजन्य आर्त्तध्यान-</u>

वेदनायाश्च ।।३२।।

अर्थ- वात, पित्त, कफ, आदि के विकार से अथवा फोड़ा, फुन्सी जन्य शारीरिक वेदना उत्पन्न होने पर उसके अभाव के लिए रात-दिन उसी की चिन्ता करना 'वेदना' नामक अथवा 'पीड़ा चिन्तन' नाम का तीसरा आर्त्त ध्यान है।

<u>निदानजन्य आर्त्तध्यान-</u>

निदानं च ।।३३।।

अर्थ- भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन-रात आगामी भोगों की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ताग्रस्त रहना चौथा 'निदान' नाम का आर्त्त ध्यान है।

<u>किस गुणस्थान में कौन सा आर्त्तध्यान-</u>

तदविरत-देशविरत-प्रमत्त-संयतानाम् ।।३४

अर्थ- वह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत एवं प्रमत्त संयत प्राणियों को होता है।

विशेषार्थ- मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र गुणस्थान और असंयतसम्यग्दृष्टि अर्थात् प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को अविरत जीव कहते हैं, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक देशविरत कहलाता है एवं चारित्र का अनुष्ठान करने वाले १५ प्रमाद युक्त छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिगण प्रमत्त संयत कहलाते हैं। इस प्रकार अविरत, देश विरत एवं प्रमत्तसंयत तक आर्त्तध्यान होता है।

इनमें अविरत रूप परिणाम होने से आदि के पाँच गुणस्थानों में तो चारों आर्त्तध्यान होते हैं और प्रमत्तसंयत के निदान नामक आर्त्तध्यान को छोड़कर प्रमाद की अधिकता का उदय होने पर पूर्व के तीन आर्त्तध्यान हो सकते हैं।

नवम् अध्याय

रौद्रध्यान किन गुणस्थानों में-

हिंसानृत-स्तेय विषयसंरक्षणेभ्यो-रौद्रमविरत-देशविरतयोः ।।३५।।

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह संचय की भावना से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है यह अविरत तथा देशविरत तक अर्थात् प्रारंभ के पाँच गुणस्थानों में होता है।

विशेषार्थ- निमित्त के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है। १) हिंसानंदी २) मृषानंदी ३) चौर्यानंदी ४) परिग्रहानंदी।

१) हिंसानंदी- हिंसा करने में, दूसरों को सताने, कष्ट देने में आनंद मानना और उसी के साधन जुटाने का चिंतन व तदनुरूप उद्यम करना हिंसानंदी रौद्रध्यान है।

२) मृषानंदी रौद्रध्यान- असत्य भाषण करना अर्थात् झूठ बोलकर किसी को कष्ट में डालना अथवा झूठी बातें बनाकर अपना कार्य सिद्धकर लेना और उसमें आनंद मानना मृषानंदी रौद्रध्यान है।

३) चौर्यानंदी रौद्रध्यान- चोरी करने में, चोरी का माल खरीदने-बेचने आदि में आनंद मानना और उसी का चिंतवन करना चौर्यानंदी रौद्रध्यान है।

४) परिग्रहानंदी रौद्रध्यान- पंचेन्द्रिय विषय सम्बंधी- भोगोपभोग सामग्री का संचय एवं उसके संरक्षण में आनंद मानना, उसका ही निरंतर ध्यान करते रहना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है।

जिज्ञासा- जो अविरत है उसके रौद्र ध्यान हो सकता है, किन्तु देशविरत के रौद्रध्यान कैसे हो सकता है?

समाधान- आपका प्रश्न सही है, परन्तु देशव्रती श्रावक के ऊपर धर्मायतनों की रक्षा का भार भी होता है तथा निज के मकान, जमीन, स्त्री, धन आदि की रक्षा करना भी अभीष्ट होता है। अतः इनकी रक्षा के निमित्त कभी कदाचित कषाय के आवेश में रौद्र ध्यान हो सकता है, परन्तु देश व्रती सम्यग्दृष्टि होने के कारण उसके ऐसा अति क्रूरता भरा रौद्रध्यान नहीं होता, जो उसे नरक ले जावे।

प्रमत्त संयत छठें गुणस्थानवर्ती मुनि के परिग्रह का पूर्ण अभाव होने से रौद्रध्यान नहीं होता, क्योंकि मुनि को कदाचित् रौद्रध्यान हो जावे तो वह संयम से च्युत हो जावेंगे अर्थात् गुणस्थान गिर जावेगा।

धर्मध्यान का स्वरूप व भेद-

आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयायधर्म्यम् ।।३६।।

अर्थ- आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय एवं संस्थान विचय ये धर्म्यध्यान के चार भेद हैं।

विशेषार्थ- विचय, विवेक और विचारणा ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

(१) **आज्ञा विचय धर्म्यध्यान-** समीचीन उपदेश देने वाले पुरूष का अभाव होने से, स्वयं कर्मोदय से मंद बुद्धि होने से, पदार्थ के, विषय के अति सूक्ष्म होने से तथा तत्त्व के समर्थन में जब कोई युक्ति एवं उदाहरण, दृष्टांत आदि का अभाव होवे, तो ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गए आगम को प्रमाण मानकर उस गहन पदार्थ का श्रद्धा करना कि ‘‘यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है।’’ वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है अथवा स्वयं तत्वों के रहस्य को जानते हैं, तब उस तत्त्व को दूसरों को समझाने के लिए युक्ति, दृष्टांत आदि का

विचार करते रहना, क्योकि वह चिंतन सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा विचय ही कहलाता है।

(२) **अपाय विचय धर्मध्यान-** मिथ्यादृष्टि जीव जनमान्ध पुरुष के समान जिनेन्द्र देव प्रणीत धर्म मार्ग से विमुख होकर कुमार्ग में पड़े हुए हैं। सत्य मार्ग का ज्ञान न होने से वे मोक्ष पुरूषार्थी पुरूषों को दूर से ही त्याग देते हैं, किन्तु जो मोक्षाभिलाषी हैं और मिथ्यात्व में डूबे हैं, उनको मिथ्यात्व से उवारने के सम्बंध विचार करना कि वे संसार परिभ्रमण के दुःखों से कैसे छूटें और जिनमार्ग में लगें यह अपाय विचय धर्मध्यान है।

(३) **विपाक विचय धर्मध्यान-** ज्ञानावरण आदि आठों घाति एवं अघाति कर्मों के फल के संबंध में विचार करना अर्थात् पंचपरावर्तन रूप भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाक विचय धर्मध्यान है।

(४) **संस्थान विचय धर्मध्यान-** लोक के आकार का एवं उसकी दशा, स्वभाव का विचार करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

ये चारों धर्मध्यान अविरत, देश विरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले जीवों के होते हैं। अप्रमत्त संयत मुनि के साक्षात् धर्मध्यान होता है और प्रमत्त संयत तक गौण वृत्ति से होता है। विचारणीय विषय के भेद से धर्मध्यान के असंख्यात् भेद हैं, किन्तु मुख्यता से ये चार भेद कहे हैं।

शुक्ल ध्यान के स्वामी व भेद-

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।।३७।।

अर्थ- आदि के दो शुक्ल ध्यान सम्पूर्ण श्रुत के धारक श्रुत केवली के होते हैं।

विशेषार्थ- पूर्वविद अर्थात् ११ अंग १४ पूर्व ज्ञानधारी श्रुतकेवली। आगे कहे जाने वाले शुक्ल ध्यान के भेदों में से आदि के पृथक्त्ववितर्क विचार और एकत्ववितर्क विचार ये दो शुक्लध्यान पूर्व ज्ञानधारी श्रुत केवली के ही होते हैं। सूत्र में 'च' शब्द से धर्मध्यान भी ले लेना चाहिए। अतः श्रेणी चढ़ने से पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रम से दोनों शुक्ल ध्यान होते हैं।

सकल श्रुत धारी अर्थात् श्रुत केवली के अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थान पर्यन्त धर्मध्यान होता है और अपूर्वकरण अनिवृतिकरण, सूक्ष्म साम्पराय एवं उपशांत कषाय (आठवें से ग्यारहवें) गुणस्थान पर्यन्त पृथक्त्ववितर्क- विचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान होता है तथा क्षीण कषाय नाम के १२वें गुणस्थान में एकत्ववितर्क विचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान है। ऐसा जानना।

अंतिम दो शुक्ल ध्यानों के स्वामी-

परे केवलिनः ।।३८।।

अर्थ- शेष अथवा अन्त के दो शुक्ल ध्यान केवली भगवान के होते हैं।

विशेषार्थ- **"परे"** अर्थात् सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती एवं व्युपरत-क्रियानिवर्ति में से तीसरा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान जिनको सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के अभाव से केवलज्ञान की उत्पत्ति हो गई है, ऐसे सयोग केवली भगवान के होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्ल ध्यान आयोग केवली के होता है।

शुक्ल ध्यान के भेद-

पृथक्त्वैकत्व वितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ।।३९।।

अर्थ- पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत-क्रियानिवर्ति ये शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं।

ये सभी ध्यान सार्थक नाम वाले हैं। इनका लक्षण आगे कथन करेंगे।

शुक्ल ध्यान के आलम्बन-

त्र्येकयोग-काययोगायोगानाम् ।।४०।।

अर्थ- ये चारों ध्यान क्रम से तीन योग वाले, एक योग वाले, काय योग वाले और अयोग जीवों (मुनिराजों) के होते हैं।

विशेषार्थ- काय-वाङ् और मन रूप तीनों योग जिनके होता है, वह त्रियोग कहलाता है, इन तीन में से कोई एक योग जिनके होता है, वह एक योग है। काय का योग जिसके है, वह काय योग है। तथा जिसके काय नहीं, वह अयोग है।

(१) **पृथ्क्त्व वितर्क ध्यान-** यह काय, वाङ् और मन इन तीनों योगों के धारक मुनि के होता है।

(२) **एकत्ववितर्क ध्यान-** यह ध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के धारक मुनिराज के होता है।

(३) **सूक्ष्मक्रियारप्रतिपाति ध्यान-** यह ध्यान मात्र काययोग के धारक मुनिराज के होता है।

(४) **व्युपरत क्रिया निवर्तिध्यान-** यह ध्यान योग रहित मुनिराजों के होता है।

आदि के दो शुक्ल ध्यानों की विशेषता-

एकाश्रये सवितर्क वीचारे पूर्वे ।।४१।।

अर्थ- पहले के दो ध्यान एक आश्रय वाले अर्थात् पूर्णश्रुत ज्ञानी के ही होते हैं तथा ये दोनों शुक्ल ध्यान वितर्क और वीचार सहित हैं।

एकत्ववितर्क ध्यान की विशेषता-

अविचारं द्वितीयम् ।।४२।।

अर्थ- दूसरा एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान वीचार रहित होता है। अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्ल ध्यान तो वितर्क और वीचार दोनों से सहित होता है, किन्तु दूसरा यह एकत्व वितर्क शुक्लध्यान वितर्क से सहित है, परन्तु विचार से रहित है।

वितर्क का लक्षण-

वितर्कः श्रुतम् ।।४३।।

अर्थ- विशेष रूप से तर्क अर्थात् विचार करने को वितर्क कहते हैं, अथवा श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

विशेषार्थ- यदि विशेष रूप से तर्क या वीचार करने को वितर्क और श्रुतज्ञान कहते हैं तो दोनों ही ध्यान श्रुतज्ञान युक्त होने से वीचार-वितर्क-श्रुत सहित हैं।

विचार का लक्षण-

वीचारोऽर्थ-व्यंजन योगसंक्रांति ।।४४।।

अर्थ- अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रांति(पलटने) को वीचार कहते हैं।

विशेषार्थ- अर्थ= ध्यान योग्य पर्याय या द्रव्य। व्यञ्जन = वचन।

योग= मन, वचन, काय की क्रिया। संक्रांति= परिवर्तन।

नवम् अध्याय

(१) <u>अर्थ संक्रांति-</u> ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान का विषय बदलना अर्थ-संक्रांति है।

(२) <u>व्यञ्जन संक्रांति</u>- श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना, उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना। इस तरह ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यञ्जन संक्रांति कहते हैं।

(३) <u>योग संक्रांति</u>- काय योग को छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काय योग को ग्रहण करना योग संक्रांति है।

इन तीनों प्रकार की संक्रांति को वीचार कहते है तथा जिस ध्यान में इस-इस तरह का ध्यान होता है, वह वीचार सहित ध्यान है और जिस ध्यान में यह विचार नहीं होता, वह वीचार रहित ध्यान है। तप एवं ध्यान में अभ्यस्त साधु ही इन चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों को संसार से मुक्त होने के लिए ध्याते हैं। कैसे ध्याते हैं? यह बताते हैं-

(१) **<u>पृथक्त्व वितर्क वीचार (शुक्ल) ध्यान</u>**- सबसे प्रथम ध्यान के लिए ऐसा स्थान चुनना, जो एकदम एकान्त हो, मनुष्यों, पशुओं, सिंह, सर्प, आदि के संचार/उत्पात से रहित हो। जो न अति गर्म, न अति शीतल हो अर्थात् जहाँ चित्त के चंचल होने का कोई साधन न हो, ऐसे स्थान पर पल्यंकासन लगाकर बैठें तथा शरीर को सीधा रखें, अपनी गोद में बाँऐ हाथ की हथेली के ऊपर दाहिने हाथ की हथेली रखें। नेत्र न एकदम खुले हो, न पूर्ण बंद हों, दृष्टि सौम्य व स्थिर हो। मुख बंद हो, मुख मुद्रा प्रसन्न व वीतरागत से भरी हो। श्वासोच्छ्वास मंद-मंद चलता हो। ऐसी स्थिति में मन को नाभि प्रदेश में,

हृदय, मस्तक, ललाट आदि में एकाग्र करके मोक्षाभिलाषी-मुमुक्ष को शुभ ध्यान करना चाहिए। जब वे परम योगी सातवें से आठवें गुण स्थान में प्रवेश करते हैं, तब द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु का ध्यान करते हैं, उस समय उनका मन ध्येय में, वाक्य में तथा काय योग और वचन योग में रहता है अर्थात् अर्थ व्यंजन एवं योग की संक्रांति रूप विचार चलता रहता है।

जैसे कोई बालक ठूंठी तलवार हाथ में लेकर उसे ऐसे उत्साह से चलाता हैं, मानो वृक्ष को काट ही डालेगा, वैसे ही ध्याता मुनिराज मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करके पृथक्त्व वितर्क विचार नाम के शुक्ल ध्यान को करते हैं।

(२) <u>एकत्व वितर्क विचार शुक्ल ध्यान-</u> वही ध्याता मुनि मोहनीय कर्म को जड़मूल से भस्म करने की इच्छा से अनन्तगुणी विशुद्धि सहित योग विशेष का आश्रय अर्थात् ध्यान का आलम्बन लेकर अर्थ, व्यंजन और योग की संक्राति को हटाकर मन की निश्चलता से अनेक प्रकार की ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों के बंध को रोकते हुए तथा नवीन स्थिति बंध का ह्रास करते हुए क्षीण कषाय नामक १२वें गुण स्थान में आते हैं और फिर स्फटिक मणि के समान निष्कलंक, निरूपलेप ध्यान लगाकर पुनः पीछे नहीं लौटते हैं, तब उन्हें एकत्व वितर्क विचार ध्यान वाला कहा जाता हैं।

इस एकत्ववितर्क ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा चारों घातिया कर्मों रूपी ईंधन को जला देने पर उनको मेघपटल के हट जाने पर निकले उस सूर्य के समान देदीप्यमान केवलज्ञान रूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। उस समय वह तीन लोक से पूज्यनीय तीर्थंकर केवली अथवा सामान्य केवली अरिहंत भगवान उत्कृष्ट

रूप से कुछ कम एक कोटि पूर्व तक अथवा अपनी आयु पर्यन्त इस भूतल पर विहार करते हैं।

विशेष यह है की पृथक्त्व वितर्कवीचार ध्यान से मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होता है तथा एकत्व वितर्क विचार दूसरे शुक्ल ध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता हैं।

(३) <u>सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान-</u> जब उन सयोग केवली की अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु शेष रहती है और वेदनीय, नाम व गोत्र कर्मों की स्थिति भी आयु कर्म के बराबर शेष रहती है, तब वे समस्त वचन योग, मनो योग और वादर काययोग को त्यागकर सूक्ष्म काय योग का आलम्बन लेकर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान को करते हैं। किन्तु जब आयु कर्म कि स्थिति अंतर्मुहूर्त शेष हो और शेष तीनों कर्मों की स्थिति अधिक हो, तो सातिशय आत्मोपयोग को प्राप्त कर यथाख्यात् चरित्र के आलम्बन से केवली समुदघात करते हैं। उसमें ८ समय लगते हैं। पहले समय में आत्म प्रदेशों को फैलाकर दण्ड के आकार रूप, द्वितीय समय में कपाट रूप, तीसरे में प्रतर रूप और चौथे में पूरे लोक में पूर देते हैं और शेष चार समय में उन आत्म प्रदेशों का संकोच करके तथा चारों अघातिया कर्मों की स्थिति समान करते हुए पुनः अपने शरीर प्रमाण करके सूक्ष्म काय योग के द्वारा सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करते हैं।

(४) <u>व्युपरत (समुच्छिन्न) क्रिया निवर्ति ध्यान</u>- उपरोक्त तीसरे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान से वे योग केवली हो जाते हैं। इसके बाद समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति नाम का चौथा ध्यान करते हैं। इस ध्यान के समय श्वासोच्छ्वास का संचार, समस्त मनोयोग, वचन योग, काय योग और आत्म प्रदेशो का हलन

चलन क्रिया रूक जाती है इस समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति ध्यान के होने पर सम्पूर्ण आस्रव और बंध रूक जाता हैं एवं बचे हुए समस्त कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः मोक्ष के साक्षात् कारण यथाख्यात् चारित्र, दर्शन और ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं।

तब वह आयोग केवली प्रभु समस्त कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर किट्ट कालिमा से रहित शुद्ध स्वर्ण की तरह निर्मल अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार ये दोनों अंतरंग-बहिरंग तप नवीन कर्मों के आस्रव को रोकने के भी कारण हैं और पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा के भी कारण हैं।

सम्यग्दृष्टि पात्रों की अपेक्षा निर्जरा का क्रम-

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोप शांतमोह क्षपक क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुण निर्जराः ।।४५।।

अर्थ- सम्यग्दृष्टि, श्रावक (५वें गुण स्थानवर्ती), महाव्रती (मुनि), अनंतानुबंधी का विसंयोजन करने वाले, दर्शन मोह का क्षय करने वाले, चारित्र मोह का उपशम करने वाले, उपशांत मोह (११वें गुण स्थानवर्ती), क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले, क्षीणमोह (१२वें गुण स्थानवर्ती) और जिनेन्द्र भगवान इन सबके परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होने से ये प्रतिसमय क्रम से असंख्यात्-असंख्यात् गुणी निर्जरा वाले होते हैं।

विषेशार्थ- जब मिथ्या दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए तीन करण करता है, उस समय उसके आयु कर्म के अलावा शेष सात कर्मों

की तीव्र निर्जरा होती हैं। जब वह समयग्दृष्टि हो जाता है तो पहले की अपेक्षा असंख्यात् गुणी निर्जरा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण स्थानों की वृद्धि के साथ निर्जरा भी असंख्यात् गुणी बढती जाती है।

सारांश यह है कि इन १० स्थानों को प्राप्त होने वाले जीवों के परिणाम अधिक अधिक विशुद्ध होते हैं, अतः इनके कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात् गुणी होती है। इतना ही नहीं जहाँ उत्तरोत्तर निर्जरा असंख्यात् गुणी असंख्यात्गुणी होती है, वहाँ निर्जरा का काल असंख्यात्वें भाग घटता जाता है। जैसे जिनेन्द्र भगवान के निर्जरा काल सबसे कम हैं, उससे संख्यात गुणा काल क्षीण कषाय का है। इस तरह यद्यपि निर्जरा का काल सातिशय मिथ्यादृष्टि तक अधिक अधिक होता है किन्तु सामान्य से प्रत्येक का निर्जरा काल अन्तर्मुहूर्त ही है। इन उत्तरोत्तर कम-कम काल में कर्मों की निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है।

निर्ग्रन्थों के भेद-

पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका-निर्ग्रन्थाः ।।४६।।

अर्थ- पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ - मुनि होते हैं।

विषेशार्थ- (१) पुलाकनिर्ग्रंथ- जिनके उत्तरगुणों की भावना ही नहीं होती और मूल गुणों में भी कभी कभी दोष लगा देते हैं, उन साधुओं को पुलाक कहते हैं। पुलाक नाम पुवाल सहित चावल का है। चावल में कुछ तुष व लालिमा आदि लगी रहती है, उस मलिन चावल को पुलाक कहते हैं। इसी प्रकार मलिन

तण्डुल के समान अपरिपूर्ण रूप से व्रतों को पालन करने वाले साधु को पुलाक कहते हैं।

(२) वकुश निर्ग्रन्थ- जो निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह से रहित, अपने महाव्रतों का निर्दोष पालन करते हैं। किन्तु शरीर, पीच्छी आदि उपकरणों को सजाने में हमेशा लगे रहते हैं तथा असंयतजनों और परिवारजनों से घिरे रहते हैं, उन्हें वकुश यानि चितकबरा मुनि कहते हैं। जैसे लाल या सफेद पर काले धब्बे लग जावें, उसी प्रकार वकुश मुनि के निर्मल आचरण में शरीर व परिवारजन का मोह धब्बे की तरह होता है।

(३) कुशील निर्ग्रन्थ- कुशील साधु दो प्रकार के होते हैंः- (क) प्रतिसेवना कुशील (ख) कषाय कुशील।

(क) प्रतिसेवना कुशील- जो मूल और उत्तर गुणों में परिपूर्ण हैं, किन्तु कभी कभी उत्तर गुणों की विराधना करते हैं।

(ख) कषाय कुशील- जिन्होंने अन्य कषायों के उद्‌य को वश में कर लिया है अर्थात् जीत लिया है, किन्तु संज्वलन कषाय के अधीन हैं, उन मुनिराजों को कषाय कुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रन्थ- जिनके मोहनीय कर्म का तो उद्‌य ही नहीं है और शेष घातिया कर्मों का उदय भी ऐसा है, जैसे जल में लकड़ी से खींची हुई लकीर तथा जिन्हें अंतर्मुहूर्त के बाद ही केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रकट होने वाला है, वे महा मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

(५) स्नातक- जिन्होंने चार घातियों कर्मों का नाश कर दिया है और केवल ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, इन केवलियों (अरिहंत भगवान) को स्नातक कहते हैं।

ये पाँचों मुनिराज सम्यग्दृष्टि होते हैं एवं अंतरंग तथा बाह्य परिग्रह के त्यागी होते हैं। इसलिए चारित्र की न्यूनाधिकता के कारण भेद होने पर भी पांचों को निर्ग्रन्थ कहा है। ये पाँचों निर्ग्रन्थ भावलिंगी ही होते हैं।

पुलाक आदि पाँचों मुनियों की अल्प विषेशताएँ-

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपाद-स्थान विकल्पतः साध्याः।।४७।।

अर्थ- सयंम, श्रुत, प्रति सेवना, तीर्थ, लिङ्ग , लेश्या, उपपाद और स्थान इन ८ प्रकार के भेद से पुलाक आदि मुनिराजों के भेद हैं।

विषेशार्थ- (१) सयंम- पुलाक, वकुश एवं प्रतिसेवना कुशील मुनि के सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है। कषाय- कुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक मात्र यथाख्यात् संयम ही होता है।

(२) श्रुत- पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि उत्कृष्ट रूप से १० पूर्व के ज्ञाता होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ १४ पूर्व के ज्ञाता होते हैं और स्नातक तो केवल ज्ञानी होते हैं। अतः उनके श्रुताभ्यास का प्रश्न ही नहीं हैं।

(३) प्रतिसेवना- प्रतिसेवना का अर्थ व्रतों में दोष लगाना है। पुलाक मुनि दूसरों के दबाववश पाँच मूल गुण एवं छठे रात्री भोजन त्याग व्रत में कदाचित दोष लगा देते हैं। वकुश मुनि दो प्रकार के होते हैं- उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरण वकुश मुनि के सुदंर उपकरणों में आसक्ति होने से विराधना होती है। तथा शरीर वकुश मुनि की अपने शरीर में आसक्ति होने से उबटन, मर्दन, विलेपन आदि संस्कार के द्वारा क्वचित, कदाचित विराधना होती है।

प्रतिसेवना कुशील मुनि उत्तर गुणों में कभी कदाचित् दोष लगा देते हैं। कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के प्रतिसेवना नहीं होती। क्योंकि त्यागी हुई वस्तु का सेवन/उपयोग करने से प्रतिसेवना होती है, सो इनके ऐसा होता नहीं।

(४) तीर्थ- तीर्थ अर्थात् सभी तीर्थंकरों के तीर्थ(काल) में ये पाँचों निर्ग्रन्थ ऋषि होते हैं।

(५) लिङ्ग- लिङ्ग के दो भेद हैं- भाव लिङ्ग और द्रव्य लिङ्ग। भाव लिङ्ग की अपेक्षा तो पाँचो ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी हैं, क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि और संयमी हैं। द्रव्य लिंग की अपेक्षा सभी मुनि निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हुए भी स्नातक के पीच्छी, कमंडल उपकरण नहीं होते हैं, शेष के होते हैं, इससे द्रव्य लिंग में थोड़ा अंतर पड़ जाता है।

(६) लेश्या- पुलाक मुनि के तीन शुभ लेश्यायें ही होती हैं तथा वकुश और प्रतिसेवना कुशील के कृष्ण, नील कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छहों लेश्यायें होती हैं। क्योंकि उपकरणों में आसक्ति होने से तत्संबंधी आर्त्तध्यान हो सकता है, इस कारण तीन अशुभ लेश्यायें होना संभव हैं। कषाय कुशील मुनि के कृष्ण एवं नील दो अशुभ लेश्या छोड़ शेष चारों लेश्याएँ होती हैं। अयोग केवली के लेश्या नहीं होती, अर्थात् वह लेश्या से रहित होते हैं।

(७) उपपाद- पुलाक मुनि का उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार (१२वें) कल्प में १८ सागर की उत्कृष्ट स्थिति में होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत (१६वें) कल्प तक उत्कृष्ट २२ सागर की स्थिति में होता है। कषाय कुशील मुनि और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धि विमान में ३३ सागर की स्थिति वाले देवों में होता है। इन सभी

ऋषिराजों का जघन्य से उपपाद सौधर्म कल्प में दो सागर की स्थिति वाले देवों में होता है। स्नातक महाऋषिराज मोक्ष जाते हैं।

(८) संयम- कषायों की तरतमता से संयम स्थान असंख्यात होते हैं। पुलाक और कषाय कुशील के सबसे जघन्य लब्धि स्थान होते हैं, पुलाक और कषाय कुशील असंख्यात संयम स्थानों तक एक साथ जाते हैं। उसके बाद पुलाक की व्युच्छिति हो जाती है। तब आगे कषाय कुशील अकेला ही असंख्यात संयम स्थानों को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और वकुश मुनि असंख्यात संयम स्थानों तक एक साथ जाते हैं, तदनन्तर वकुश की व्युच्छिति अर्थात् वकुश वाले भाव नष्ट हो जाते हैं।

इससे भी असंख्यात संयम स्थानों को प्राप्त कर प्रतिसेवना कुशील की व्युच्छिति हो जाती है। आगे जाकर कषाय कुशील की व्युच्छिति हो जाती है। उसके बाद वे निर्ग्रन्थ के अकषाय स्थानों को प्राप्त करते हैं और वे अकषायी निर्ग्रन्थ भी असंख्यात संयम स्थानों को प्राप्त कर व्युच्छिन्न हो जाते हैं। उसके ऊपर एक मात्र संयम को प्राप्त कर स्नातक निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्नातक की संयम उपलब्धि अनंतगुणी होती है।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः

!!------------------!!

सम्यग्दर्शन के उन्मुख जीवों के लिए-

जिन भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन हो जाता है, उन्हे साता-असाता कर्म का उदय चंचल नहीं करता। सम्यग्दृष्टि जीव का अभिप्राय इनता पवित्र होता है कि वह अपने अपराधी प्राणी का भी अंतरंग से बुरा नहीं चाहता।

कीचड़ मे पड़ा सोना कीचड़ से लिप्त दिख रहा है, किन्तु स्वर्ण में कीचड़ का प्रवेश किंचित मात्र नहीं है, वह तो अपने में पूर्ण शुद्ध है। ऐसे ही आत्मा कर्मों की कीचड़ से लिप्त भले ही दिखने में आवे, किन्तु वह तो अपने आप में पूर्ण निर्मल, निष्कलंक एवं अनंत गुणों से परिपूर्ण है। -श्रमण मनोज्ञ सागर

"फैलती हुई अग्नि से जलते हुए मृग आदि जीवों से युक्त वन में, किसी वृक्ष पर बैठे हुए मूर्ख मनुष्य की तरह यह जीव दूसरों को संकट में देखते हुए भी अपने ऊपर आने वाली विपत्ति-मृत्यु को नहीं देखता।" यह अत्यंत आश्चर्य की बात है। -आचार्य पूज्यपाद स्वामी

"गलती स्वीकार करने में और प्रायश्चित्त लेने में कभी देरी मत करना, क्योंकि अपराधों का घूरा(गंदगी का ढ़ेर) जितना बढ़ता जायेगा, फिर उसका हटा पाना, उतना ही असाध्य/ दुष्कर हो जायेगा।" -श्रमण मनोज्ञ सागर

------||ooooo||------

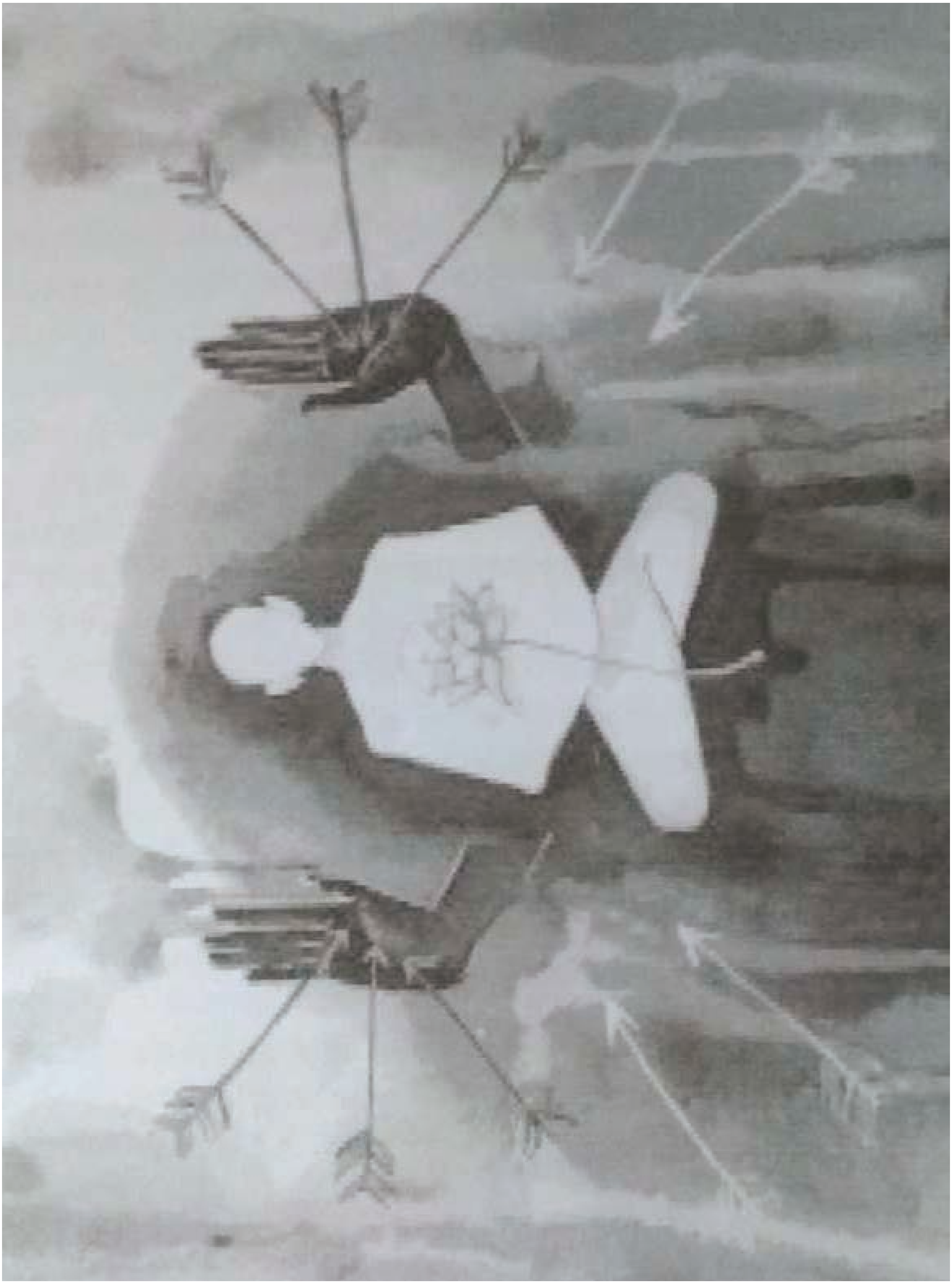

अथ दशमोऽध्यायः

(मोक्ष का वर्णन)

अब अन्त में मोक्ष के स्वरूप का कथन करने का समय आ गया है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति केवलज्ञान पूर्वक होती है, अतः पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं।

केवलज्ञान उत्पत्ति का कारण-

मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्चकेवलम् ।।१।।

अर्थ- मोहनीय कर्म के क्षय से फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।

विशेषार्थ- चार घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है। घातिया कर्मों में सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोहनीय कर्म का क्षय करके जीव क्षीणकषाय नामक १२ वें गुण्स्थान में अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, फिर उसके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को एक साथ नष्ट करके केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। इसी से "मोहक्षयात्" पद अलग से सूत्र में दिया है।

अर्थात् जब यह आत्मा परिणामों की विशुद्धि को प्राप्त होता है तब ६३ प्रकृतियों के नाश के क्रम में सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय होता है अतः मोहक्षयात् यह प्रथम कहा है।

तदनन्तर ज्ञानावरण आदि १६ प्रकृतियों का नाश करते हैं, इस कारण तीन कर्मों का कथन किया है।

दशम् अध्याय

मोक्ष का लक्षण और कारण-

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ।।२।।

अर्थ- बन्ध के कारणों का अभाव (संवर) होने एवं निर्जरा से समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय अर्थात् अत्यन्त अभाव हो जाना मोक्ष है।

विशेषार्थ- मिथ्यादर्शन आदि हेतुओं का अभाव (संवर) हो जाने से नवीन कर्मों का आस्रव-बंध होना रूक जाता है एवं तप आदि के द्वारा पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः आत्मा समस्त कर्मबंधनों से छूट जाता है, इसी का नाम मोक्ष है।

कर्म का अभाव दो प्रकार से होता है- अयत्न साध्य और यत्न साध्य।

(१) **अयत्न साध्य-** कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका अभाव चरम शरीरी के स्वतः ही हो जाता है, जैसे- नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु का सत्व चरम शरीरी के नहीं होता। अतः इन तीन प्रकृतियों का अभाव तो बिना यत्न के ही रहता है।

(२) **यत्न साध्य-** असंयत चौथे एवं पाँचवें, छठे अथवा सातवें गुण स्थान में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का क्षय करके जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद क्षपक श्रेणी पर चढ़कर नौवें गुणस्थान में क्रम से १६+८+१+१+६+१+१+१+१ = ३६ प्रकृतियों को नष्ट करके दसवें गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ सूक्ष्म लोभ संज्वलन को नाश कर बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है। १२वें में ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६ और अंतराय की ५ प्रकृतियाँ को नष्ट करके केवली हो जाते हैं। इस तरह उनके ३+७+३६+१+१६= ६३ प्रकृतियों का अभाव हो जाता है। जिसमें ४७

घाति कर्मों की और १६ अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ हैं। शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती हैं, उनमें ७२ प्रकृतियों का नाश तो अयोग केवली नामक १४वें गुणस्थान के उपान्त्य समय में होता है और शेष १३ प्रकृतियों का नाश इसी गुणस्थान के अंतिम समय में करके वह केवली भगवान संसार से मुक्त हो जाते हैं।

मुक्त होने वाले जीव के भाव-

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ।।३।।

अर्थ- सम्पूर्ण औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावों का तथा पारिणामिक भावों में से 'भव्यत्व' भाव का भी मुक्त जीव के अभाव हो जाता है।

पारिणामिक अभव्यत्व भाव तो मोक्षगामी जीव के पहले से ही नहीं होता, एक मात्र 'जीवत्व' नाम का पारिणामिक भाव मुक्तावस्था में रहता है। अतः केवल भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है।

मोक्ष में रहने वाले भाव-

अन्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ।।४।।

अर्थ- मोक्ष में क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भाव ही रहते हैं, शेष अन्य भावों का मुक्त जीव के अभाव हो जाता है।

जिज्ञासा- यदि मुक्त जीव के ये चार क्षायिक भाव ही शेष रहते हैं, तो अनंतवीर्य अनंतसुख आदि भावों का भी अभाव कहलाया?

समाधान- नहीं कहलायेगा, क्योंकि अनंतवीर्य आदि भाव अनंतज्ञान और अतंत दर्शन के अबिनाभावी हैं। अर्थात् अनंत ज्ञान एवं अनंत दर्शन के साथ ही अनंतवीर्य होता है। क्योंकि अनंतवीर्य यानि अनंत सामर्थ्य से हीन व्यक्ति के

अनंतज्ञान आदि की वृत्ति नहीं हो सकती। रहा अनंत सुख सो वह सुख ज्ञानमय ही है, क्योंकि बिना ज्ञान के सुख का अनुभव नहीं होता।

जिज्ञासा- मुक्त जीवों का कोई आकार नहीं है, अतः मुक्तावस्था में जीव का अभाव समझना चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु का आकार नहीं, वह वस्तु नहीं?

समाधान- सिद्धों का आकार, अंतिम शरीर का जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार रहता है। क्योंकि सामान्य गुणप्रदेशत्व का नाश हो जाने पर विशेष ज्ञान आदि गुण भी नष्ट हो जायेंगे। अतः सिद्ध निराकार नहीं, पुरूषाकार हैं।

जिज्ञासा- यदि मुक्त जीव का आकार शरीराकार ही होता है, तो शरीर का अभाव हो जाने पर जीव को समस्त लोकाकाश में फैल जाना चाहिए, क्योंकि उसका स्वभाविक परिमाण लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर कहा है?

समाधान- यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के प्रदेशों में संकोच एवं विस्तार का कारण नाम कर्म था। मुक्त हो जाने पर नाम कर्म का अभाव हो जाने से आत्मप्रदेशों के संकोच-विस्तार का स्वतः अभाव हो गया। इसलिए आपत्ति निरर्थक है।

कर्मक्षय के बाद जीव का उर्ध्वगमन-

तदन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ।।५।।

अर्थ- तदनन्तर यानि समस्त कर्मों के क्षय होने के बाद जीव लोक के अन्त तक ऊपर को जाता है। अर्थात् कर्मों का नाश हो जाने पर यह आत्मा एक समय में तनुवातवलय में जाकर स्थित हो जाता है।

दशम् अध्याय

उर्ध्वगमन का कारण-

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च ।।६।।

अर्थ- पूर्व संस्कार से, संग अर्थात् कर्मों के भार से हल्का हो जाने से, कर्म बंधन के कट जाने से और उर्ध्वगमन का स्वभाव होने से, मुक्त जीव इन चार कारणों से ऊपर को ही जाता है।

ऊर्ध्वगमन की सिद्धि दृष्टांत द्वारा-

आविद्धकुलालचक्रवद्-व्यपगतऽलेपालाम्बुवदेरण्डबीज-वदग्निशिखावच्च ।।७।।

अर्थ- घुमाये गये कुम्हार के चाक के समान, लेप से मुक्त हुई सूखी तुम्बी के समान, एरण्ड के बीज के समान और स्वभाव से ही अग्नि की शिखा के समान, मुक्त हुआ जीव ऊपर को ही जाता है।

(१) **पूर्व प्रयोग-** जैसे कुम्हार हाथ में डण्डा लेकर उससे चाक को घुमाता है, घुमाकर बाद में डण्डे को हटा लेता है, फिर भी पूर्व संस्कार वशात् वह चाक घूमता रहता है। इसी प्रकार संसार भ्रमण करती आत्मा ने मोक्ष प्राप्ति के लिए (उर्ध्वगमन के लिए) अनेक बार प्रणिधान(पुरूषार्थ) किया है, उसका अभाव होने पर भी उस संस्कार के कारण यह जीव उर्ध्वगमन करता है।

(२) **बन्धच्छेदात-** एरण्ड का बीज सूखकर जब चटकता है तब उसका बीज(मिगी) उछलकर ऊपर को ही जाती है, उसी प्रकार मनुष्य, देवादि भवों में ले जाने वाले गति नाम, जाति नाम आदि समस्त कर्म बंध के छेद होने अर्थात् कट जाने से आत्मा ऊपर को ही जाती है।

(३) **गति परिणामाच्च-** जैसे हवा के अभाव में दीपक की लौ (अग्नि की शिखा) ऊपर को ही जाती है, उसी प्रकार कर्मों के अभाव में जीव उर्ध्वगमन ही करता है। क्योंकि जीव का स्वभाव- ऊर्ध्वगमन ही है।

दशम् अध्याय

<u>मुक्त जीव का लोकाग्र से आगे न जाने का कारण-</u>

धर्मास्तिकायाभावात् ।।८।।

अर्थ- धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव लोकान्त से ऊपर (अलोकाकाश में) नहीं जाता।

विशेषार्थ- जीव की शक्ति(सामर्थ्य) अनंत है, किन्तु गति रूप उपकार करने वाला धर्मद्रव्य लोक के अंत तक ही है और जीव व पुद्‌गल का गमन धर्म द्रव्य की सहायता(उपकार) से ही होता है। चूंकि आगे अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव है, अतः मुक्त जीव लोक के अंत में जाकर ठहर जाता है।

<u>मुक्त जीवों में परस्पर भेद का कारण-</u>

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्प बहुत्वतः साध्याः ।।९।।

अर्थ- क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध- बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों के द्वारा सिद्धों में भेद जानना चाहिए।

विशेषार्थ- प्रत्युत्पन्न नय और भूत प्रज्ञापन नय की विवक्षा से १२ अनुयोगों का विवेचन करते हैं। जो नय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है अथवा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है, उसे प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं, जैसे ऋजुसूत्र नय या निश्चयनय तथा जो नय अतीत पर्याय को ग्रहण करता है, उसे भूत प्रज्ञापन कहते हैं, जैसे- व्यवहार नय।

(१) **क्षेत्र-** वर्तमान को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा सिद्धि क्षेत्र में अथवा अपने आत्म-प्रदेशों में अथवा जिस आकाश-प्रदेशों में मुक्ति से पूर्व स्थित था उन आकाश प्रदेशों में सिद्धि होती है।

दशम् अध्याय

अतीत को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा जन्म की अपेक्षा से १५ कर्मभूमियों अर्थात् कोई भरत क्षेत्र से, कोई ऐरावत क्षेत्र से और कोई विदेह क्षेत्र से और अपहरण की अपेक्षा पूरे मनुष्य लोक यानि ढ़ाई द्वीप के किसी भी स्थान से सिद्धि (मुक्ति) हो सकती है।

(२) **काल-** प्रत्युत्पन्न नय (वर्तमान) की अपेक्षा तो एक समय में ही सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है, और भूत प्रज्ञापन नय अतीत की अपेक्षा सामान्य रूप से उत्सर्पिणी में और कोई अपसर्पिणि दोनों कालों में उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है, किंतु विशेष रूप से सुषमा-दुषमा(तीसरे) एवं दुषमा-सुषमा(चौथे) काल में उत्पन्न हुए जीव मोक्ष जाते हैं।

(३) **गति-** वर्तमान प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो सिद्ध गति में ही मोक्ष मिलता है और भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा मनुष्य गति से ही सिद्धि(मुक्ति) प्राप्त होती है।

(४) **लिंग-** प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा(तीन) वेद से रहित अवस्था में ही सिद्ध होते हैं तथा भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा तीनों ही भाव वेदों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु द्रव्य से पुलिंग ही होना चाहिए। वर्तमान की अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिंग से ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन की अपेक्षा सग्रन्थ लिंग से भी मुक्ति मिलती है।

(५) **तीर्थ-** कोई तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। कोई सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं। उनमें से भी कोई तीर्थंकर के विद्यमान रहते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कोई तीर्थंकर के अभाव में भी मोक्ष जाते हैं।

(६) **चरित्र-** प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा नाम रहित चारित्र से ही सिद्धि होती है, क्योंकि जिस भाव से मोक्ष होता है, न वह अचारित्र है और न ही चारित्र कहा जा सकता है। भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा अव्यवहित रूप से तो एक

यथा- ख्यात चारित्र से ही मोक्ष होता है और व्यवहित रूप से चार या पाँच प्रकार के चारित्र से सिद्धि होती है।

(७) **प्रत्येक बुद्ध- बोधित बुद्ध-** जो अपनी शक्ति से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं और जो पर के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें बोधित बुद्ध कहते हैं।

(८) **ज्ञान-** प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा तो एक मात्र केवलज्ञान से ही मोक्ष होता है और भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पूर्वक ही मोक्ष होता है। किन्हीं को अवधिज्ञान मिलाकर तीन ज्ञान से और किन्ही को मनः पर्यय सहित चार ज्ञान पूर्वक केवलज्ञान होता है, तब मोक्ष होता है।

(९) **अवगाहना-** आत्म प्रदेशों में व्याप्त अर्थात् आत्म प्रदेशों के फैलाव का नाम अवगाहना है। वह दो प्रकार की है- उत्कृष्ट और जघन्य। उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष होती है तथा जघन्य कुछ कम ३-१/२ हाथ और मध्यम अवगाहना के अनेक भेद हैं। इनमें से किसी एक अवगाहना में सिद्धि होती है।

(१०) **अन्तर-** सिद्धि को प्राप्त होने वाले सिद्धों का जघन्य अन्तर लगातार सिद्ध होते रहे तो एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर आठ समय तक सिद्ध होते रहते हैं। इसके बाद अन्तर पड़ जाता है, सो यदि कोई जीव मोक्ष जाये तो जघन्य विरहकाल एक समय है और उत्कृष्ट छह माह तक अन्तर पड़ सकता है।

(११) **संख्यात-** जघन्य रूप से एक समय में एक जीव मोक्ष प्राप्त करता है और उत्कृष्ट रूप से एक समय में १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

(१२) अल्पबहुत्व- क्षेत्रादि की अपेक्षा सिद्ध हुए जीवों की संख्या का विशेषरूप से जानना अल्पबहुत्व है। वर्तमान नय की अपेक्षा से सभी जीव सिद्ध क्षेत्र से ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्व नय की अपेक्षा क्षेत्र सिद्ध जीव दो प्रकार के हैं - जन्म सिद्ध और हरण किए गए सिद्ध। इनमें से हरण किए गए सिद्ध बहुत अल्प हैं तथा जन्म सिद्ध संख्यातगुणे हैं। इनसे असंख्यात्‌गुणे मध्यलोक से सिद्ध हुए हैं। तथा समुद्र से मुक्त हुए अति अल्प हैं, उनसे संख्यात गुणे द्वीप से मोक्ष गए। यह सामान्य कथन हुआ, विशेष कथन की अपेक्षा लवण समुद्र से मोक्ष गए जीव अतिअल्प हैं, इनसे संख्यात गुणा कालोदधि-समुद्र सिद्ध है, इनसे संख्यात गुणे जम्बू द्वीप से, इनसे संख्यात गुणे घातकी खण्ड से और इनसे संख्यात गुणे पुष्करार्ध से सिद्ध हुए हैं।

काल की अपेक्षा निश्चयनय से जीव एक समय में ही सिद्ध होते हैं, अतः अल्पबहुत्व नहीं हैं। व्यवहारनय से उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीव अत्यंत अल्प हैं और अवसर्पिणी काल में उनसे कुछ अधिक हैं तथा जहाँ उत्पसर्पिणी-अवसर्पिणी का भेद नहीं है, ऐसे पांचों विदेह से सिद्ध होने वाले उनसे संख्यात गुणे हैं।

गति की अपेक्षा निश्चयनय से तो सिद्धगति में ही मुक्ति मिलती है और भूत प्रज्ञापन नय से मात्र मनुष्य गति से ही सिद्ध होते हैं। एकान्तर गति की अपेक्षा तिर्यंच गति से आकर मनुष्य होकर मोक्ष जाने वाले जीव अत्यंत अल्प हैं, मनुष्य गति से पुनः मनुष्य होकर मोक्ष जाने वाले उनसे संख्यात गुणे हैं, नरक गति से मनुष्य हुए उनसे संख्यात गुणे हैं और देवगति से मनुष्य हो कर मोक्ष जाने वाले तीनों गतियों की अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं।

लिंग की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय अर्थात् निश्चय नय से वेदरहित अवस्था से ही सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं हैं। भूत प्रज्ञापन अर्थात् व्यवहार नय से श्रेणी माड़ने की अपेक्षा नपुंसक वेद सिद्ध अति अल्प हैं, स्त्री वेद सिद्ध उनसे संख्यात गुणे और पुंवेद सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

दशम् अध्याय

तीर्थ की अपेक्षा तीर्थंकर पद धारी सिद्ध होने वाले तथा तीर्थंकरों के समक्ष ही सिद्ध होने वाले अति अल्प हैं और तीर्थंकरों के अभाव में सिद्ध होने वाले उनसे अधिक हैं।

चारित्र की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न नय/निश्चयनय/ या वर्तमान नय की अपेक्षा तो अल्प बहुत नहीं हैं, भूत प्रज्ञापन या भूतग्राही या व्यवहार नय की अपेक्षा भी अव्यवहित चारित्र सबके यथाख्यात ही होता है, अतः अल्पबहुत नहीं है। अंतर सहित चारित्र की अपेक्षा पाँचों चारित्र धारण करके मुक्त हुए अति अल्प हैं तथा चार चारित्र धारी मुक्त हुए उनके संख्यात गुणे हैं।

प्रत्येक बुद्ध सिद्ध अल्प हैं और बोधित बुद्ध सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

ज्ञान की अपेक्षा जितने सिद्ध होते हैं, वे केवलज्ञान प्राप्त करके ही होते हैं अतः निश्चय नय से अल्प बहुत नहीं हैं। भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा चार ज्ञान को प्राप्त कर सिद्ध होने वाले अति अल्प हैं और मति एवं श्रुत ज्ञान इन दो के बाद केवल ज्ञान प्राप्त सिद्ध उनसे संख्यात गुणे अधिक हैं।

अवगाहना की अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध अतिअल्प हैं और मध्यम अवगाहना वाले इनसे संख्यात गुणे अधिक हैं।

अन्तर की अपेक्षा बिना अन्तर से जाने वाले सिद्ध अति अल्प हैं और अन्तर से जाने वाले सिद्ध इनसे बहुत अधिक हैं।

संख्या की अपेक्षा एक साथ १०८ जीव मोक्ष जा सकते हैं। कम से कम एक जीवएक समय में मोक्ष जाता है। उसमें एक समय में १०८ जाने वाले अति अल्प हैं और तदनन्तर एक-एक संख्या कम करते-करते अंतिम एक तक मोक्ष जाने वाले जीवों की संख्या अधिक-अधिक है।

!! ------o------ !!

अंत में उर्ध्वलोक के मस्तक पर विराजमान अनंतानंत सिद्ध भगवंतों के पादमूल में उस परम सिद्ध अवस्था की प्राप्ति की प्रशस्त मंगल भावना के साथ अनंतवार नमोस्तु।

उर्ध्वलोक, पृथ्वीलोक और पाताल लोक में स्थित ८ करोड़ ५६ लाख ९७ हजार ४८१ अकृत्रिम जिन चैत्यालय और उनमें विराजमान ५०० धनुष उत्तुंग, रत्नमयी ९२५ करोड़ ५३ लाख २७ हजार ९४८ जिनबिम्बों के पवित्र चरण कमलों में अनादि से प्राप्त भवों में किए भाव प्रमाण नमोस्तु करते हुए अपनी सुलेखनी को यहीं विश्राम देते हैं।

!! ऊँ अर्हं नमः !!

अंतिम प्रशस्ति

वीर नि.सं.२५४६ विक्रम सं.२०७७ शाश्वत तीर्थराज सम्मेदशिखरजी चातुर्मास में आश्विन कृ.५ बुधवार दि. ७-१०-२०२० सर्वार्थ सिद्धि शुभ योग में श्रीमद आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र अपरनाम मोक्ष शास्त्र की "**सर्वसिद्धितंत्र**" नामक सरल सुबोध हिंदी टीका पूर्ण हुई।

आचार्य कुंदकुंद परम्परायां श्री आदिसागर आचार्य तस्य शिष्य महावीरकीर्ति आचार्य तस्य शिष्य विमल सागर आचार्य तस्य शिष्य विराग सागर आचार्य तस्य शिष्य अध्यात्म योगी श्रमणाचार्य विशुद्ध सागर आचार्या तस्य प्रथम शिष्यः **श्रमण मुनि मनोज्ञसागर लिखिता ।**

यह पवित्र ग्रंथ सर्व प्रणियों-भव्यात्माओं के लिए मंगलकारी हो।

।।शुभं भवतु सर्वेषाम्।।

ऊँ नमः सिद्धेभ्यः

---।।०...०।।---

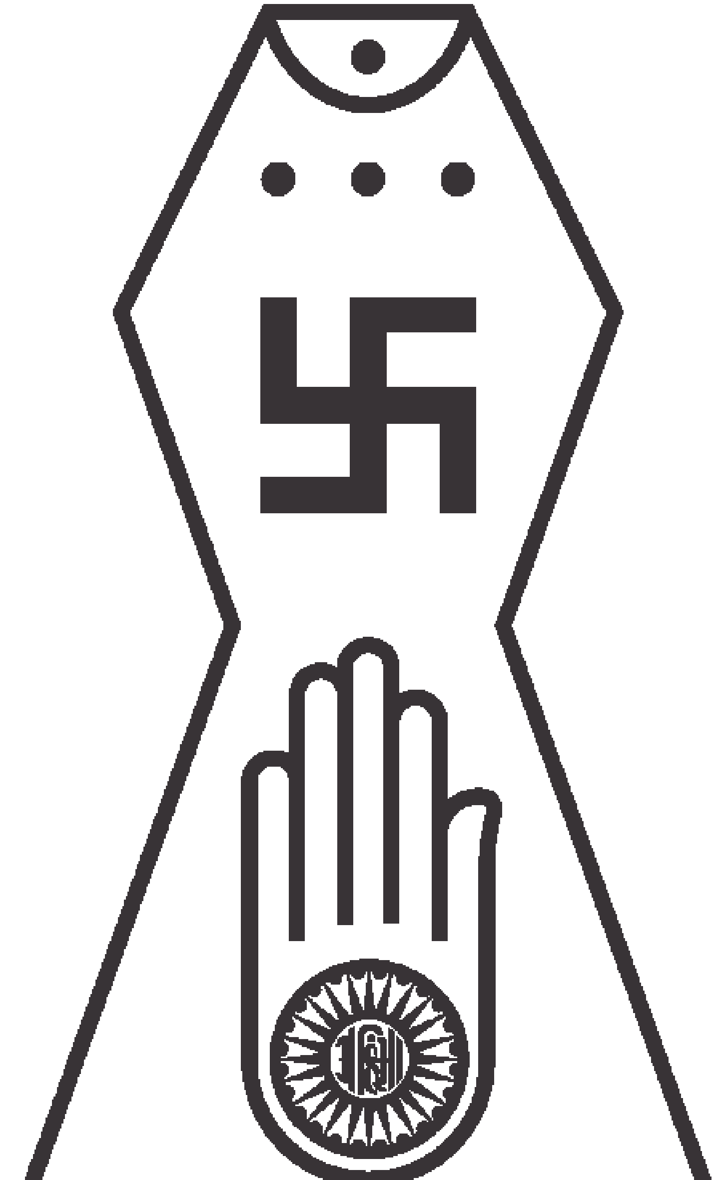

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

निर्वाण दीक्षा वनाम पंडितमरण

(जिनोपदेश-अंतिम उपदेश)

हे मनोज्ञ आत्मन्!

यदि उत्कृष्ट समाधिमरण (पंडितमरण) की दृष्टि से यह निर्वाण दीक्षा ली है, तो जिनोपदेश को गंभीरता से सुनने -समझने का कष्ट कीजिए। प्रथम शताब्दी के प्रथम उत्कृष्टतम् समाधि-ग्रंथ ''भगवती अराधना'' (२१६४ गाथाओं) के कर्ता पूज्य आचार्य भगवन् शिवकोटि स्वामी सम्यक् समाधि (पंडित मरण) की प्राप्ति के लिए हमें क्या करना है? संक्षिप्त में ११ बिंदुओं में यहाँ निर्देश करते हैं-

सिद्धे जयप्प सिद्धे चउव्विहाराहणा फलं पत्ते।

वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो।। १/ भगवती आराधना

(१) सर्वप्रथम समाधि में वाधक सम्यक्त्व के पाँच अतिचार कहते हैं-

(१) शंका करना- तत्त्वों में, जिनापदेश में, मोक्षमार्ग में

(२) कांक्षा- भोगों की, सुख- सामग्री की प्राप्ति की इच्छा रखना

(३) विचिकित्सा- संयमियों से ग्लानि करना, विद्वेष की भावना रखना। इसे जुगुप्सा भी कहा है।

(४) मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना और

(५) अनायतनों की सेवा करना, कराना।

इन दोषों से बुद्धिपूर्वक बचना होगा। -(गाथा ४३)

(२) अब सम्यग्दर्शन की विशुद्धि बढाने वाले गुण कहते हैं-

(१) उपगूहन (उपवृहण) (२) स्थितिकरण (३) वात्सल्य एवं (४) जिन शासन की प्रभावना। -(गाथा ४४)

ये चार गुण सम्यक्त्व की विशुद्धि बढाने वाले हैं। इन पर विशेष ध्यान देना होगा।

(३) आगे छोड़ने योग्य जो पाँच प्रकार की संक्लेश भावनाएँ है जिनसे देव दुर्गति होती है, उन्हें बताते हैं-

(१) कंदर्प भावना-कंदर्प देवगति (२) किल्विष भावना-किल्विष देवगति (३) अभियोग्य भावना-अभियोग्य देवगति (४) असुर भावना-असुर देव गति (५) सम्मोही भावना-सम्मोह देवगति। (गाथा १८१-१८६)

इनके कारणभूत जो आत्म- परिणाम हैं, इन्हें ही पाँच प्रकार की संक्लिष्ट भावना कही है। व (अध्याय ६, सूत्र २४ में संक्लेश (कुत्सित) भावना का वर्णन देख सकते हैं।)

रत्नत्रय से च्युत हुआ व्यक्ति इन दुष्ट भावनाओं को करके देवों में जो दुष्टगति है, उसे प्राप्त करता है। पश्चात् देव दुर्गति से च्युत होकर अन्तरहित संसार समुद्र में डूब जाता है, भ्रमण करता है।

उपरोक्त पाँचों भवनाओं का त्यागकर जो धीर-वीर यती छठीं भावना में प्रवृत्त होता है। जो ५ समितियों को पालता है, तीन गुप्तियों से शोभायमान है और सर्व परिग्रह की आसक्ति से रहित है, ऐसा यति ही छठीं भावना में प्रवृत्त होता है। (गाथा १८८)

(४) **छठीं भावना अर्थात् संक्लेशरहित भावना-** वह पाँच प्रकार की है-

१) तप भावना- निरंतर तप का अभ्यास करते रहना तप भावना है।

२) श्रुत भावना- ज्ञानाभ्यास स्वाध्याय करने की भावना श्रुत भावना है।

३) सत्त्व भावना- उपसर्गों और किसी के द्वारा पीड़ा देने या स्वयं होने पर भी दुःख सहन करके, निडर होकर संयम में दृढ़ रहना सत्त्व भावना है।

४) एकत्व भावना- कामभोगों में, संघ मे अथवा शरीर में आसक्ति नहीं करना। वैराग्य भावना के द्वारा सर्वोत्कृष्ट चारित्र को अपनाना-पालना।

५) धृतिबल भावना- धृति का अर्थ है धैर्य अर्थात् धैर्य का बल। दुःख आने पर कातर (दीन-दुःखी जैसा) नहीं होना। शूर-वीर योद्धा की तरह युद्ध भूमि अर्थात् समाधि साधना में उतरना । -(गाथा १८६-२०६)

(५) **अब जो पाँच प्रकार की शुद्धि और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त हुए हैं, वे ही निश्चय से परम समाधि को प्राप्त करते हैं,** यह बताते हैं-

१) आलोचना की शुद्धि- मायाचारी और झूठ से रहित होना। २) शय्या की शुद्धि एवं ३) संस्तर की शुद्धि अर्थात् उद्गम और एषणा दोषों से रहित होकर 'यह मेरा है' इस प्रकार परिग्रह में आसक्ति का भाव नहीं होना वसतिका, शय्या और संस्तर की शुद्धि है ४) यही परिग्रह की शुद्धि है। ५) भक्तपान की शुद्धि भी उपरोक्त प्रकार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से रहित कही है। ये शुद्धियाँ उत्कृष्ट समाधि के उपाय हैं। इन शुद्धियों का विशेष- विशेष ध्यान रखना होगा।

(६) **अब आगे- आर्यिकाओं एवं दुर्जनों की संगति से बचो** यह निर्देश करते हुए कहते हैं। हे साधुजनों! आपको प्रमाद रहित होकर आग और विष के तुल्य आर्याओं का संसर्ग छोड़ना चाहिए।

बृद्ध साधु, अनशन आदि तप में तत्पर, तपस्वी तथा बहुश्रुतधारी, ज्ञानी साधु एवं प्रमाण माने जाने वाला साधु भी आर्यिका के संसर्ग से लोकापवाद को प्राप्त होता है।

तब जो साधु तरूण है, बहुश्रुतधारी भी नहीं है और ना उत्कृष्ट तपस्वी है, न ही उत्कृष्ट चरित्रवाला है, वह साधु, स्त्रियों के संबंध में प्रमादी व उनका विश्वासी हो जाता है तथा ब्रह्मचर्य को पार नहीं लगा पाता अर्थात् ऐसा साधु आर्यिका का अनुगामी होकर अपनी आत्मा को वश नही कर पाता। जैसे- स्त्री के कारण रूद्र, पाराशर ऋषि, सात्यिकी आदि भ्रष्ट हुए।

गाथा (१०६४)

शकट नाम के मुनि जैनिका नाम की ब्राह्मणी से और कूपार मुनि वेश्या संगति से चरित्र भ्रष्ट हुए। और केवल आर्यिकाओं का संसर्ग ही त्याज्य नहीं है बल्कि स्त्री चाहे बाला हो, कन्या हो, तरूणी हो, बृद्धा हो तथा सुरूप अथवा कुरूप हो सभी स्त्रीवर्ग में जो प्रमादरहित होता है, उनका कभी विश्वास नहीं करता, वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन पर्यन्त पार लगा पाता है अर्थात् ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन कर पाता है। साधु का आर्या के साथ सहवास रहना ऐसा बंधन है, जिसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। चर्म के साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसकी समानता नहीं कर सकता। -(गाथा३३७-३३८)

(७) पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचारी इन पाँच प्राकर के कुमुनियों से तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल-जोल रखने से व्यक्ति उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है। यद्यपि उनकी संगति से वचन और काय से वह उनके जैसे आचरण में प्रवृत्ति न भी करें तथापि मन से पार्श्वस्थ तो हो

जाता है। गाथा १६४४ की टीका में इन कुमुनियों का स्वरूप कहा है। विस्तार से वहाँ देख सकते हैं। -(गाथा ३४३)

(८) आचेलक्य/अहिंसा महाव्रत/ अपरिग्रह महाव्रत की संयुक्त महता-

आचेलक्य का अर्थ सर्व परिग्रह का त्याग ही कहा है। केवल वस्त्र मात्र का त्याग करने से एवं शेष परिग्रह रखने से साधु नहीं होता। चेल शब्द परिग्रह का उपलक्षण है। अपरिग्रह के कथन करने वाले सूत्र इस बात के ज्ञापक हैं। इसके बिना अहिंसादि महाव्रत नहीं हो सकते। क्योंकि परिग्रही पुरूष की परिग्रह संज्ञा तीव्र होती है। वह दूसरे के दोषों को इधर-उधर कहता है। 'ईर्ष्या' और 'असूया' करता है। वह व्यक्ति उसको देता है, मुझे नहीं देता, ऐसा संकल्प (विचारना) ईर्ष्या करना है। दूसरे के पास अधिक ज्ञान अथवा धन आदि होने को सहन नहीं कर पाना असूया है। -(गाथा ११२०)

(९) <u>परिग्रह के दो भेद-</u>

१) अंतरंग परिग्रह १४- १) मिथ्यात्व २) स्त्री वेद ३) पुरूष वेद ४) नपुंसक वेद ५) हास्य ६) रति ७) अरति ८) शोक ९) भय १०) जुगुप्सा ११) क्रोध कषाय १२) मान कषाय १३) माया कषाय १४) लोभ कषाय।

बाह्य परिग्रह १०- १) क्षेत्र(खेत) २) मकान ३) धन अर्थात् रूपये एवं स्वर्ण आदि ४) धान्य अर्थात् गेहूँ, जौ आदि अन्न ५) कुप्य अर्थात् वस्त्र ६) भाण्ड अर्थात् हींग, मिर्च आदि रखने के वर्तन-भांडे ७) दुपद अर्थात् दास-दासी ८) चौपाये अर्थात् हाथी, घोड़ा, गाय, बैल आदि ९) यान- पालकी, विमान वर्तमान में मोटर गाड़ी आदि १०) शयन-आसन (पाटा, चटाई आदि)।

हे मुने! हे क्षपक! हे आराधक! तुम नव कोटि से अर्थात् कृत-कारित-अनुमोदना एवं मन-वचन-काय से समस्त अंतरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग करों। जैसे चावल का ऊपरका तुष (छिलका) दूर किए बिना उसका अन्तर्मल का शोधन करना शक्य नहीं है, वैसे ही जो साधु बाह्य परिग्रह रूपी मल (आडम्बर) से सहित है, उसका अभ्यंतर कर्मरूपी मल का शोधन करना किसी भी तरह शक्य नहीं है। -गाथा(१११११ से १११४)

परिग्रह के पुनः दो भेद-

(१) **अचित परिग्रह**- वस्त्र, मोबाईल, टी० बी०, लेपटॉप, पंखा-कूलर, मोटर, गाड़ी आदि-आदि परिग्रह के ग्रहण करने में द्रव्यादि की याचना करना ही पड़ती है, फिर उन्हें संभाल कर रखने में तथा चोरों से भयाक्रांत होकर चौबीसों घंटे परिणाम कलुषित होने से (दुर्लभता से प्राप्त हुई) विशुद्धि का पूर्णतः घात होता है। फिर उनका संस्कार करने में, सुधराने में, बाहर ले जाने में, बाँधने-खोलने, झाड़ने, फाड़ने, ढांकने, सुखाने, धोने, मर्दन करने आदि कार्यों से जीवों का निश्चय से घात होता ही है। जो नियम से पापास्रव का कारण है।

(११) **सचित परिग्रह**- दासी-दास, नौकर-ड्राइवर, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह हैं, ये अपने कार्यों से अन्य जीवों का घात करते हैं, स्वयं दुःखी होते हैं तथा जिनके आश्रय में रहते हैं, उन्हे भी दुःखी करते हैं। खेती कार्य, आरंभ-सारंभ के कार्य, कपड़े-वर्तन धोना, झाडू-पोंछा, गाड़ी-चलाना आदि तथा अन्य विभिन्न कार्यों में लगाने पर वे जो पाप रूप आचरण करते हैं, उसका भागी उनका स्वामी नियम से होता है, आचार्य भगवन् इस गाथा में ऐसा कहते हैं। -गाथा(११५३-११५६)

इन्द्रिय सुख की अभिलाषा ही कर्मबंध में निमित्त कारण होती है और शरीर का सुखाभिलाषी उसकी पूर्ति के लिए ही परिग्रह का संचय करता है, अतः मुमुक्ष को उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए। परिग्रह स्वाध्याय एवं ध्यान आदि तप कार्यों में सदैव विघ्न उत्पन्न करता है और इनके बिना संवर एवं निर्जरा होती नहीं। और संवर-निर्जरा के बिना मोक्ष मार्ग कभी बनता नहीं।

आचार्य भगवन् आगे कहते हैं कि जिसका चित्त परिग्रह में आसक्त है वह आगामी भवों में दरिद्र होता है और केवल पेट भरने मात्र को ही जीवन भर पालकी-रिक्शा ढोता है, तसला ढोता है तथा जूते बनाना-बेचना, टट्टी-पेशाब(शौचालय), नालियाँ आदि साफ करने का नीच कर्म करना पड़ता है। कर्म बंध का मूल कारण राग-द्वेष है और राग-द्वेष का निमित्त परिग्रह है। बाह्य द्रव्य को मन से स्वीकारना ही राग द्वेष का बीज (मूल) कारण है।

गाथा २६० से २६६ भी देखे। तथा (११५६ एवं ११८४)

(१०) निदान- तीन भेद हैं- १) प्रशस्त २) अप्रशस्त ३) भोग निदान।

(१) प्रशस्त निदान-'दुक्खक्खयं, कम्मक्ख्यं, समाधिमरणं च बोधिलाभो य' की भावना प्रशस्त निदान है।

(२) अप्रशस्त निदान- लोभ क्रोध कषाय आदि के वश होकर यदि कोई मरते समय किसी दूसरे को सताने, मारने का (बंध) अथवा बदला लेने का निदान भाव करता है तो वह अप्रशस्त निदान है। जैसे वशिष्ठ नाम के तापस ऋषि ने उग्रसेन को मारने का निदान किया था। इस निदान के फल से वह मरकर उग्रसेन का ही पुत्र कंस हुआ और निष्कारण ही पिता को जेल के सीकचों में बंदकर भीषण कष्ट दिए तथा राज्य पद वलात् छीन लिया। बाद में नारायण के द्वारा स्वयं भी मारा गया। -गाथा(१२१२)

(३) **भोग निदान**- देवों और मनुष्यों मे होने वाले भोगों की अभिलाषा करना, नारायण, चक्रवर्ती आदि पदों की अभिलाषा करना अप्रशस्त भोग निदान है।

जैसे व्यापारी लोभवश लाभ के लिए अपना माल बेच देता है, वैसे ही भोगों/पदों के लिए निदान करने वाला मुनि भोगों के निमित्त अपने दुर्लभ धर्म को बेचता है।

(११) हे मनोज्ञ! मोक्षमार्गी वह क्षपक परीषहों की वेदना से पीड़ित होने पर भी आर्त्त और रौद्र ध्यान नहीं करता। अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, परीषह (अथवा वेदनाजन्य) और निदान ये संक्षेप से कषाय सहित आर्त्तध्यान के ४ भेद हैं। -गाथा(१६९७)

तथा हिंसानंदी, मृषा (झूठ) नंदी, चौर्यानंदी एवं छः प्रकार के आरंभ (परिग्रह) को लेकर संक्षेप से कषाय सहित रौद्र ध्यान के भी चार भेद हैं। ये सुगति में विघ्न डालने वाले हैं। -गाथा(१६९९)

अतः संसार से भयभीत क्षपक धर्म और शुक्ल ध्यानों को ध्याता है और पंचेन्द्रिय के विषयों से मन व इन्द्रियों को हटाकर वीर्य परिणामों से अर्थात् अपनी शक्ति को न छिपाकर अपनी शुद्ध आत्मा में मन को लगाता है और एक विषय में मन को रोककर-

१) आज्ञा विचय २) अपाय विचय ३) विपाक विचय एवं ४) संस्थान विचय इन चार प्रकार के धर्म ध्यान को शून्य-शांत-एकांत स्थान पर स्थित होकर मस्तक, कण्ठ, हृदय अथवा अन्य स्थान में एकाग्र होकर ध्याता है, वह नियम से उत्कृष्ट समाधि मरण को प्राप्त करता है। -गाथा (१७०२-३)

इति अलम्

चिंतक/निवेदक/मुमुक्षु

दिगम्बर श्रमण मनोज्ञ सागर मुनि

तत्वार्थसूत्रम्

(श्री उमास्वामी आचार्य विरचितम्)

अनुष्टुप

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुण लब्धये।।

(स्नग्धरा)

त्रैकाल्यं द्रव्यं- षट्कं नवपदसहितं जीव षट्काय लेश्याः,
पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः ।
इतेतन्मोक्षमूलं- त्रिभुवन- महितैः- प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः, प्रत्येति
श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान यः स वै शुद्ध दृष्टिः।।१।।

सिद्धे जयप्प सिद्धे चउव्विहा राहणा फलं पत्ते।
वंदिता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो।।२।।
उज्जोवण मुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसण-णाण-चरित्तं तवाण माराहणा भणिया ।।३।।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्गः ।।१।।

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।२।।

तन्निसर्गदधिगमाद्वा ।।३।।

जीवाजीवास्रव- बंध- संवर- निर्जरा- मोक्षास्तत्त्वम् ।।४।।

नाम- स्थापना- द्रव्य -भावतसूतन्यासः ।।५।।

प्रमाण- नयैरधिगमः ।।६।।

निर्देश- स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति विधानताः ।।७।।

सत्‌संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च ।।८।।

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय केवलानिज्ञानम् ।।९।।

तत्प्रमाणे ।।१०।।

आद्ये परोक्षम् ।।११।।

प्रत्यक्षमन्यत् ।।१२।।

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थन्तरम् ।।१३।।

तदिन्द्रियानिन्द्रिय- निमित्तम् ।।१४।।

अवग्रहेहाऽवाय धारणाः ।।१५।।

बहुबहुविध क्षिप्रानिःसतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणाम् ।।१६।।

अर्थस्य ।।१७।।

व्यञ्जनस्यावग्रहः ।।१८।।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।।१९।।

श्रुतंमति पूर्वं द्वयनेक द्वादश भेदम्।।२०।।

भवप्रत्ययोऽवधिर्देव नारकाणाम्।।२१।।

क्षयोपशम निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।।२२।।

ऋजु विपुलमतिः मनपर्ययः।।२३।।

विशुद्धय्प्रतिपाताभ्याम् तद्विशेषः।।२४।।

विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधि मनःपर्ययोः।।२५।।

मति श्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्व सर्वपर्यायेषु।।२६।।

रूपिष्वधेः।।२७।।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्यः।।२८।।

सर्व द्रव्य पर्यायेषु केवलस्य।।२९।।

एकादीनिभाज्यानि युदपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः।।३०।।

मति श्रुतावधयो विपर्ययश्च ।।३१।।

सदसतोर विशेषाद्य दृच्छोपलब्धे रून्मत्तवत्।।३२।।

नैगम-संग्रह-व्यवहार-र्जुसूत्र-शब्द- समभिरूढ़ैवंभूता नयाः।।३३।।

।। इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

(द्वितीय-अध्याय)

औपशमिक क्षायिकौभावौ मिश्रश्चजीवस्य-स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च।।१।।

द्विनवाष्टा- दशैकविशति त्रिभेदा यथाक्रमम्।।२।।

सम्यक्त्व चारित्रे।।३।।

ज्ञानदर्शन- दान लाभभोगोपभोग वीर्याणि च ।।४।।

ज्ञानाऽज्ञानदर्शन लब्धयश्चतुस्त्रित्रि- पंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।।५।।

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्रैयेकैकै-कैक षड्भेदाः।।६।।

जीव-भव्याभव्यत्वानि च ।।७।।

उपयोगो लक्षणम्।।८।।

स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः।।९।।

संसारिणो मुक्ताश्च।।१०।।

समनस्काऽमनस्काः।।११।।

संसारिणस्त्रस-स्थावराः।।१२।।

पृथिव्यपतेजोवायु-वनस्पतयः स्थावराः।।१३।।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।।१४।।

पंचेन्द्रियाणि।।१५।।

द्विविधानि।।१६।।

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।।१७।।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।।१८।।

स्पर्शन रसन घ्राणचक्षुः श्रोत्राणि।।१६।।

स्पर्श रस-गंध वर्ण शब्दास्तदर्थाः।।२०।।

श्रुतमनिन्द्रियस्य।।२१।।

वनस्पत्यन्तानामेकम्।।२२।।

कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुस्यादीनामेकैकवृद्धानि।।२३।।

संज्ञिनः समनस्काः।।२४।।

विग्रहगतौ कर्मयोगः।।२५।।

अनुश्रेणी गतिः।।२६।।

अविग्रह जीवस्य ।।२७।।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः।।२८।।

एक समयाविग्रहा ।।२६।।

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।।३०।।

संमूर्च्छन गर्भोपपादा जन्म।।३१।।

सचित्तशीत संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।।३२।।

जरायुजाण्डज पोतानां गर्भः।।३३।।

देव नारकाणा मुपपादः।।३४।।

शेषाणाम् सम्मूर्च्छनम्।।३५।।

औदारिक वैक्रियिकाहाराक तैजस- कार्मणानि शरीराणि।।३६।।

परं परं सूक्ष्मम्।।३७।।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्।।३८।।

अन्नतगुणे परे।।३६।।

अप्रतिघाते।।४०।।

अनादिसम्बंधे च ।।४१।।

सर्वस्य।।४२।।

तदादीनि भाज्यानि युग पदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः।।४३।।

निरोपभोगमन्त्यम्।।४४।।

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम्।।४५।।

औपपादिकं वैक्रियकम्।।४६।।

लब्धिप्रत्ययं च।।४७।।

तैजसमपि।।४८।।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।।४९।।

नारक सम्मूर्च्छिनो नपुसंकानि।।५०।।

न देवाः।।५१।।

शेषास्त्रिवेदाः।।५२।।

औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।।५३।।

।। इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

(तृतीय-अध्याय)

रत्नशर्कराबालुका-पंक-धूम-तमोमहातमःप्रभाभूमयो-घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।।१।।

तासु त्रिंशत्पञ्चविशंति-पञ्चदश दश-त्रिपञ्चोनैकनरक शतसहस्राणि पञ्च चैव-यथाक्रमम्।।२।।

नारका नित्याशुभतर लेश्या परिणाम देह वेदना विक्रियाः।।३।।

परस्परोदीरित दुखाः।।४।।

संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।।५।।
तेष्वेक- त्रिसप्त- दश- सप्तदश- द्वाविशंति- त्रयस्त्रिंशतसागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः।।६।।
जम्बूद्वीप लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्रः।।७।।
द्विद्विर्विषकम्भोः पूर्व पूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः।।८।।
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्त्रर्विष्कम्भो जम्बूद्वीपः।।९।।
भरतहैमवत हरि- विदेह- रम्यक हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।।१०।।
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन- महाहिमवन्निषध नील-रूक्मि शिखरणे वर्षधर पर्वताः।।११।।
हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत हेममयाः।।१२।।
मणिविचित्र-पार्श्वा उपरिमूले च तुल्य विस्ताराः।।१३।।
पद्म महापद्म तिगिञ्छ केशरि महापुण्डरिक-पुण्डरिका ह्रदास्तेषा-मुपरि।।१४।।
प्रथमो योजन सहस्रायाम स्तर्द्धविषकम्भो ह्रदः।।१५।।
दशयोजनावगाहः।।१६।।
तन्मध्ये योजनं पुष्करम्।।१७।।
तद्द्विगुण द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।।१८।।
तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिक परिषत्काः।।१९।।
गंगा-सिधु-रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारी-नरकान्ता-सुवर्ण-रूप्यकूला-रक्ता-रक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः।।२०।।
द्वयार्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः।।२१।।
चतुर्दशनदी सहस्रपरिवृता गंगा-सिन्ध्वादयो नद्यः।।२३।।
भरतः षड्विशंति-पञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य।।२४।।
तद्द्विगुण द्विगुण विस्तारा वर्षधर वर्षा विदेहान्ताः।।२५।।

उत्तरा-दक्षिण तुल्याः।।२६।।

भरतैरावत योर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।।२७।।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।।२८।।

एक-द्वि-त्रि-पल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक दैवकुरवकाः।।२६।।

तथोत्तराः।।३०।।

विदेहेषु संख्येयकालाः।।३१।।

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।।३२।।

द्विर्धातकी खण्डे।।३३।।

पुष्करार्द्धे च ।।३४।।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः।।३५।।

आर्याम्लेच्छाश्च।।३६।।

भरतैरावत विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरूभ्यः।।३७।।

नृस्थिति परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते ।।३८।।

तिर्यग्योनिजानां च।।३६।।

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः।।३।।

(चतुर्थ अध्याय)

देवाश्चतुर्णिकायाः ।।१।।

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।।२।।

दशाष्ट-पञ्च द्वादश विकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ।।३।।

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्षलोकपालानीक प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्वि-षिकाश्चैकशः ।।४।।

त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्याव्यन्तर-ज्योतिष्काः ।।५।।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः।।६।।

काय-प्रवीचारा आ ऐशानात्।।७।।

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः ।।८।।

परेऽप्रवीचाराः।।९।।

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्नि वातः स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः।।१०।।

व्यन्तराः किन्नर किंपुरूष महोरग गंधर्व यक्ष राक्षस भूत पिशाचाः।।११।।

ज्योतिष्काः-सूर्या-चन्द्रमसौ-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च।।१२।।

मेरूप्रदक्षिणा-नित्यगतयो-नृलोके।।१३।।

तत्कृतः काल विभागः।।१४।।

बहिरवस्थिताः।।१५।।

वैमानिकाः।।१६।।

कल्पोपन्ना कल्पातीताश्च।।१७।।

उपर्युपरि।।१८।।

सौधर्मेशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानत-प्राणत-योरारणाच्युतयौर्नवसु-ग्रैवेयकेषु-विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजितेषु सर्वाथसिद्धौ च।।१९।।

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः।।२०।।

गति-शरीर-परिग्रहभिमानतो हीनाः।।२१।।

पीत -पदम-शुक्ललेश्या-द्वि-त्रि-शेषेषु।।२२।।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।।२३।।

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः।।२४।।

सारस्वतादित्यवह्न्यरूण-गर्दतोय-तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।।२५।।

विजयादिषु द्विचरमाः।।२६।।

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।।२७।।

स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीपशेषाणां-सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध-हीनमिताः।।२८।।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेअधिके ।।२९।।

सानतकुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ।।३०।।

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पंचदशभिरधिकानि तु ।।३१।।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन-नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ-च।।३२।।

अपरा पल्योपममधिकम् ।।३३।।

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ।।३४।।

नारकाणाम् च द्वितीयादिषु ।।३५।।

दशवर्ष-सहस्त्राणिप्रथमायाम् ।।३६।।

भवनेषु च ।।३७।।

व्यन्तराणाम् च ।।३८।।

परा पल्योपममधिकम् ।।३९।।

ज्योतिष्काणाम् च ।।४०।।

तदष्ट भागोऽपरा ।।४१।।

लौकान्तिकानामष्टौ-सागरोपमाणिसर्वेषाम्।।४२।।

।। इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

(पंचम-अध्याय)

अजीव काया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः ।।१।।

द्रव्याणि ।।२।।

जीवाश्च ।।३।।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।४।।

रूपिणः पुद्गलाः ।।५।।

आ आकाशादेक द्रव्याणि ।।६।।

निष्क्रियाणि च ।।७।।

असंख्येयाः प्रदेशा-धर्माधर्मैक जीवानाम्।।८।।

आकाशस्यानन्ताः ।।६।।

असंख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।१०।।

नाणोः ।।११।।

लोकाकाशेऽवगाहः ।।१२।।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।।१३।।

एक प्रदेशादिषुभाज्यः पुद्गलानाम् ।।१४।।

असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ।।१५।।

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।।१६।।

गति-स्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरूपकारः ।।१७।।

आकाशस्यावगाहः ।।१८।।

शरीर-वाङ्-मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ।।१६।।

सुख-दुःख-जीवित मरणोपग्रहाश्च ।।२०।।

परस्परोग्रहो जीवानाम् ।।२१।।

वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ।।२२।।

स्पर्श-रस-गंध-वर्णवन्तः पुद्गला ।।२३।।

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थानभेद तमश्छाया तपोद्योतवन्तश्च ।।२४।।

अणवः स्कन्धाश्च ।।२५।।

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ।।२६।।

भेदादणुः ।।२७।।

भेद संघाताभ्याम् चाक्षुषः ।।२८।।

सद्द्रव्य लक्षणम् ।।२९।।

उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् ।।३०।।

तदभावाव्ययं नित्यम् ।।३१।।

अर्पितानर्पित सिद्धेः ।।३२।।

स्निग्ध रूक्षत्वाद बन्धः ।।३३।।

न जघन्य गुणानाम् ।।३४।।

गुण-साम्ये सदृशानाम् ।।३५।।

द्व्यधिकादि-गुणानां तु ।।३६।।

बन्धोऽधिकौ पारिणामिकौ च ।।३७।।

गुण-पर्ययवद् द्रव्यम् ।।३८।।

कालश्च ।।३९।।

सोऽन्तसमयः ।।४०।।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।।४१।।

तदभावः परिणामः ।।४२।।

।। इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ।।५।।

(षष्ठम्-अध्याय)

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ।।१।।

स आस्त्रवः ।।२।।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।।३।।

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।।४।।

इद्रिय-कषायाव्रतक्रियाः पञ्च-चतुः पञ्च-पञ्चविशंतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः।।५।।

तीव्र-मंद-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।।६।।
अधिकरणं जीवाजीवाः ।।७।।
आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भ-योग कृत-कारितानुमत कषायविशेषै-स्त्रिस्त्रि-स्त्रिश चतुश्चैकशः ।।८।।
निर्वतना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वि त्रिभेदा परम् ।।९।।
तत्प्रदोषनिह्नव-मात्सर्यान्तराया सादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ।।१०।।
दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवना न्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य।।११।।
भूत-व्रत्यनुकम्पा दान-सराग-संयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।।१२।।
केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादौ दर्शनमोहस्य ।।१३।।
कषायोदयातीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।।१४।।
बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्याऽऽयुषः ।।१५।।
माया तैर्यग्योनस्य ।।१६।।
अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।।१७।।
स्वभाव-मार्दवं च ।।१८।।
निःशील व्रतत्वं च सर्वेषाम् ।।१९।।
सरागसंयम-संयमासंयमाकाम-निर्जरा बालतपांसि दैवस्य ।।२०।।
सम्यक्त्वं च ।।२१।।
योगवक्रता विसंवादन चाशुभस्य नाम्नः ।।२२।।
तदविपरीतं शुभस्य ।।२३।।
दशनिविशुद्धि-र्विनयसम्पन्नता-शील-व्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ-शक्ति -तस्त्याग-तपसी-साधुसमाधि वैयावृत्यकरण मर्हदाचार्य-बहुश्रुत प्रवचन-भक्तिरा -वश्यका-परिहाणि मार्गप्रभावना प्रवचन-वात्सलत्वमिति-तीर्थकरत्वस्य।।२४।।
परात्मनिंदा-प्रशंसे-सद्सदगुणोच्छादनोदभावने च नीचैर्ग्रोत्रस्य ।।२५।।

तद्विपर्ययो नीचै-र्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।।२६।।

विघ्नकरण मन्तरायस्य ।।२७।।

।।इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः।।६

(सप्तम्-अध्याय)

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो-विरतिर्व्रतम ।।१।।

देश-सर्वतोऽणुमहती।।२।।

तत्स्थैयार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।।३।।

वाङ्मनो-गुप्तीर्यादान-निक्षेपण-समित्यालोकितपान भोजनानि-पञ्च ।।४।।

क्रोध-लोभ-भीरूत्व-हास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषणं च पञ्च।।५।।

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्मा विसंवादाः पञ्च।।६।।

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीर संस्कार-त्यागा पञ्च ।।७।।

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषय-रागद्वेष-वर्जनानि पञ्च ।।८।।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य-दर्शनम् ।।९।।

दुःखमेव वा ।।१०।।

मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ।।११।।

जगत्काय स्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम् ।।१२।।

प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा ।।१३।।

असदभिधानमनतृम् ।।१४।।

अदत्तादानं स्तेयम् ।।१५।।

मैथुनमब्रह्म ।।१६।।

मूर्च्छा परिग्रहः ।।१७।।

निःशल्योव्रती ।।१८।।
अगार्यनगारश्च ।।१६।।
अणुव्रतोऽगारी ।।२०।।
दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासभोगपरिभोग-परिमाणातिथि संविभाग व्रतसम्पन्नश्च ।।२१।।
मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता ।।२२।।
शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवा-सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।।२३।।
व्रतशीलेषु पञ्च-पञ्च-यथाक्रमम् ।।२४।।
बंध-वधच्छेदातिभारा-रोपणान्नपान निरोधाः ।।२५।।
मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापाहार-साकारमंत्र भेदाः।।२६।।
स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरूद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपक-व्यवहा-राः ।।२७।।
परविवाहकरणेत्वरिका-परिगृहीताऽपरिगृहीता गमनानंगक्रीडा- कामतीव्राभि-निवेशाः ।।२८।।
क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्यप्रमाणतिक्रमाः ।।२६।।
उर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।
आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात पुद्गलक्षेपाः ।।३१।।
कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ।।३२।।
योग-दुष्प्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ।।३३।।
अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादान- संस्तरोपक्रमणानादर- स्मृत्यनुपस्थानानि।।३४।।
सचित्तसंबंध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहारा ।।३५।।
सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमाः ।।३६।।
जीवितमरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबंध निदानानि ।।३७।।

अनुग्रहार्थं-स्वास्यातिसर्गो दानम् ।।३८।।

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ।।३९।।

।।इति तत्त्वार्था धिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

(अष्टम्-अध्याय)

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगबंध हेतवः ।।१।।

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः ।।२।।

प्रकृति स्थित्यनुभव प्रदेशास्तदद्विधयः ।।३।।

आद्यो ज्ञानदर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम गोत्रान्तरायाः ।।४।।

पञ्च-नव-द्वयष्टाविशंति-चतुर्द्विचत्वारिंशद-द्वि-पंचभेदा यथाक्रमम् ।।५।।

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ।।६।।

चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च।।७।।

सद्सद्वेद्ये ।।८।।

दर्शन-चारित्र-मोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-नव-षोड़शभेदाः-सम्य-क्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौ-हास्य-रत्य-रति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुसंक-वेदा-अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलन विकल्पाश्चैकशः क्रोध मान माया लोभः ।।९।।

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ।।१०।।

गति-जाति-शरीरांगोपांग-निर्माण-बंधन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गंध-वर्णानुपूर्व्यागुरुलघुपघात-परघाता-तपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः-प्रत्येकशरीर त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि-तीर्थकरत्वं -च ।।११।।

उच्चैर्नीचैश्च ।।१२।।

दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणाम् ।।१३।।
आदितस्तिसृणा मन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्यः परा स्थितिः ।।१४।।
सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।१५।।
विंशतिर्नाम गोत्रयोः ।।१६।।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।।१७।।
अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ।।१८।।
नाम गोत्रयोरष्टौ ।।१६।।
शेषाणा मन्तर्मुहूर्ता ।।२०।।
विपाकोनुभवः ।।२१।।
सयथानाम ।।२२।।
ततश्च निर्जरा ।।२३।।
नाम-प्रत्ययाः सर्वतोयोग-विशेषात्-सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्ता-नन्तप्रदेशाः ।।२४।।
सद्वेद्यशुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम् ।।२५।।
अतोऽन्यत्पापम् ।।२६।।

।।इतितत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः।।८।।

(नवम्-अध्याय)

आस्रव-निरोधः संवरः ।।१।।
स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय चारित्रैः।।२।।
तपसा निर्जरा च ।।३।।
ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः।।५।।
उत्तमक्षमा-मार्जवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्-त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।६।।
अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्म-स्वाख्याततत्वानुचिन्तन-मनुप्रेक्षाः।।७।।
मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं-परिषोढव्याः परिषहाः ।।८।।

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध याचना-लाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ।।९।।

सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थ-वीतराग योगचतुर्दश ।।१०।।

एकादश जिने ।।११।।

बादर-साम्पराये सर्वे ।।१२।।

ज्ञानावरणे-प्रज्ञाज्ञाने ।।१३।।

दर्शनमोहान्तराय-योरदर्शनालाभौ ।।१४।।

चरित्रमोहे-नाग्न्यारति-स्त्री-निशद्याक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्कारः ।।१५।।

वेदनीये-शेषाः ।।१६।।

एकादयो-भाज्या-युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ।।१७।।

समायिक-च्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्।।१८।।

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ।।१९।।

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग ध्यानान्युतरम् ।।२०।।

नवचतुर्दश-पञ्च-द्विभेदा-यथाक्रमम् प्राग्ध्यानात् ।।२१।।

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः।।२२।।

ज्ञान-दर्शन चारित्रोपचाराः ।।२३।।

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधुमनोज्ञानम् ।।२४।।

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः ।।२५।।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।।२६।।

उत्तम-सहंननस्यैकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।।२७।।

आर्त्त-रौद्र-धर्म्यशुक्लानि ।।२८।।

परे मोक्षहेतु ।।२९।।

आर्तममनोज्ञस्य-सम्प्रयोगो-तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः ।।३०।।
विपरीतं मनोज्ञस्य ।।३१।।
वेदनायाश्च ।।३२।।
निदानं च ।।३३।।
तदविरत-देशविरत प्रमत्तसंयतानाम् ।।३४।।
हिंसानृत- स्तेय- विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत देश विरतयोंः ।।३५।।
आज्ञापाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम् ।।३६।।
शुक्लचाद्ये-पूर्वविदः ।।३७।।
परे केवलिनः ।।३८।।
पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युत्परत-क्रियानिवर्तीनि ।।३९।।
त्र्येकयोग-काययोगायोगानाम् ।।४०।।
एकाश्रये सवितर्क वीचारे पूर्वे ।।४१।।
अवीचारं द्वितीयम् ।।४२।।
वितर्कः श्रुतम् ।।४३।।
वीचारोऽर्थ-व्यंञ्जनयोग संक्राति ।।४४।।
सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोप-शान्तमोह-क्षपक-क्षीण मोह जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जराः ।।४५।।
पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नाताकः निर्ग्रन्थाः ।।४६।।
संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंग-लेश्योपपादस्थान-विकल्पतः साध्याः ।।४७।।

।।इतितत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ।।९।।

(दशम्-अध्याय)

मोहक्षयाज्ज्ञान दर्शनावरणान्तराय क्षयाच्चकेवलम् ।।१।।
बन्धंहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः ।।२।।
औपशमिकादि भव्यात्वानां च ।।३।।
अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ।।४।।
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ।।५।।

पूर्व प्रयोगाद-संगत्वाद्-बन्धच्छेदात् तथा गतिपरिणामच्च ।।६।।
आविद्धकुलाल चक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बु वदेरण्डबीज वदग्निशिखावच्च ।।७।।
धर्मास्तिकाया भावात् ।।८।।
क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्प बहुत्वतः साध्याः ।।६।।

।।इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः।।१०।।

अक्षरमात्र पद स्वरहीनं, व्यञ्जन संधि विवर्जित रेफम्।
साधुभिरत्रमम क्षमितव्यं, को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।।१।।
दशाध्याय परिच्छिन्नै तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्याद् उपवासस्य, भाषितं-मुनिपुङ्गवै।।२।।
तत्त्वार्थसूत्र-कर्त्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र संजातमुमास्वामि मुनीश्वरम्।।३।।
जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावई अजरामरं ठाणं।।४।।
तवयरणं वयधरणं संजमसरणं च जीव दया करणं।
अंते समाहिमरणं, चउविह दुक्खं णिवारेई।।५।।

।।इति तत्त्वार्थासूत्र अपरनाम मोक्षशास्त्रं समाप्तम्।।

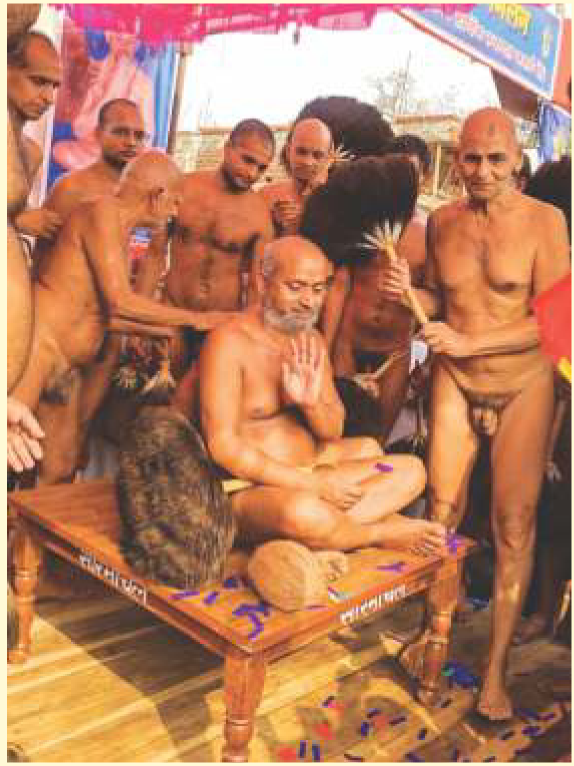

श्रमण मुनि मनोज्ञसागरजी एवं श्रमण मुनि विश्लोकेशसागरजी ससंघ का
पूज्य आचार्य विशुद्धसागरजी गुरुदेव से भावभीना मिलन / भव्य अगवानी
(शाश्वत तीर्थराज श्री शिखरजी सिद्धक्षेत्र, दिनांक 20.03.2021)

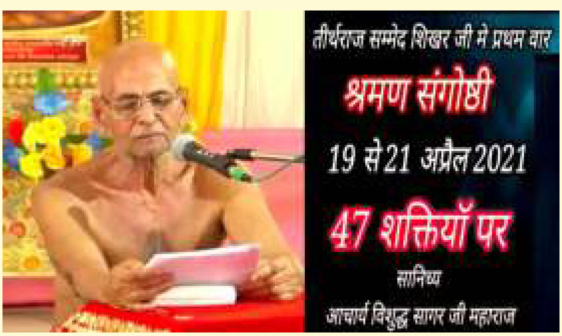

श्रमण संगोष्ठी में श्रमण मनोज्ञसागरजी
अपना आलेख वाचन करते हुए
(19.04.2021)

आचार्य विशुद्धसागर गुरुदेव
''सर्वसिद्धितंत्र'' ग्रंथ लेखक शिष्योत्तम
श्रमण मनोज्ञसागर जी को
मूलप्रति मंगल आशीर्वाद के साथ
प्रकाशन हेतु भेंट करते हुए
(6 मई 2021)

“जैसे एक बीज में एक वृक्ष विद्यमान हैं, वैसे ही एक आत्मा में महात्मा और परमात्मा विद्यमान हैं, परखने की दृष्टि चाहिए।”

“भैया! इस दुनिया में कोई किसी का हम दर्द नहीं। मुर्दे को भी श्मशान में ले जाकर अपने ही लोग पूँछते हैं, अभी और कितना वक्त लगेगा।”

यदि कोई आपको नजरअंदाज करता हैं, तो बुरा मत मानना, क्योंकि लोग अधिकतर हैसियत से बाहर की महँगी चीज को नजरअंदाज कर ही देते हैं।

“गल्ती स्वीकार करने में, अपराध छोडने में (प्रायश्चित्त लेने में) कभी देरी मत करना, क्योंकि दोषों, अपराधों का घूरा (गंदगी) का ढ़ेर जितना बढ़ता जाएगा, फिर उसका हटा पाना उतना ही दुःसाध्य हो जायेगा।”

अच्छे काम करते रहिए, चाहे लोग प्रशंसा करें या न करें, आधी से ज्यादा दुनिया सोती रहती है, सूरज फिर भी उगता है।

“जब गलती अपनी होती है, तो बहस करने में हमसे बड़ा कोई वकील नहीं होता और जब गलती दूसरों की होती हैं, तब उस समय उसे कहने में हमसे बडा कोई जज नहीं होता।”

तुम जीवन भर आपाधापी कर खूब कमाओ धन सम्पत्ति।
किन्तु याद रखना मित्र! कफन में कभी जेब नहीं होती।।

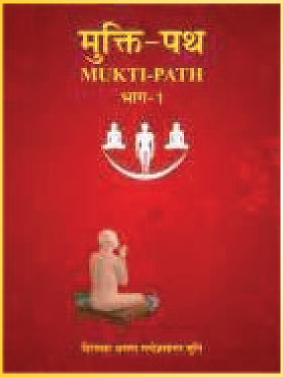

मुक्ति-पथ
MUKTI-PATH

भाग-1

भव रोग निवारण की
बहुचर्चित कृति

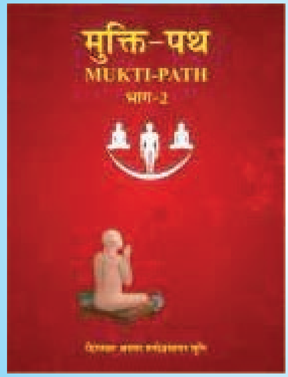

मुक्ति-पथ
MUKTI-PATH

भाग-2

भव रोग निवारण की
बहुचर्चित कृति

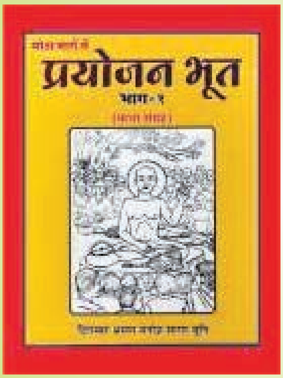

प्रयोजन भूत
भाग-१

(कथा संग्रह)

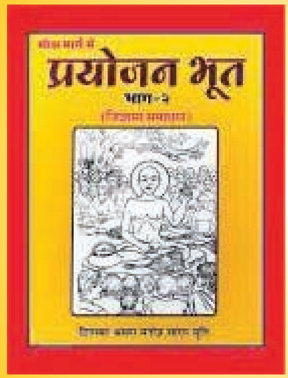

प्रयोजन भूत
भाग-२

(जिज्ञासा समाधान)

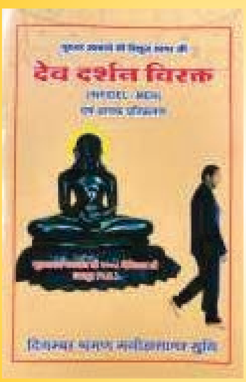

देव दर्शन विरक्त
धर्म से दूर
रहने वालों के लिए

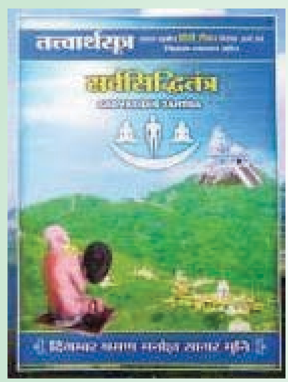

सर्वसिद्धितंत्र
SARVASIDHI TANTRA

हम कितने शाकाहारी???

जिनेन्द्र भक्ति-स्तोत्र संग्रह
(अर्थ-अन्वय सहित)

अप्रकाशित

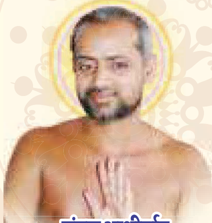
मंगल आशीर्वाद
प.पू. आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज

श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी के परम प्रभावक प्रथम शिष्य श्रमणमुनि श्री मनोज्ञसागर जी का संदेश

दिगम्बर श्रमण मुनि श्री मनोज्ञसागर जी महाराज

1. प्राचीन जिन मंदिरों/क्षेत्रों एवं पुरातत्व धरोहरों की रक्षा की जानी चाहिए।

2. लड़कियों को गृह नगर में ही पढ़ावें बाहर पढ़ने न भेजें, जॉब का भूत भी उनके दिमाग में ना डालें। पैसों से ज्यादा आवश्यक है जीवन में शांति। बाहर पढ़ने वाली 80 से 90 प्रतिशत लड़कियाँ वापस नहीं आती। वहीं घर बसा लेती हैं, वासनापूर्ति के उन्माद में किसी जात-कुजात के लड़के से शादी करके।

3. फास्ट फुड का उपयोग सनातन अहिंसक कहे जाने वाले जैन परिवारों में बिल्कुल बंद होना चाहिए। जिंक फुड-फास्ट फुड (बंद तैयार खाद्य सामग्री पूर्णत: मांसाहारी है, ई-नंबर (Emulsifier इमल्सीफायर) इसके साक्षात् प्रमाण हैं। क्योंकि अधिक समय तक उस खाद्य सामग्री को सुरक्षित रखने के लिए प्रिजरवेटिव (Preservative) डालना आवश्यक है और वे सभी मांसाहारी होते है (फास्ट-फूड खाने वाला नियम से नरक जाएगा)

4. पंथवाद ने समाज को बुरी तरह तोड़ दिया है, एक बड़ी खाई समाज में पैदा हो गई है, जबकि भगवान महावीर स्वामी ने अथवा अन्य किसी तीर्थंकर ने यह तथाकथित पंथवाद 13 पंथ, 20 पंथ, अथवा 16½ पंथ नहीं चलाया न ही किसी प्राचीन जैनागम में इसका प्रमाण मिलता है।

5. भारत वर्ष के पूज्य बड़े-बड़े आचार्यों व मुनिराजों से मेरा अति विनयपूर्वक निवेदन है कि वे इस पंथवाद-संतवाद को बढ़ावा न देवें इस पंथवाद से समाज का कल्याण नहीं होना, बल्कि कटुता बढ़ रही है।

दिगम्बर श्रमण

मनोज्ञ सागर मुनि

संक्षिप्त परिचय

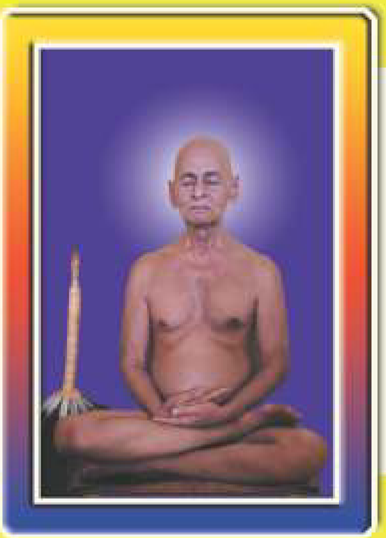

पूर्व नाम–	: ब्र. शीलचन्द्र जैन
पिता–	: श्री रामचरण जी (समाधिस्थ क्षु. सिद्ध सागरजी)
माता–	: स्मृतिशेष श्राविकारत्न शांतदेवी (सप्तम प्रतिमाधारी)
जन्म–	: 25 अक्टूबर 1948 टीकमगढ़ (म.प्र.)
लौकिक शिक्षा–	: एम. ए., बी. एड, आयुर्वेदरत्न (पूर्व शासकीय अधिकारी)
गृह त्याग–	: मई 2003 (ब्रह्मचर्य 8 नवम्बर 2003) मुनि विशुद्ध सागर जी से
गुरूसंघ में चातुर्मास–	: ललितपुर 2003), विदिशा 2004), अमरावती 2005)
क्षुल्लक दीक्षा–	: 13 फरवरी 2006 श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)
श्रमण दीक्षा–	: 29 नवम्बर 2007 इन्दौर (म.प्र.)
क्षु. एवं मुनिदीक्षा गुरू	: प.पू. श्रमणाचार्य विशुद्ध सागर जी
गुरू संघ में चातुर्मास–	: सोलापुर 2006), इन्दौर 2007), जबलपुर 2008), अशोक नगर 2009), उज्जैन 2010), सागर 2011), आगरा 2012), नागपुर 2013), भोपाल–2014), भीलवाडा 2015), श्री शिखरजी 2018), श्री शिखरजी 2021)
उपसंघ चातुर्मास–	: मेहगाँव 2016), झांसी 2017), श्री शिखरजी 2019) एवं 2020)
कृतियाँ–	: 1) **मुक्ति पथ**– भाग 1 (भवरोग निवारण की बहुचर्चित कृति) 2) **मुक्ति पथ**– भाग 2 (————————''————————) 3) देव दर्शन विरक्त (जिनधर्म से दूर रहने वालों के लिए) 4) मोक्षमार्ग में **प्रयोजन भूत**– भाग 1 (कथा संग्रह) 5) मोक्षमार्ग में **प्रयोजन भूत**– भाग 2 (आगमोक्त जिज्ञासा समाधान) 6) सर्वसिद्धि तंत्र (तत्त्वार्थसूत्र की सरल सुबोध हिंदी टीका) 7) जिनेन्द्र भक्ति–स्तोत्र, अर्थअन्वय सहित (प्रकाशाधीन)

ISBN : 978-81-909686-5-2